अभिराजराजेन्द्रविरचितम्

जानकीजीवनम्

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
पुस्तकालय
परिग्रहण सं. 23434
28.08.07
नई दिल्ली

जानकीजीवनम्

॥ एकविंशतिसर्गात्मकम् अभिनवप्रस्थानं महाकाव्यम् ॥

पुस्तकालय
23434
23.09.07
नई दिल्ली

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः
प्रयागविश्वविद्यालयीयसंस्कृतविभागे
प्रवाचकः

वैजयन्त प्रकाशन
इलाहाबाद

अभिराजराजेन्द्रविरचितम्
जानकीजीवनम्
एकविंशतिसर्गात्मकम्
अभिनवप्रस्थानं महाकाव्यम्

© प्रथम संस्करणम्

विजयदशमीपर्व १९८८ ई०

ग्रन्थमूल्यम्
पञ्चाशदुत्तरैकशतरुप्यकाणि

प्रकाशकः
वैजयन्तप्रकाशनम्
८, बाघम्बरीमार्गः, इलाहाबादम्

मुद्रणस्थानम्
शुभचिन्तकमुद्रणालयः
बस्की खुर्द, दारागञ्जः
इलाहाबादम्

JĀNAKĪJĪVANAM

A Mahākāvya consisting with twenty one cantos and having a new poetic tradition.

ABHIRAJA DR RAJENDRA MISHRA
Reader in Sanskrit
University of Allahabad

Vaijayanta Prakashana
Allahabad

JANAKIJIVANAM

Written by

Abhiraja Dr. Rajendra Mishra

8 Baghambari Road, Allahabad.

First Edition

Vijayadashami Festival

October 1988 A D

Price of the Book

Rs. 150/- only

Published by

Vajayant Prakashan

8 Baghambari Road, Allahabad.

Printed at

Shubhachintak Press

Baski Khurd Daraganj, Allahabad

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले !
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति !!

—वाल्मीकिरामायणम्

दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्रामायणोद्भवा ।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते !!

—स्कन्दपुराणम् (उत्तरखण्डम्)

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।

—आनन्दवर्धनाचार्यः

णिम्मल पुण्ण पवित्त कह कित्तणु आढप्पइ ।
जेण समाणिज्जन्तएण थिर कित्ति विढप्पइ !!

—स्वयम्भूदेवः (पउमचरिउ)

सदूषणाऽपि निर्दोषा सखराऽपि सुकोमला ।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा !!

— महाकविस्त्रिविक्रमभट्टः

स वः पुनातु वाल्मीकेः सूक्तामृतमहोदधिः ।
ओङ्कार इव वर्णानां कवीनां प्रथमो मुनिः ।।

—आचार्यक्षेमेन्द्रः

कवीन्दुं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणीं कथाम् ।
चन्द्रिकामिवचिन्वन्ति चकोरा इव साधवः ।।

—महाकविशार्ङ्गधरः

साक्षात् मन्मथशील सङ्रघुसुतामिनुहि विषयधर्मंरिङ्सरात्
ङ्कान्रामायण भद्रवाद निर मोघ मवङि रुमिसिप्तिके हति।
सङ् योगीश्वर शिष्ट सङ् सुजन शुद्ध मनहिर हुवुस् मचे सिर
व्यक्तावासुचपन्त रिङ् जुलुङदोमुक पिनकनिमित्त मिङ् लिपस् ।।

—योगीश्वर (रामायणककविन्) यवद्वीप, १०वीं शती ई० ।

सम्पूर्ण जगत् के प्रति अपना विषयधर्म (धार्मिक कर्तव्य) पूर्ण करने में रघुसुत श्रीराम का स्वभाव साक्षात् मन्मथ के समान है। इसलिये ईश्वर करे, भद्रवाद (उत्तम शब्दों) से संवलित यह रामकथा, उस सुरभि के समान बने—जो कि सत्पुरुषों के हृदय तक (धँस कर) पहुँच जाती है! इस कथा का पारायण कर श्रेष्ठ योगी जन (वेदज्ञान में) पारङ्गत होंगे तथा सज्जन शुद्ध-चित्त का वरण करेंगे। यदि यह कथा हतभाग्यों को भी सुनने को मिलती है तो निस्सन्देह वे भी इसे समझेंगे—चाहे पद-प्रतिष्ठा में वे ऊँचे हों अथवा सामान्य! अन्ततः इस कथा के श्रवणमात्र से वे मुक्तिसुख प्राप्त करेंगे!

आत्मकथ्य

जानकीजीवनम् की रचना मैने सन् १६७७ ई० के दिसम्बर मास में प्रारंभ की थी। उन दिनों मैं नियति की दुरभिसन्धि से आहत होकर, अपनी जिजीविषा को अक्षत सँजोए रखने का उपाय ढूंढ़ रहा था। किसी सहज अथवा प्रायोजित व्यस्तता में, वर्तमान का आत्मदाही क्लेश भुलाना चाहता था। तभी एक रात मेरी कल्पना की उँगलियाँ, माँ वैदेही की व्यथातंत्रियों पर जा पड़ीं और मुखर हो उठा एक बार पुनः विश्ववारा आर्ष-संस्कृति का वह शाश्वत गायन जिसके आरोह तथा अवरोह-क्रम में वाल्मीकि, कालिदास, कुमारदास, अभिनन्द, भट्टि, भास, भवभूति मुरारि, राजशेखर, भोज क्षेमेन्द्र एवं जयदेव-सरीखे कालजयी स्वर उभर चुके थे।

इससे भी पूर्व, मैं 'वामनावतरणम्' महाकाव्य के कतिपय सर्ग लिख कर लिलेखयिषा से विरत हो चुका था। परन्तु अबकी बार ऐसा नहीं हुआ क्योंकि अपने ही भावनालोक में प्रत्यग्र अनुभूत किसी क्रौञ्चवध के कारण मेरा भी 'शोक' श्लोकत्व को प्राप्त हो उठा था। फलतः एक ही दो महीनों में मैंने आधी रामकथा लिख डाली।

यद्यपि जानकीजीवनम् में पूर्वार्ध-उत्तरार्ध जैसा कोई विभाजन नहीं है। फिर भी सन् १६८३ ई० में वह आधी-अधूरी रामकथा इस लोभ से मैंने प्रकाशित की ताकि देश के लब्धप्रतिष्ठ सूरियों, विपश्चितों एवं काव्यमर्मज्ञों के समक्ष अपना सारस्वत-अध्यवसाय निवेदित कर--अपना गुण-दोष जान सकूं। उनसे आशीः प्राप्त होने का दृढ़ विश्वास तो चिरसंस्तुत, दुर्ललित मन में था ही !

हुआ भी वही ! देवी वैदेही के जन्म से लेकर, उनके वधू बन कर, अयोध्या के राजभवन में आने तक का वृत्त, जिन महामहिम विद्वानों को ग्रंथ-रूप में मैंने अर्पित किया उनमें से अधिसंख्य ने मुझे आशीः एवं ऊर्जा प्रदान की। फलतः अपनी किञ्चित्करता का सुखद बोध भी हुआ।

प्रकाशन-कार्य बीच में ही अवरुद्ध हो गया, क्योंकि जिस ऊष्मा में पिघलकर लौह द्रवीभूत हुआ था, वह कालप्रवाह के साथ विनष्ट हो चुकी थी और भावयित्री चिति का उद्रेक पुन: जड एवं कठोर हो उठा था। वर्ष पर वर्ष बीतते जा रहे थे, परन्तु माँ वैदेही, जाने क्यों अन्त:प्रेरित नहीं कर रही थीं और उस प्रेरणा के अभाव में मैं 'निर्गतिक मृल्लोष्ट' के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

इस बीच, मेरी अन्य अनेक कृतियाँ प्रकाश में आईं, पुरस्कृत एवं चर्चित हुईं। अनेक शोधार्थियों ने यथावसर उनकी समीक्षाएँ भी लिखीं। यावदुपलब्ध जानकीजीवनम् की भी विस्तृत समीक्षा यत्र-तत्र की गई, परन्तु अनेक आरोपित प्रयासों के बाद भी मैं विदेहनन्दिनी का चरित पूर्ण न कर सका। एक दो बार प्रयत्न भी किये—कथावृत्त, प्रणयनविधि, शब्द-अर्थ-छन्द, सब कुछ मेरे पास था। फिर भी दो-चार श्लोक से आगे न लिख सका और जो लिखा भी, वह अपनी ही दृष्टि में 'एकदम फूहड़' था।

काव्य-संसृति के अनेक सहृदय प्रजापतियों को आशा थी कि सम्पूर्ण महाकाव्य शीघ्र ही प्राप्त होगा! परमश्रद्धेय अग्रज डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी 'काश्यप' के समूचे पत्र को उद्धृत करने का मोह-संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

बन्धुवर डॉ०. राजेन्द्र जी!

आपके महाकाव्य जानकीजीवनम् के प्रथमभाग ने द्वितीय भाग के लिये अधीर कर रखा है चित्त को! डॉ० विद्यानिवास जी भी इसी प्रकार, इस उत्तम काव्य की आतुर प्रतीक्षा करते मिले। क्या द्वितीय भाग के मुद्रण-प्रकाशन में विलम्ब है? विलम्ब होना नहीं चाहिए।

शकुन्तला की बिदाई के बाद आपके ही इस काव्य में (अष्टम सर्ग) बिटिया की बिदाई का करुणवात्सल्य सुलभ हुआ। विदेहराज को इसी काव्य में देह मिला। बिटिया की बिदाई के बाद वे बड़े ही स्वाभाविक लग रहे हैं, जब उन्हें क्षण भर भी नींद नहीं आ पाती (८.७७)

'गौरवपदं, न किं धत्ते कन्या द्रुहिणरचनायामनुपमा' (८.८०) सूक्ति भारतीयता की प्रतिच्छवि है। अलमधिकेन!

संस्कृत में पद्यरचना बहुत हो रही है। उसमें काव्य प्रविरल है। आपका जानकीजीवनम् आरम्भ से ही कवित्वपूर्ण है। इससे चित्त को बड़ा ही आश्वासन मिला। कृपया इसे पूरा छपवा लें और एक जिल्द में सुलभ कराएँ।

आपका अध्यवसाय स्तुत्य है। रचना भी, प्रकाशन भी ! दोनों आपके ही द्वारा। कठिन है यह कार्य ! भगवान् आपको समर्थ बनाएँ और सफलता प्रदान करें।

भवदीय

रेवाप्रसाद द्विवेदी

२ जुलाई १९८४ ई०

वैदेही के जीवन का उत्तरार्ध उनके दो 'वनवासों' की पुटपाकप्रतीकाश व्यथाकथा है। कितना विचित्र संयोग है कि वनवासों की वह कथा, मैं स्वयं 'वन वासी' बन कर ही पूर्णकर सका, भारत की बजाय बालीद्वीप (इण्डोनेशिया) में। कभी कपियूथप विनत ने कपीन्द्र सुग्रीव का निर्देश पाकर, प्रशान्त महासागर की अतल जलराशि में प्लवमान इन रहस्यमय द्वीपों में देवी सीता का अन्वेषण किया था। तभी तो सुवर्णद्वीप (जावा; सुमात्रा, बाली आदि) चम्पा (वियतनाम) कम्बुज (कम्बोडिया) कटाह (केड्डाह, मलेशिया) तथा लवकुश (लाओस) आदि भूखण्ड आज भी 'सियाराममय' हैं !

बालीद्वीप की राजधानी डेनपसार में रहते हुए ही, अचानक माँ वैदेही अपना वृत्त लिखाने के लिए मुझ पर कृपालु हो उठीं और मैं एक विचित्र सारस्वत सम्मोहन में, निर्विघ्न, सब कुछ लिख गया।

बड़ी विनम्रता एवं ऋजुता के साथ यह पूरी कहानी मैंने बता दी ताकि विद्वज्जन प्रत्येक सर्गान्त में उपलब्ध **'सीताप्रमाणैः कृतम्'** की सच्चाई आँक सकें। इस आत्मव्याख्या में न 'सर्वङ्कषात्व' की ऐंठ है, न ही 'सञ्जीवनीत्व' का दम्भ ! इसे तो बस मेरा सहज 'जीवातु' ही समझें !

काव्यरचना के सन्दर्भ में देवकृपा का सौभाग्यलाभ होना कोई नई बात नहीं। परन्तु पुरखों की हवेली के खँडहर में, किसी धनकुबेर का गड़ी निधि पा जाना, देवकृपा की वैसी सार्थकता नहीं हैं जैसा कि किसी अकिञ्चन यायावर का राह चलते, मणिकाञ्चन से भरा कुम्भ पा जाना ! माँ वैदेही की कृपा की दुहाई मैंने इसलिये आद्यन्त दी है, क्योंकि उसके बिना मुझमें सामर्थ्य कहाँ थी यह सब लिखने की ! मुझे क्या मालूम कि अशोकवन में देवी वैदेही ने दशास्य को किन शब्दों में फटकारा था ? भरी सभा में लांछित करने वाले प्राणवल्लभ राघव को उन्होंने क्या उत्तर दिया था ?

यह वैदेही की ही प्रेरणा थी कि मैं नूतन-प्रस्थान की चर्चा करूँ ! स्थापना का दम्भ मैं नहीं भरता । फिर, राघव द्वारा सीता को निर्वासित किये जाने की घटना पर मेरी आस्था नहीं है । मैं यह नहीं कहता कि सचमुच यह घटना घटी थी अथवा नहीं ? परन्तु यह अवश्य मानता हूँ कि रामकथा के आदि स्रष्टा प्राचेतस वाल्मीकि ने न तो सीतानिर्वासन को स्वीकार किया था और न ही लिखा था । महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत रामायण अयोध्या-वर्णन से प्रारम्भ होता है तथा युद्धकाण्ड की फलश्रुति से समाप्त हो जाता है । सारे विवादास्पद प्रसंग (सीतानिर्वासन, शम्बूकवध आदि) रामकथा की इस परिधि से बाहर ही हैं ।

मर्यादा पुरुषोत्तम दशरथनन्दन राम एवं योगेश्वर कृष्ण —रामायण एवं महाभारत (श्रीमद्भागवत) कथा के मेरुदण्ड रहे हैं । इन व्यक्तित्वों ने सामान्य जनता को भी पिण्ड में ब्रह्माण्ड का, सगुण में निर्गुण का अथवा मनुष्यत्व में ईश्वरत्व का बोध कराया ! परन्तु वेद एवं ईश्वर-विरोधी धर्म-सम्प्रदायों (सौगत एवं जैन) को सम्भवतः ये व्यक्तित्व उस रूप में (नारायण) प्रिय नहीं लगे । फलतः विद्वेष की मनोवृत्तिमें, इन उदात्त चरित्रों को जनसामान्य की दृष्टि में 'प्राकृत' सिद्ध करने की परम्परा प्रारम्भ की गई । दशरथजातक में राम-सीता को भाई-बहन निरूपित करते हुए भी, उन्हें अन्ततः पति-पत्नी के रूप में प्रस्तुत किया गया तो स्वयम्भू-प्रणीत 'पउमचरिउ' में लक्ष्मण को राम की तुलना में कहीं अधिक तेजस्वी, इन्द्रियनिग्रही एवं शक्तिशाली प्रस्तुत किया गया । आनन्द-रामायणकार ने पूरे एक काण्ड(विलास-काण्ड) में राम एवं उनकी असंख्य प्रियतमाओं के भोग-विलास का अमर्यादित चित्रण किया !

भारतवर्ष में साम्प्रदायिक ईर्ष्या-द्वेष से जनमी रामकथा की यही विकृति-परम्परा वृहत्तर भारत के भूखण्डों में भी धीरे-धीरे व्याप्त हो उठी जिसके सुस्पष्ट प्रमाण हमें रामकेत्ति (कम्बोडिया) रामकियेन (थाईलैण्ड) फान्नाक —फालाम (लाओस) सिरत काण्ड (जावा) तथा हिकायत महाराज रावण (मलय) में आज भी मिलते हैं ।

गौतम बुद्ध के अनन्तर पूरे एक सहस्र वर्ष तक (गुप्तकाल के उदय तक) उत्तरी भारत में बौद्ध एवं जैन धर्मों का वर्चस्व स्थापित रहा । परम्परा बदलने अथवा विकृत करने के लिये तो पचास वर्ष ही बहुत होते हैं । एक सहस्र वर्ष में तो सारी संस्कृति ही बदली जा सकती है । और हुआ भी यही ! गर्भभारमंथर, सती-साध्वी, अग्निपरीक्षिता देवी वैदेही को, क्रूर हृदयहीन, दम्भी राम द्वारा निर्वासित

कराकर बड़ी सहजता एवं सरलता से उनकी दिव्य छवि धूमिल कर दी गई। कोटि-कोटि जनता की भुक्ति-मुक्ति के स्रोत महाविष्णु राम, इस निर्मम एवं ओछे व्यवहार के कारण, हीनभावना से संग्रस्त एक प्राकृत मानवमात्र सिद्ध हो गये। जिन रचनाकारों ने थोड़ी नरमी बरती, उन्होंने राम एवं कृष्ण को निष्ठावान् जैनी मान लिया। रविषेण, स्वयम्भू तथा जैनमतावलम्बी दूतकाव्यकार इसके प्रमाण हैं!

यद्यपि महाकवि भवभूति ने सीता-निर्वासन के सन्दर्भ में लोकाराधन (प्रजानुरञ्जन) को प्रतिष्ठित कर तथा सीतावियोगी राघव की पुटपाकप्रतीकाश अन्तर्व्यथा का पदे-पदे निरूपण कर, रामभद्र के चरित्र को उदात्त आदर्श के साँचे में ढालने का पूर्ण यत्न किया और सफल भी रहे। परन्तु रामायण के उत्तरकाण्ड में जो सन्दर्भ निरूपित है उसमें 'लोकाराधन' की गन्ध तक नहीं है। वहाँ तो सीता-परित्याग के मूल में मात्र एक वस्तु है—लोकापवाद का भय!

पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च।
वर्तते मयि बीभत्सा सा मे मर्माणि कृन्तति॥
अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभ!
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्॥

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ४५

यहाँ भवभूति तथा रामायणकार (?) को दृष्टियों का अन्तर सुस्पष्ट हो जाता है। वाल्मीकि के राम 'अपवादभयाद्भीत', हैं, जो कि उनके दैवी व्यक्तित्व का मानवीय दुर्गुणमात्र है, एक निषेधात्मक प्रवृत्ति (negative tendancy) है। परन्तु भवभूति के राम लोकाराधन के लिये प्रतिश्रुत एक आदर्श जननायक हैं—

स्नेहं दयाञ्च सौख्यञ्च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

इस दृढ़ संकल्प में, रामभद्र के मानवीय व्यक्तित्व का देवोचित सद्गुण रूपायित हुआ है।

देवी वैदेही को गंगापार छोड़ आने का प्रस्ताव कुमार लक्ष्मण को मृत्यु से भी अधिक कष्टकर प्रतीत होता है—

श्रेयो हि मरणं मेऽद्य मृत्युर्वा यत्परं भवेत्।
न चास्मिन्नीदृशे कार्ये नियोज्यो लोकनिन्दिते॥

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ४७

देवी सीता के प्रति पुरवासियों का यह व्यवहार लक्ष्मण को 'नृशंस' (निर्दयतापूर्ण) प्रतीत होता है और उन मूर्खों की अन्यायपूर्ण बात को महत्त्व देकर, निर्दोष पत्नी को त्याग देने वाले राम भी उन्हें 'अधर्मी' ही प्रतीत होने लगते हैं—

ततो दुःखतरं भूयः सीताया विप्रवासनम् ।
पौराणां वचनं श्रुत्वा नृशंसं प्रतिभाति मे ।।
को नु धर्माश्रयः सूतः कर्मण्यस्मिन्यशोहरे ।
मैथिलीं समनुप्राप्तः पौरैर्हीनार्थवादिभिः ।।

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ५०

लंका में हुई वैदेही की अग्निपरीक्षा के साक्षी देवता, राक्षस, मनुष्य, वानर—सभी थे। स्वयं प्रजापति ब्रह्मा ने राम को सान्त्वना दी थी[1]। अग्निदेव स्वयं सीता को गोदमें लेकर प्रकट हुए थे[2] तथा देवराज इन्द्र ने स्वयं सीता को राम के हाथों मे अर्पित किया था—

एवं शुद्धसमाचारा देवगन्धर्वसन्निधौ ।
लंकाद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेशिता ।।

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ४५

त्रिकालदर्शी महर्षि वाल्मीकि भी वैदेही को सर्वथा निष्पाप ही मानते हैं—

अपापां वेद्मि सीते ते तपोलब्धेन चक्षुषा ।
विस्रब्धा भव वैदेहि साम्प्रतं मयि वर्तसे ।।

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ४९

---

१. कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।
उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने !!
अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यसे च परंतप ।
उपेक्षसे च वैदेहीं मानुषः प्राकृतो यथा ।।

—युद्धकाण्ड, सर्ग ११७

२. अब्रवीत्तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः ।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ।।
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ।
न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते ।।

—युद्धकाण्ड, सर्ग ११८

यह है रामायण के उत्तरकाण्ड में निरूपित सीतानिर्वासन की कथा ! इस पूरे सन्दर्भ में दो प्रमुख तथ्य हैं। एक तो यह कि देवी सीता की अग्निपरीक्षा के समस्त साक्षी (ब्रह्मा, शिव, अग्नि, इन्द्र, लोकपाल-गण, महाराज दशरथ, कपियूथप, विभीषण, हनूमान्, जाम्बवान् तथा कुमार लक्ष्मण आदि) स्वयं राघव (तथा सीता) एवं महर्षि वाल्मीकि देवी सीता को सर्वथा निष्पाप तथा शुद्ध-चारित्र्यवती स्वीकार करते हैं !

दूसरा तथ्य यह है कि रावण के घर में अवस्थित सीता को ग्रहण करने के कारण, लोक द्वारा राम जितने निन्दित हैं,[१] उससे भी कहीं अधिक निन्दित हैं लोक (समाज) जो निष्पाप वैदेही को लांछित कर रहा है।[२]

यदि उत्तरकाण्ड महर्षि वाल्मीकि की ही रचना है तो इस समस्या का समाधान मिलना ही चाहिये कि 'निन्दित-लोक' तथा 'निन्दित-वैदेही' के बीच कौन वास्तविक अपराधी था ? वास्तविक अपराधी को ही दण्ड मिलना चाहिये ! यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि वाल्मीकि रामायण में लोक अथवा समाज[३] को ही सीता का चरित्रनिन्दक बताया गया है, किसी विशिष्ट व्यक्ति (रजक) को नहीं !

रजकनिन्दा का सन्दर्भ हमें भागवत पुराण, पद्मपुराण तथा कथासरित्सागर आदि में मिलता है। यह भी कम आश्चर्यजनक तथ्य नहीं है कि महर्षि व्यास द्वास द्वारा ही प्रणीत अनेक पुराणों (हरिवंश, वायु, विष्णु तथा नृसिंह पुराण) एवं महाभारत में उल्लेख तक न होने के बावजूद भी यह प्रसंग पद्म तथा श्रीमद्भागवत में कब और कैसे आ गया ?

---

१. कीदृशं हृदये तस्य सीतासम्भोगजं सुखम्।
अङ्कमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम्॥
लंकामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम्।
रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न कुत्स्यति॥

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ४३

२. नृशंसं प्रतिभाति मे (५०.७) कर्मण्यस्मिन् यशोहरे, पौरैर्हीनार्थवादिभिः (५०.७)—उत्तरकाण्ड।

३. शृणु राजन् यथा पौराः कथयन्ति शुभाशुभम्।
चत्वरापणरथ्यासु वनेषूपवनेषु च॥

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ४३

वस्तुतः इसी समस्या ने मुझे जानकीजीवनम् के प्रणयन की प्रेरणा दी क्योंकि मेरी दृष्टि में 'निन्दित-लोक' ही अपराधी था, फलतः उसी को दण्डित भी होना चाहिये।

यह तो हुई पूर्वपक्ष की बात। परन्तु सत्य तो यह है कि उत्तरकाण्ड महर्षि वाल्मीकि की रचना हो ही नहीं सकती। इस सन्दर्भ में मैं अपना मन्तव्य विद्वानों के समक्ष रख रहा हूँ—

(क) वाल्मीकि ने जो रामायण लिखी, उसका दूसरा नाम 'पौलस्त्यवध' भी था। शीर्षक ही बताता है कि काव्य की समाप्ति रावण के वध के साथ होनी थी। ऐसा हुआ भी! युद्धकाण्ड के अन्त में प्राप्त 'फलश्रुति' इसका प्रबल प्रमाण है[1]। पूरे ग्रन्थ में कहीं भी, रामायण में सात काण्ड होने का उल्लेख नहीं मिलता है। मात्र छ काण्डों की गणना करके उत्तरकाण्ड को परिशिष्टरूप में जोड़ दिया गया है। सम्भवतः सम्पूर्ण रामायण के ही समान प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये, उत्तरकाण्ड का भी कर्तृत्व महर्षि वाल्मीकि पर आरोपित कर दिया गया—

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम्॥
कृत्वा तु तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम्।
....

—बालकाण्ड, सर्ग ४

आदिप्रभृति वै राजन् पञ्चसर्गशतानि च।
काण्डानि षट् कृतानीह सोत्तराणि महात्मना॥
कृतानि गुरुणाऽस्माकमृषिणा प्रेरितं तव।

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ९४

(ख) सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड तथा बालकाण्ड के प्रथम चार सर्ग, कथ्य तथ्य की दृष्टि से भी परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं। रामायणगान के चार सन्दर्भ इन अंशों में मिलते हैं जिनमें परस्पर विरोधी विवरण दिये गये हैं—

---

१. शृणोति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
श्रद्दधानो जितक्रोधो दुर्गाण्यतितरत्यसौ॥

—युद्धकाण्ड, सर्ग १२८

१—मथुरा से १२ वर्ष बाद अयोध्या लौटते हुए शत्रुघ्न द्वारा वाल्मीकि—आश्रम में, लव-कुश से रामायणगान सुनना[1]।

२—महर्षियों की मण्डली के बीच लव-कुश द्वारा रामायणगान तथा उनसे अनेक उपहारों तथा आशीष् की प्राप्ति।[2] सम्भवतः यह गायन भी वाल्मीकि-आश्रम में ही हुआ।

३—अयोध्या की गलियों में लवकुश द्वारा रामायण-गान तथा राम के आग्रह पर राजदरबार में उसका विधिवत् पारायण। इसी क्रम में रामायण-गान प्रारंभ से युद्धकाण्ड तक अनवरत प्रस्तुत किया गया[3]।

४—नैमिषारण्य में, श्रीराम के अश्वमेध-यज्ञ के अवसर पर लव-कुश द्वारा रामायणगान, जिसमें गायकों को सीता की सन्तति जान कर, राम ने सीता को पुनः अपनी चरित्रशुद्धि का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित किया[4]।

---

१. स भुक्तवान् नरश्रेष्ठो गीतमाधुर्यमुत्तमम्।
शुश्राव रामचरितं तस्मिन् काले यथाक्रमम्॥ १—उ० का० सर्ग ७१

२. तौ कदाचित्समेतानामृषीणां भावितात्मनाम्।
मध्येसभं समीपस्थाविदं काव्यमगायताम्॥
तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे बाष्पपर्याकुलेक्षणाः॥ —बा० का० सर्ग ४

३. प्रशस्यमानौ सर्वत्र कदाचित्तत्र गायकौ।
रथ्यासु राजमार्गेषु ददर्श भरताग्रजः॥
स्ववेश्म चानीय ततो भ्रातरौ स कुशीलवौ।
उवाच लक्ष्मणं रामः शत्रुघ्नं भरतं तथा॥ —बा० का० सर्ग ४
श्रूयतामेतदाख्यानमनयोर्देववर्चसोः
विचित्रार्थपदं सम्यग्गायकौ समचोदयत्॥

४. वर्तमाने तथाभूते यज्ञे च परमाद्भुते।
सशिष्य आजगामाशु वाल्मीकिर्भगवानृषिः॥
स शिष्यावब्रवीद्धृष्टौ युवां गत्वा समाहितौ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परया मुदा॥

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ९४

रामायण के चारों गायनों का यही क्रम बनता है। प्रथम बार मथुरा प्रस्थान करते समय भी शत्रुघ्न वाल्मीकि-आश्रम में ही रुके थे। उनके विश्राम की अवधि में ही, सीता ने अर्धरात्रि में जुड़वे पुत्रों को जन्म दिया था। यह समाचार जान कर, शत्रुघ्न ने देवी सीता का अभिनन्दन भी किया था—

यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां समाविशत्।
तामेव रात्रिं सीताऽपि प्रसूता दारकद्वयम्॥
अर्धरात्रे तु शत्रुघ्नः शुश्राव सुमहत् प्रियम्।
पर्णशालां ततो गत्वा मातर्दिष्ट्येति चाब्रवीत्॥

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ६६

जिन सीतापुत्रों का जन्म शत्रुघ्न की उपस्थिति में हुआ और जिन बच्चों से ही १२ वर्ष बाद उन्होंने पुनः वाल्मीकि-आश्रम में रामायणगान सुना—क्या उनके विषय में उन्होंने श्रीराम को कुछ बताया न होगा ? और यदि बताया था तो फिर अश्वमेध-यज्ञ में राम के यह पूछने का औचित्य क्या है कि—

किं प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुङ्गवः॥

लव-कुश के विषय में शत्रुघ्न का सब कुछ जानना और श्रीराम का उन्हें मुनिकुमार मात्र समझते रहना—एक विचित्र विसंगति को जन्म देता है जो कि रामायणकार की लेखनशैली के सर्वथा विपरीत है। वस्तुतः बालकाण्ड के प्रथम चार सर्गों तथा पूरे उत्तरकाण्ड का प्रतिपाद्य अत्यन्त अटपटा, अन्तर्विरोधों एवं भिन्न पुनरुक्तियों से युक्त है। उदाहरणार्थ मूल रामकथा में अग्निदेव द्वारा सीता को समर्पित किये जाने का वर्णन है; परन्तु उत्तरकाण्ड में देवराज इन्द्र द्वारा ! यदि उत्तरकाण्ड भी वाल्मीकि की ही रचना है तो फिर एक ही सत्य के दो रूप कैसे ?

विधूयाथ चितां तां तु वैदेहीं हव्यवाहनः।
उत्तस्थौ मूर्तिमानाशु गृहीत्वा जनकात्मजाम्॥
अक्लिष्टमाल्याभरणां तथारूपामनिन्दिताम्।
ददौ रामाय वैदेहीमङ्के कृत्वा विभावसुः॥

—युद्धकाण्ड, सर्ग ११८

एवं शुद्धसमाचारा देवगन्धर्वसन्निधौ ।
लंकाद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेशिता ।।

—उत्तरकाण्ड, सर्ग ४५

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि-प्रणीत 'पौलस्त्यवध' अथवा रामायण काव्य वर्तमान बालकाण्ड के पाँचवें सर्ग से प्रारम्भ होकर युद्धकाण्ड की समाप्ति तक ही सीमित था। निश्चय ही उत्तरकाण्ड के विशृंखलित, मूलकथा से असम्बद्ध तथा अन्तर्विरोधी अंश अवान्तर काल में किसी व्यक्ति द्वारा जोड़े गये। जोड़ने का यह प्रयास, तथ्यों की अदला-बदली तथा बचकाने संवादों आदि से स्पष्ट हो जाता है।

उत्तरकाण्ड के वाल्मीकिकृत न सिद्ध होने पर 'सीतानिर्वासन-प्रकरण' का कर्तृत्व उन पर नहीं थोपा जा सकता। कुछ अन्य बातें भी विचारणीय हैं—

१—यदि सीतानिर्वासन सचमुच हुआ था तो फिर लंका में हुई अग्निपरीक्षा की सार्थकता क्या हुई ? ब्रह्मा द्वारा राम के महाविष्णुत्व का प्रतिपादन, अग्नि द्वारा स्वयं सीता का समर्पण तथा महाराज दशरथ द्वारा उनका अभिनन्दन—ये सारी दिव्य घटनाएँ संगत कैसे होंगी ?

२—क्या अयोध्या की प्रजा देवसमाज से भी महत्तर थी ! क्या प्रजावर्ग में त्रिकालदर्शी, धर्मनियामक कुलगुरु वसिष्ठ एवं लाखों विद्वान्, पण्डित, श्रेष्ठी, सामन्त, अमात्य एवं प्रवुद्ध नागरिक नहीं थे ! क्या सब के सब देवी सीता को 'असती' ही समझते थे ?

३—महर्षि वाल्मीकि ने कटुसत्य को भी लिखने में संकोच नहीं किया है। वह विस्तारवादी हैं। प्रत्येक विवरण को सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तों के साथ उपन्यस्त करते हैं। तुलसी के भरत भले ही एक चौपाई में केकय से चल कर दूसरी चौपाई में अयोध्या आ जाँय। परन्तु वाल्मीकि के भरत मार्ग में सात रातें बिताकर ही अयोध्या आते हैं। पूरी यात्रा का राई-रत्ती विवरण उपलब्ध है रामायण में !

इस दृष्टि से भी उत्तरकाण्ड का सीतानिर्वासन-प्रसंग वाल्मीकि की कविदृष्टि एवं प्रतिपादन-शैली के सर्वथा विरुद्ध है। उस युग की दारुणतम घटना घट गई और उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई ? भला यह कैसे सम्भव है ? वसिष्ठ, राम की

माताएँ, अयोध्या का प्रबुद्ध समाज—सब गूँगे-बहरे बने बैठे रहे ? एक धोबी अथवा कुछ मूढ लुच्चे-लफंगे ही साम्राज्ञी की नियति के सूत्रधार बन गये ? क्या यह सब त्रेतायुग के सुवर्णकाल (रामराज्य) की मानसिकता के अनुकूल है ?

४. अवैदिक राजसत्ता के सुदीर्घ आयामवश, धार्मिक विद्वेष से पनपी रामकथा की यह विकृति (सीतावनवास) स्थापित तो अवश्य हो गई । परन्तु परवर्ती युग में भी अनेक विद्रोही कवियों ने उस विकृति के विरोध में अपना स्वर मुखर किया । भवभूति ने राम तथा सीता का समन्वय करके ही सन्तोष किया । कुन्दमाला में भी छायासीता के माध्यम से कुछ ऐसा ही प्रयास किया गया ।

५. यवद्वीप में मतरामवंशी नरेश बलितुंग (नवीं शती ई० उत्तरार्ध) के राजकवि योगीश्वर ने वाल्मीकिरामायण के ही आधार पर 'रामायणककविन्' (२६ सर्ग, २७७८ श्लोक) की रचना कविभाषा (Old Javanese) में की । इस ग्रन्थ का समापन भी लंकाविजय एवं राम के राज्याभिषेक से ही होता है ।

६. गोस्वामी तुलसीदास को मैं दिव्यदृष्टि-प्राप्त कवि मानता हूँ । जो क्रान्तदर्शी कवि अपने काव्य की प्रभविष्णुता के लिये 'शिव-पार्वती' की सहज कृपा की सौगन्ध खाये, क्या उसे 'रामकथा का विस्तार' ज्ञात न रहा होगा ?

सपनेहुँ साँची मोंहि पै जो हर-गौरि पसाउ !
तौ फुर होइ जो कहहुँ पुनि भाषा-भनिति प्रभाउ ।।

तब फिर गोस्वामी जी ने अपने उत्तराकाण्ड का रुख बदल क्यों दिया ? जन-मानस में गहरे धँसी, ममता-करुणा की व्यथाकथा 'सीतानिर्वासन' को उन्होंने क्यों नहीं लिखा ? निश्चय ही, तुलसी भी इस कथांश के प्रति आस्थावान् नहीं थे !

रामकथा, अपने आदिस्रष्टा वाल्मीकि से लेकर वारान्निकोव (रूस) तक हजारों हाथों में गई है । इस कथा के, धर्म भाषा, संस्कृति एवं सम्प्रदाय की दृष्टि से इतने 'विवर्त' प्राप्त होते हैं कि उनका एकत्र संकलन होना दुष्कर है !

रामकथा, अपने आदिस्रष्टा वाल्मीकि से लेकर वारान्निकोव (रूस) तक हजारों हाथों में गई है । इस कथा के, धर्म भाषा, संस्कृति एवं सम्प्रदाय की दृष्टि से इतने 'विवर्त' प्राप्त होते हैं कि उनका एकत्र संकलन होना दुष्कर है !

अपने 'विवर्त' के विषय में क्या कहूँ ? बस, राष्ट्र के प्रबुद्ध बुद्धजीवियों, विद्वानों, कवियों, सन्तों तथा रामकथानुरागियों से यही करबद्ध निवेदन करता हूँ कि मेरे 'अकाण्डप्रथन' को दुग्धकुल्या दृष्टि से एक बार देख जाँय। उनके परितोष का एक निःश्वास भी मेरे सौभाग्य की पराकाष्ठा सिरजेगा।

बुधजनवशंवद

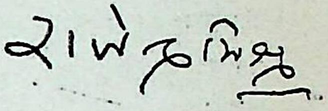

विषयानुक्रमणिका

सर्गानुक्रमः	सर्गाभिधानम्	सीतास्वरूपम्
प्रथमः	अवतारः	अयोनिजा
द्वितीयः	शिशुकेलिः	जनकनन्दिनी
तृतीयः	स्मराङ्कुरः	नवयौवना
चतुर्थः	राघवानुरागः	लोकविश्रुता
पञ्चमः	रघुराजसङ्गमः	सौभाग्यवती
षष्ठः	पूर्वरागः	अनुरागिणी
सप्तमः	स्वयंवरः	परिणीता
अष्टमः	श्वसुरालयः	प्रियानुगता
नवमः	वध्वाचारः	रामप्रिया
दशमः	वनवासः	सहचरी
एकादशः	रावणापहारः	अपहृता
द्वादशः	अशोकवनाश्रयः	तपस्विनी
त्रयोदशः	हनूमत्प्राप्तिः	प्रत्युज्जीविता
चतुर्दशः	लङ्काविजयः	समुद्धृता
पञ्चदशः	अग्निपरीक्षा	भर्तृमती
षोडशः	राज्याभिषेकः	राजमहिषी
सप्तदशः	जनापवादः	संशयिता
अष्टादशः	अपवादनिर्णयः	पुण्यशीला
ऊनविंशः	लवकुशोदयः	वीरप्रसविनी
विंशः	अश्वमेधः	अर्धाङ्गिनी
एकविंशः	रामायणगानम्	अनुकीर्तिता

●●

जानकीजीवनम्

(प्रथमः सर्गः)

पुरा विदेहेषु ववर्ष नाभ्रं बहूनि वर्षाणि किल व्यतीयुः ।
प्रजासु हाहाकृतवेदनोत्थं निकामदुःखं प्रमुखीबभूव ॥१॥

प्राचीनकाल में विदेह जनपद में मेघवर्षा नहीं हुई । अनेक वर्ष बीत गये । प्रजाओं में हाहाकार मिश्रित वेदना से उत्पन्न अतिशय दुख व्याप्त हो उठा ।

सरांसि शुष्काणि कुलायभूमौ परासवश्चापि विहंगवत्साः ।
द्रुमोल्लसद्वृन्तनिकायलग्ना न पल्लवाः प्राणभृतिं प्रयाताः ॥२॥

सरोवर सूख गये । चिड़ियों के बच्चे भी घोसलों के भीतर प्राणहीन हो गये । वृक्षों के शोभायमान वृन्तसमूहों में लगे हुए पल्लव तक प्राणों का पोषण नहीं कर सके ।

उदुम्बरोज्जृम्भितपुष्पभावं गता लघीयस्यपि मेघमाला ।
स्फुरन्मनः क्षुण्णमनोरथानां दुरापतां प्राच्यसमीरणोऽगात् ॥३॥

छोटी आकृति वाली भी बादलों की टुकड़ी 'गूलर का फूल' बन गई । पुरवैया हवा, दीप्तमन द्वारा बहुशः आकांक्षित मनोरथों के लिये अलभ्य वस्तु बन गई ।

निरन्तरं व्योम्नि ववुः प्रवात्या अदर्शि रात्रावपि धूमकेतुः ।
विधे ! न जाने भविता किमस्तीत्यनारतं जानपदैर्व्यतर्कि ॥४॥

आकाश में निरन्तर भयानक आँधियाँ उठने लगीं । रात्रिवेला में पुच्छलतारा भी दिखाई पड़ने लगा । जनपदवासी प्रतिक्षण (यही) चिन्ता करते थे कि 'हे प्रभो ! न जाने क्या होने वाला है ?'

अथ प्रजाभिस्समवेतवाग्भिर्निवेदितो भूमिपतिः कृतात्मा ।
कुलप्रसूतो ननु मैथिलानां शुशोच सीरध्वजपुण्यनामा ॥५॥

अन्ततः, संयुक्तरूप से अपनी बात कहने वाली प्रजाओं द्वारा निवेदित किये गये कृतात्मा, मैथिल-वंश में उत्पन्न तथा 'सीरध्वज' पवित्र नाम वाले भूपति (इस विषय में) चिन्तित हुए ।

मया कृतं किं दुरितं विधातर्व्यतीतजन्मन्यथवेह लोके ।
सुदुर्निवारैर्यदनल्पपाकैः प्रपीडिता हन्त भवन्ति पाल्याः ॥६॥

हे विधाता ! पिछले जन्म में अथवा इस लोक में मैंने कौन सा पाप किया था जिसके कि अपरिहार्य एवं विशाल परिणाम वश मेरी प्रजायें कष्ट पा रही हैं !

प्रजाजनो भूपकृतानि भुङ्क्ते श्रुतम्मयेति श्रुतिसारवाक्यम् ।
खलीनहीनाश्वविरूढवीरः पतत्यधो रोहणकोविदोऽपि ॥७॥

प्रजावर्ग राजा के ही कर्मों का भोग करता है—श्रुतियों का ऐसा ही सारवाक्य मैंने सुना है । आरोहण कला में निपुण होकर भी घुड़सवार बेलगाम घोड़े पर बैठकर नीचे गिर जाता है ।

इति प्ररूढक्लमविक्लवोऽसौ प्रजागरक्लेशविषण्णचित्तः ।
विनिद्र एवारुणचूडरावैर्निशात्ययेऽह्नः कलयाम्बभूव ॥८॥

इस प्रकार बढ़ी हुई थकावट से विकल तथा जागरण-वेदना से दुखी मन वाले उन महाराज जनक ने, बिना सोए हुए ही, रात बीत जाने पर मुर्गों की बोली से दिवसागमन का अनुभव किया ।

समाप्य सूर्योदयकृत्यजातं ह्यमात्यमात्रापरबन्धुवर्गः ।
दिदेश यानाय सुसज्जिताय प्रवातवेगाय महीमहेन्द्रः ॥९॥

सूर्योदयकालीन कार्यों को समाप्त करके, एकमात्र महामात्य को ही अपने साथ लेकर महीमहेन्द्र जनक ने वायुवेग से चलने वाले सुसज्जित रथ के लिये (अनुचरों को) आदेश दिया ।

ततः क्षणानन्तरमेव भृत्या रथं समानिन्युरमेयवेगम् ।
हयैश्चतुर्भिर्युतमुत्पताकं मुहुः क्वणत्काञ्चनकिङ्किणीकम् ।।१०।।

तब, कुछ ही क्षणों के अनन्तर भृत्यगण एक रथ लाये जो चार घोड़ों से युक्त था, जिस पर पताका फहरा रही थी, जो बारम्बार खनखनाती हुई स्वर्णघण्टिकाओं से मण्डित तथा अपरिमेय वेग वाला था ।

स पुष्पधन्वेव वसन्तकेन प्रजेश्वरोऽमात्यवरेण नीतः ।
पुरोपकण्ठस्थितशान्तशान्तं व्रतावदातं विजनं ददर्श ।।११।।

वसन्तऋतु द्वारा प्रेरित कामदेव के समान श्रेष्ठ अमात्य द्वारा लाये गये उन प्रजापालक नरेश ने नगर के समीप ही अवस्थित, अत्यन्त शान्त तथा व्रतों से श्रीमण्डित तपोवन को देखा ।

मखोत्थधूमावलिसम्परीतं ज्वलत्पुरोडाशलसत्समीरम् ।
विलोलखेलोपनतप्रबन्धैर्महर्षिभिश्चार्थितयोगचर्यम् ।।१२।।

वह तपोवन यज्ञ से उठे हुए धूमविम्ब से घिरा हुआ तथा (यज्ञकुण्ड में) जलते हुए पुरोडाश से सुरभित वायु वाला था । खेल ही खेल में कठिन कार्य सम्पन्न कर लेने में समर्थ महर्षिगण उस वन में योगसिद्धियाँ प्राप्त कर रहे थे ।

सुपक्वजम्बूफलरक्तनेत्रैः पिकैर्मदोन्मत्तमनोभिराप्तम् ।
बसन्त एवालघु याचमानैर्गृहीकृतं चातकपक्षिभिः कम् ।।१३।।

अतिशय परिपक्व जामुन के फल की तरह लाल आँखों वाले तथा मद के कारण अनियन्त्रित मनोवृत्ति वाले पुंस्कोकिलों से वह तपोवन व्याप्त था । वसन्त ऋतु में ही (अर्थात् ग्रीष्म के प्रथम चरण में ही) प्रभूत स्वातिजल की याचना करने वाले पपीहों ने उस तपोवन को अपना घर बना लिया था ।

ददर्श राजा सहसैव तस्मिन्वनप्रदेशे रुचिरं कुटीरम् ।
अमात्यसङ्केतितमात्मलक्ष्यं गुरोर्गृहं गौतमनन्दनस्य ।।१४।।

अमात्य द्वारा निर्दिष्ट तथा अपने लक्ष्यभूत—गुरुवर्य गौतमनन्दन (शतानन्द) के घर—रमणीय कुटीर को उस वनप्रदेश में राजा ने अकस्मात् देखा ।

स्फुरत्पलाशावृतपर्णशालं ह्यु पान्तचञ्चद्वकुलालवालम् ।
विमण्डितं केसरगोपुरेण प्रवातयोग्यैर्व्रततीगवाक्षैः ॥१५॥

वह 'गुरुगृह' उजले पलाशों से निर्मित 'पर्णशाला' के रूप में था जिसके चारों ओर शोभायमान मौलसिरी वृक्षों के थाले थे। वह चम्पे की झाड़ से बने गोपुरों तथा हवादार लता-वातायनों से विमण्डित था।

कलं मनश्शोकविदारिनादं मधुव्रतानां सरसं निपीय।
निशम्य कान्तारखगेष्टजल्पान्मुदं ययौ भूमिपतिर्नितान्तम् ॥१६॥

भ्रमरों के सरस, कर्णसुखद तथा मनस्तापनाशक गुञ्जन को पीकर तथा तपोवन के पालतू पक्षियों की मनपसन्द वचनावलियों को सुन कर भूपति अत्यधिक प्रसन्न हुए।

ततः क्रमेण प्रहिताक्षिचेता अरण्यसानोज्ञकदर्शनेऽसौ।
गुरोरभिप्रायमवेत्य भक्त्या ससार पादाम्बुजसेवनाय ॥१७॥

तपोवन की सुन्दरता देखने में विलीन दृष्टि एवं मनोवृत्ति वाले उन राजा जनक ने इसके अनन्तर गुरुवर्य की अनुज्ञा प्राप्त की और भक्ति पूर्वक चरण-कमलों की सेवा करने के लिये आगे बढ़े।

प्रणम्य साष्टाङ्गविधिप्रधानं व्रती नरेशो जनकाभिधानः।
मुखाम्बुजे वाक्सुरभिं निधाय व्यमोचयद्व्याहरणद्विरेफम् ॥१८॥

साष्टाङ्ग विधि के अनुकूल प्रणाम करके, जनक नाम वाले व्रती नरेश ने मुख रूपी कमल में वचन रूपी सुरभि स्थापित कर व्याहरण (कथन) रूपी भ्रमर को मुक्त किया।

गुरो कृपालो निमिकीर्तिहेतो विधेहि दीने मयि वत्सलत्वम्।
विभावसोर्याचितुकाम औष्ण्यं गृहीतशीतांशुरिवानतोऽस्मि ॥१९॥

कृपालु गुरुवर्य! (मेरे पूर्वज महाराज) निमि की कीर्ति का विस्तार करने वाले, मुझ दीन के प्रति वात्सल्य का आचरण करें। विभावसु सूर्य से उष्णता (तेज) की याचना करने वाले उपग्रह-ग्रस्त चन्द्रमा के समान मैं (आपके समक्ष) विनत हूँ।

दुरन्तदुर्भिक्षनिदाघदाहो दहत्यजस्रं जनतालतालीम् ।
न भव्यमाराम इवावकेशी विधातुमीशः प्रभवामि तस्याः ॥२०॥

भयानक दुर्भिक्ष (भुखमरी) तथा निदाघ की आग जनता रूपी लतावलियों को निरन्तर भस्म कर रही है और मैं उपवन में खड़े फूलफल से विहीन वन्ध्य-वृक्ष की तरह उसका कल्याण कर पाने में समर्थं नहीं हो पा रहा हूँ ।

वसन्त हे पञ्चशरद्वितीय प्रभुर्भवानेव ममास्ति मान्यः ।
न मे यथा स्याच्चरितं विलीनं कलङ्कपङ्के क्रियतां तदेव ॥२१॥

मनसिज के सखाभूत हे वसन्त ! आप ही मेरे माननीय स्वामी हैं। जिस प्रकार मेरा सच्चरित कलङ्कपङ्क से प्रभावित न हो, आप वही करें !

कनीनिकासीकरपूतवाग्भिर्निवेद्य दैन्योपहतार्थितानि ।
इतीव भूजानिरियाय जोषं श्रु तिव्यथो यावदसो मनस्वी ॥२२॥

आँखों की कोर से झरती हुई अश्रु धारा से पवित्रित वचनावलियों द्वारा दीनतामिश्रित याचनाओं को निवेदित करके वह मनस्वी नरेश, गुरुदेव का उत्तर सुनने के लिये उत्कण्ठित होकर, अन्ततः चुप हो गये ।

नृपोत्तमाङ्गं कलकुन्तलाढ्यं विलम्बिकर्णोत्पलजातशोभम् ।
प्रमोद्य सव्येतरपाणिनाऽसौ व्युदाजहारर्षिवरोऽपि तावत् ॥२३॥

कमनीय केशकुन्तल से भरेपुरे तथा लटकते हुए कर्णाभूषण से उत्पन्न शोभा वाले, राजर्षि जनक के मस्तक को दाहिने हाथ से सहला कर उन ऋषिश्रेष्ठ तानन्द ने भी तब तक कहा ।

मुधा न भैषीर्न च वत्स ! याया गतिं विनिन्द्यां खलु किम्प्रभूणाम् ।
प्रजात्ययेऽस्मिन्न तवास्ति दोषः स्वकर्मपाकं भजते मनुष्यः ॥२४॥

वत्स ! निरर्थक भयभीत मत होओ और न ही आचरणहीन राजाओं की ओछी प्रवृत्ति को प्राप्त करो । प्रजाओं की इस विपत्ति में तुम्हारा दोष नहीं है । मनुष्य अपने (ही) कर्म का परिणाम भोगता है ।

न दुर्दिनं नो मिहिकावपातं न शालभीतिं न च चक्रवातम् ।
न वा प्रजानामहितं लघीयोऽप्यवेक्षते भूपतिरात्मदोषात् ॥२५॥

दुर्दिन, तुषारपात, टिड्डियों से उत्पन्न दैवी विपत्ति, आँधी-तूफान—प्रजाजनों का छोटे से छोटा भी कोई अकल्याण राजा के दोष मात्र से नहीं होता है ।

स्वसन्ततिः प्रीतिकरी न केषां मुदीव शुभ्रा ननु पार्वणेन्दोः ।
तथापि मेघावरणैर्विपन्ना भवेदसौ तत्र न चन्द्रदोषः ॥२६॥

पूनम के चाँद की उजली चाँदनी के समान अपनी सन्तति (प्रजा) भला किन्हें प्रीतिकर नहीं होती ? फिर भी वह चन्द्रिका बादलों की पर्त में विपन्न हो उठती है (किन्तु) उसमें चन्द्रमा का दोष नहीं है ।

मयाऽपि लब्धात्मविबोधनेन ह्यतीन्द्रियज्ञानलसत्समाधौ ।
अदर्शि सत्यं यदपि प्रजेश ! प्रजासुखार्थं वितरामि तत्ते ॥२७॥

आत्मप्रबोधन-प्राप्त मैंने भी अतीन्द्रियज्ञान से विलसित समाधि में जिस सत्य (कारण) का दर्शन किया है, हे राजन् ! प्रजासुख के निमित्त, वह तुम्हें वितरित कर रहा हूँ ।

हलं विनिर्माय सुवर्णरत्नैस्त्वयैव धुर्येण वृषेण नेयम् ।
कृते त्वयेत्थं क्षितिकर्षकर्मण्यपां सुवृष्टिर्भविताऽप्रमेया ॥२८॥

सुवर्ण एवं मणि-माणिक्यादि रत्नों द्वारा हल का निर्माण कर, जुआ थामने वाले वृषभ के रूप में तुम्हीं (उसे) खींचो । इस प्रकार, तुम्हारे द्वारा धरती की जुताई करने पर अपार सुवृष्टि होगी ।

शतक्रतुश्चापि मखेन याज्यस्त्वयाऽत्र सीरध्वज ! वैपरीत्ये ।
मयोपदिष्टैर्विधिभिर्धृतस्त्वं विपत्पयोधेर्भवितासि मुक्तः ॥२९॥

हे सीरध्वज ! इस प्रतिकूल समय में तुम्हें यज्ञ द्वारा देवराज इन्द्र को भी प्रसन्न करना चाहिये । मेरे द्वारा बताये गये उपायों का आश्रय लेकर तुम विपत्ति-सागर से पार हो जाओगे ।

विलम्बलेशोऽपि न वत्स कार्यो न वा वृथा कालकलातिवाह्या ।
इतो निवृत्याशु च राजधानीं धियं समाधाय कुरुष्व कार्यम् ॥३०॥

वत्स ! तुम्हें तनिक भी विलम्ब नहीं करना चाहिये और न ही व्यर्थ में निमिष मात्र समय गँवाना चाहिये । शीघ्रता पूर्वक यहाँ से राजधानी को लौटकर, बुद्धि को स्थिर कर के कार्य सम्पन्न करो ।

इतीव राजानमनेकवाक्यैस्ससान्त्वनैर्दीप्तहृदं विधाय ।
मखादिसम्पादनदक्षशिष्यैस्समन्वितं तं विससर्ज सिद्ध्यै ॥३१॥

इस प्रकार, सान्त्वना भरे अनेक वाक्यों से महाराज जनक के हृदय को आह्लादित करके शतानन्द ने यज्ञादि कार्यों के सम्पादन में कुशल शिष्यों के साथ उन्हें सिद्धि (सफलता) हेतु विदा किया ।

समागतेऽथामृतसिद्धियोगे गुरोर्निदेशान्मिथिलाधिपोऽसौ ।
निवेश्य सीरं पृथुकन्धरायां प्रचक्रमे कर्षितुमात्मगोप्ता ॥३२॥

इसके अनन्तर 'अमृतसिद्धि' नामक योग (शुभघड़ी) आने पर, गुरुवर्य की आज्ञा के अनुसार समर्थ मिथिलाधिपति राजा जनक ने प्रशस्त कन्धे पर हल स्थापित कर खींचना प्रारम्भ कर दिया ।

क्षमाभृता हस्तिनखे प्रदेशे वितस्तिमात्रं ननु लाङ्गलेऽस्मिन् !
प्रकृष्यमाणे सुमहान् बभूव प्रजाजनानां जयजीवशब्दः ॥३३॥

महीपति जनक ने ढलुवाँ जमीन पर जैसे ही उस लाङ्गल (हल) को मात्र बीता भर आगे खिसकाया कि प्रजाजनों ने उच्चस्वर से 'जय-जयकार' करनी शुरू की ।

महीसुरा दध्मुरनेकशङ्खाञ्जगुश्च भूपं नवपौरवध्वः ।
अवाकिरन् सिद्धवधूकुलानि प्रसूनजालानि पतन्मधूनि ॥३४॥

ब्राह्मणों ने (उस महनीय अवसर पर) अनेक शंख बजाये, नवागता पुर-वधूटियों ने महाराज का अभिनन्दन किया तथा विद्याधरियों की टोली ने मधुस्यन्दी पुष्पसमूह (राजा के ऊपर) बिखेर दिये ।

प्रजाहितार्थी न बभूव कश्चिन्न वास्ति नो वा भविता त्रिलोक्याम् ।
य ईदृशं हृद्यकृषाणकार्यं समाचरेदाहुरिति स्म लोकाः ॥३५॥

'प्रजा की हितकामना करने वाला ऐसा कोई नरेश न हुआ, न है और न ही त्रिलोकी में होने वाला है जो कि इस प्रकार के रमणीय कृषि-कर्म को कर सकें'— इस प्रकार की बातें लोग कहने लगे ।

शिबिर्दधीचो न च रन्तिदेवः पृथुर्नृगो वा नहुषाम्बरीषौ ।
न केऽपि जग्मुर्जनकप्रतिष्ठां प्रजानुरागप्रसरावदाताम् ॥३६॥

प्रजा के प्रति वात्सल्यभाव के प्रसार से देदीप्यमान राजा जनक की प्रतिष्ठा को कोई भी (पूर्ववर्ती) नृपति नहीं प्राप्त कर सके । न शिवि, न दधीच, न रन्तिदेव, न पृथु, न नृग और न ही नहुष तथा अम्बरीष !

पुरोधसा तेन विनीयमानो महोत्सवेऽसंख्यजनावकीर्णे ।
रराज राजा धृतयज्ञदीक्षो हरिर्नु वाचस्पतिनेव नन्द्यः ॥३७॥

अपरिमेय जनसमूह से युक्त उस महोत्सव में कुलगुरु महर्षि शतानन्द द्वारा विनीत बनाये गये अभिनन्दनीय राजाजनक—बृहस्पति द्वारा कृपान्वित, अभिनन्दनीय तथा यज्ञदीक्षा-सम्पन्न इन्द्र के समान शोभित हुए ।

अथावरुद्धं भुवि लाङ्गलाग्रं दुरन्ततीक्ष्णायसक्लृप्तकोटि ।
बलैस्समग्रैरपि येन नेतुं शशाक नाग्रे निमिवंशधुर्यः ॥३८॥

इसके अनन्तर मजबूत फौलाद से निर्मित नोंक वाला हल का अगला भाग जमीन में अटक गया जिसके कारण निमिवंश-श्रेष्ठ महाराज जनक, सारी शक्ति लगा कर भी (उसे) आगे खिसकाने में समर्थ नहीं हो सके ।

अशक्नुवन् स्वेदलसल्ललाटस्सुवर्णदामश्रितकण्ठदेशः ।
विलोलहस्तो नृपतिर्युयुत्सोर्ययौ छविं वासववाहनस्य ॥३९॥

असमर्थ होते हुए, पसीने से लथपथ ललाटभाग वाले, सुवर्ण-शृङ्खला से विभूषित ग्रीवाभाग वाले तथा अस्थिर हाथों वाले भूपति—रणोद्यत ऐरावत की शोभा को प्राप्त हुए ।

निरुद्धशौर्यद्विगुणीकृतौजास्ततः प्रचण्डोभयबाहुशक्त्या ।
चकर्ष सीरं भुवि यावदेव प्रकाशधारा प्रकटीबभूव ।।४०।।

(अन्ततः) विफलीभूत पराक्रम के कारण बढ़े हुए आत्मबल वाले राजा ने प्रचण्ड बाहुयुगल की शक्ति से, जैसे ही हल को जमीन में खींचा कि (एक) प्रकाशपुञ्ज प्रकट हुआ ।

दृगञ्चलानि द्युतिभिर्नयन्ती मलीमसान्धत्वममन्दवेगा ।
सभाजयन्ती कुतुकं समेषां युगान्तमेघोदरदामिनीव ।।४१।।

अमन्द वेगवाली (वह प्रकाशधारा) प्रभापटल से (दर्शकों के) दृगञ्चलों को सघन कुहासे से ओतप्रोत करती हुई तथा सब लोगों के कुतूहल को बढ़ाती हुई—प्रलयकालीन बादलों की बिजली सी प्रतीत होती थी ।

व्यलोकि सर्वैरपि लाङ्गलाग्रप्रहारभिन्नोदरकुम्भतल्पे ।
सुखं शयाना मदिरायताक्षी दिवौकसां श्रीरिव कापि बाला ।।४२।।

(इसके अनन्तर) हल की नोंक के प्रहार से टूटे हुए अन्तरालभाग वाले कुम्भ रूपी शैया पर सुख-पूर्वक सोई हुई, मदिर तथा आयत नेत्रों वाली, देवताओं की लक्ष्मी प्रतीत होने वाली एक बच्ची दिखाई पड़ी ।

प्रफुल्लपद्मस्थमधुव्रताक्षी मनोज्ञचारुस्मितशोभिवक्त्रा ।
सुरालयस्था बलिदीपिकेव प्रभोर्ध्वचक्रं परितः किरन्ती ।।४३।।

उस बाला के नेत्र फूले हुए कमल पर आसीन भ्रमर जैसे थे, उसका मुख मनोहारी तथा सुन्दर मुस्कान से श्रीमण्डित था। देवालय में रखी गई नीराजन-दीपिका की तरह वह कन्या, चारों ओर प्रकाश के ऊर्ध्वगामी मण्डल को फैला रही थी ।

कलेव चान्द्री स्फुटचारुशोभा ज्वलद्धुताशप्रतियातनेव ।
लतेव मालेव धरासुतेव प्रमोहविद्धं विदधे जनं सा ।।४४।।

चन्द्रकला के समान सुस्पष्ट आकर्षक छवि वाली (वह कन्या) धधकती हुई आग की मूर्ति के समान थी । लता सरीखी, माला सरीखी तथा पृथ्वी की कन्या प्रतीत होने वाली उसने लोगों को प्रगाढ़ मोह से बींध दिया ।

अथाधिरूढे नृपतौ द्विभावं ह्यकर्णि वाणी वियदङ्गणोत्था ।
गृहाण सीरध्वज ! देवदत्तां सुतामिमां भर्त्सितलोकशोकाम् ॥४५॥

तदनन्तर, महाराज जनक पशोपेश में पड़े ही थे कि आकाश-प्राङ्गण में गूँजने वाली वाणी सुनाई पड़ी—'सीरध्वज ! संसार के शोक को विनष्ट करने वाली इस देवप्रदत्त कन्या को उठा लो !'

अवेहि राजन्नलपायदीप्तिं श्रियञ्च साक्षाद्गृहमागतान्ते ।
स्वकर्मजं स्यात्फलमात्मरूपं ह्यचिन्तितं किन्तु विभातिभाग्यम्॥४६॥

हे राजन् ! अक्षुण्ण दीप्तिवाली (इस कन्या) को अपने घर आई हुई साक्षात् लक्ष्मी ही समझो । अपने कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाला फल भले ही आत्मानुरूप (सीमित अथवा प्रत्याशित) हो किन्तु भाग्य का फल तो अतर्कित रूप से ही वैभव प्रदान करता है ।

तवैव नाम्ना प्रथिताभिधानं गमिष्यतीयं भुवनेषु कन्या ।
विदेहनन्दिन्यथ जानकीति श्रयेत संज्ञामिह मैथिलीति ॥४७॥

यह कन्या तुम्हारे नाम के आधार पर, संसार में शुभसंज्ञा को प्राप्त करेगी । इसका नाम विदेह-नन्दिनी, जानकी अथवा मैथिली होगा ।

हलेन राजंस्त्वथ भूमिकर्षे कृते यतोऽप्रापि सुकन्यकेयम् ।
ततो गमिष्यत्यभिधामनर्घां प्रजेश ! सीतेति च लोकपूताम् ॥४८॥

हे राजन् ! हे प्रजेश ! चूंकि यह कन्या आप द्वारा हल से खेत जोतने पर प्राप्त हुई है इसलिए इसका लोकपावन तथा अनिन्दनींय नाम 'सीता' होगा ।

विदेहवाचेति विकीर्यमाणे स्फुटाक्षरासंख्यकमौक्तिकौघे ।
बलाहकानां ततयोऽप्यकस्मान्निरन्तरालं गगने विरुढाः ॥४९॥

शरीरविहीन वाणी द्वारा, इस प्रकार, सुस्पष्ट अक्षर रूपी मौक्तिक-समूह बिखेरते ही जलधरों की पंक्तियाँ भी एकाएक आकाश में सघन रूप से मँडराने लगीं ।

ततः क्षणेनैव पयोदधाराप्लवैर्धरित्री सलिलावगाढा।
विधौतनिश्शेषतरुप्रवाला भृतालवाला ददृशे समन्तात् ॥५०॥

इसके अनन्तर कुछ ही क्षणों में मेघवर्षा की बाढ़ से पृथ्वी जलमग्न हो उठी। चारों ओर धरती (जल से) भरे हुए थालों वाली तथा धुले हुए वृक्ष समूह वाली दिखाई पड़ने लगी।

इतस्ततः सैरिभकायपीनाः क्षणप्रभाशृङ्गधृतावलेपाः।
द्रुतं ध्वनन्तस्त्वरितं प्लवन्तोऽसिताम्बरे रेजुरथाम्बुवाहाः ॥५१॥

अब महिष-शरीर के समान विस्तार वाले तथा विद्युल्लता रूपी सींगो से गर्व प्रकट करने वाले बादल-द्रुतगति से गर्जना करते हुए एवं शीघ्रतापूर्वक धमाचौकड़ी मचाते हुए, नील-गगन में स्थिर हो गये।

दुरन्तहृत्तापकरेतिवृत्तं निमेषपूर्वं प्रबभूव यत्र।
अखण्डमानन्दलसद्विधानं रराज तत्रैव बलादिदानीम् ॥५२॥

अत्यन्त दुःखमय, हृदय-सन्तापदायक घटना-कुछ ही क्षण पूर्व जहाँ हिलोर मार रही थी वहीं (अब) अखण्ड-आनन्द से परिपूर्ण महोत्सव बलपूर्वक विराजमान हो उठा।

अथ गगनगिरं तां श्रोत्रयुग्मैर्निपीय
श्रितगुरुपरितोषश्शोषमेत्य श्रमाणाम्।
घनजलकणिकाभिस्स्विन्नगात्रीं गृहीत्वा
करकमलकरङ्के हर्म्यमेव प्रतस्थे ॥५३॥

इसके अनन्तर—कर्णयुगल से उस आकाशवाणी का पान कर, गुरु शतानन्द के परितोष का आश्रय लेकर तथा अपनी थकान को समाप्त कर (राजा जनक) मेघवर्षा की फुहारों से भींगे शरीर वाली (कन्या) को करकमल रूपी पिटारी में लेकर राजप्रासाद की ओर चल पड़े।

यत्काव्यं तरुणायते नवनवोन्मेषैर्लसद्वैभवं
सान्द्रानन्दमरन्दबिन्दुरुचिरं वाण्याशिषाऽनारतम् ।
राजेन्द्रस्य कृतावगादिह महाकाव्येऽवताराभिध-
स्सर्गाणामयमादिमश्चरमतां श्रीजानकीजीवने ।।५४।।

नव्यातिनव्य उन्मेषों के कारण विलसित वैभव वाला तथा अखण्डानन्द रूपी पुष्पासव के कारण रुचिर जो काव्य, माँ सरस्वती के आशीष से निरन्तर तरुण प्रतीत होता है, राजेन्द्र की कृतिभूत उस महाकाव्य 'जानकीजीवन' में 'अवतार' नामक यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीबिल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्यैकपुण्यं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।५५।।

कविश्री कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका स्कन्धप्रदेश (तना) है, श्रीजयदेव के संस्कृत गीत जिसके पर्णसमूह हैं, श्रीबिल्हण की सदुक्तियाँ जिसके फूल हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका एकमात्र पुण्य फल है, अभिराज राजेन्द्र का वह निसर्गजात काव्यद्रुम चिरस्थायी हो !!

इतिश्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्येऽवतार-
संज्ञकः प्रथमः सर्गः

(द्वितीयः सर्गः)

समागते राजनि लब्धलालसे निधाय पाणौ तनुजामयोनिजाम् ।
बभूव हर्षः सुमहाननुत्तमः प्रजासु दारेषु च सर्वतोमुखम् ॥१॥

अयोनिजा कन्या को गोदी में लेकर, परिपूर्ण आकांक्षा वाले राजा के (महल में) लौटने पर प्रजाओं तथा अन्तःपुर-कामिनियों में सर्वत्र व्याप्त, प्रभूत तथा उत्तम कोटि का हर्ष उत्पन्न हुआ ।

महोत्सवोऽथ प्रचचार पेशलः प्रजाजनेषु क्रमशो विसृत्वरः ।
समुत्पतिष्णुर्नितरां मनोहरो गृहीतचेतोमृगबन्धवागुरः ॥२॥

अब धीरे-धीरे फैलने वाला कमनीय महोत्सव प्रजावर्ग में आयोजित होने लगा जो कि अत्यन्त चित्ताकर्षक, उत्साहवर्धक तथा चित्त रूपी मृग को बाँधने के लिये वागुरा (रज्जुविशेष) से युक्त था ।

व्यपाठि भूपालयशो नु बन्दिभिः क्वचित्सभायां सुमुखैः शुकैर्गृहे ।
क्वचिच्च तौर्यत्रिककं विभावितं विनोदरथ्यासु नटैः कुशीलवैः ॥३॥

कहीं-कहीं (आयोजित) सभा में चारणों ने तथा घर में सुमुख शुकों ने महाराज जनक के यश का गायन किया और कहीं विनोद से भरी गलियों में नटों तथा कुशीलवों (गायकों) ने नाचगान प्रारम्भ कर दिया ।

प्रदीपहारावलिराजिता पुरी नवा वधूटीव दधेऽवगुण्ठनम् ।
समुल्लसत्स्थासकचारुकल्पनैर्नखक्षतानि प्रकटं विरेजिरे ॥४॥

मङ्गलदीपों की हारयष्टि से विभूषित (मिथिला) नगरी ने नवागता वधू के समान घूँघट काढ़ लिया तथा देदीप्यमान स्थासक (चन्दनानुलेपन) से निर्मित मनोहर अल्पनाओं द्वारा मानो स्पष्टतः नखक्षतों ने शोभा प्राप्त कर ली ।

अनल्पकाश्मीरजलाभिषेचनैश्चकासयामासुरशेषवीथिकाः ।
अमोघपथ्यौषधिसेवनेन किं न यान्ति कान्तिं द्रुतमेव नीरुजः ॥५॥

प्रभूत चन्दनमिश्रित जल के अभिषेचन से सारी की सारी गलियाँ महमहा उठीं । अमोघ पथ्य तथा औषधि के सेवन से क्या नीरोग व्यक्ति, वेगपूर्वक कान्ति (तेजस्विता) नहीं प्राप्त कर लेते ?

विवाहकालोचिततुङ्गतोरणैर्मणिप्रदीपैश्च गृहान्तरस्थितैः ।
महार्घहर्म्याणि पुरौकसां ययुः श्रियं दुरापां सुरसद्मलम्बिनीम्॥६॥

विवाह वेला में बनाये जाने लायक ऊँचे-ऊँचे तोरणों से, भवनों के भीतर विद्यमान मणि-प्रदीपों से, पौरजनों के अतिशय समृद्धिपूर्ण महलों ने अमरावतीपुरी की दुष्प्राप्य शोभा प्राप्त कर ली ।

न तद्गृहं यन्न विकीर्णगीतकं न गीतकं व्यायतमूर्च्छनं न यत्।
न मूर्च्छनं यन्न रसाक्तवाचिकं न वाचिकं यन्न सुधासहोदरम् ॥७॥

(मिथिला री में) ऐसा कोई घर नहीं था जिसमें गीत न उठ रहे हों । ऐसा कोई गीत नहीं था जिसकी मूर्च्छनायें (आलाप) व्यायत न हों । ऐसी कोई मूर्च्छना नहीं थी जिसमें प्रयुक्त वाचिक (शब्दांश) रस में भींगे न हों और न ऐसा कोई वाचिक था जो अमृतनिस्यन्दी न हो ।

प्रवर्तमाने पुरि हार्दवर्धिते महोत्सवेऽथ प्रसभं दिवानिशम् ।
कलेव चान्द्री शनकैर्वयःक्रमं क्षणं व्यतीयाय विदेहनन्दिनी ॥८॥

इस प्रकार मिथिलापुरी में प्रीतिमिश्रित (कन्याजन्म) महोत्सव के, द्रुतगति से रातदिन चलते रहने पर, विदेहनन्दिनी सीता चन्द्रकला के समान क्रमशः किन्तु अतर्कित रूप से वयःक्रम (वर्धमान अवस्था) को पार करने लगीं ।

कराङ्घ्रिरक्तोत्पलमास्यपङ्कजं विलोचनद्वन्द्वकुवेलमद्भुतम् ।
विलम्बिहस्ताग्रमृणालयुग्मकं समेत्य जातं क्षितिजाङ्गपुष्करे ॥९॥

कर तथा चरण रूपी लालकमल, मुख रूपी श्वेतकमल, नेत्रद्वय रूपी अद्भुत नीलकमल तथा अवनमित मणिबन्ध रूपी कमलनाल का जोड़ा—सब एक ही साथ सीता के शरीर रूपी सरोवर में उत्पन्न हुए ।

दिने दिने सा ववृधे प्रभामयी ह्यलोकसामान्यविकासमीयुषी ।
अपेक्षते स्नेहममन्ददीपिका न वैधसी हृद्यकला चिरन्तनी ॥१०॥

अलोकसामान्य (शारीरिक) विकास को प्राप्त करने वाली प्रभामयी वह विदेहजा दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी । सततगति से जलने वाली (साधारण) दीपिका ही तेल की अपेक्षा करती है न कि विरञ्चिविरचित, शाश्वत तथा कमनीय चन्द्रकला !!

अमोदयत्सा पितरावनारतं स्वकेलिलेशप्रचुरप्रचारणैः ।
निभालयन्ती नियतिं विनोदनैःप्रजाजनञ्चापि चकार सम्भृतम्॥११॥

अपनी छोटी-छोटी बालकेलियों के प्रचुर-विस्तार से सीता ने निरन्तर माता-पिता को आह्लादित किया । भाग्यक्रम आँकती हुई सीता ने (अपने) खेल-खिलवाड़ से प्रजाजनों को भी आनन्दित कर दिया ।

प्रदीप्तजाम्बूनदभित्तिकालये क्वचिच्छविं स्वां समुदीक्षमाणा ।
विलोलमञ्जीरपदैश्चतुर्दिशं नटीव नृत्यन्त्यनिशं चचार सा॥१२॥

कभी-कभी, तपे हुए कञ्चन से निर्मित दीवार वाले भवन में अपनी परछाई देखती हुई सीता, चञ्चल पायलों से विभूषित चरणों से नटी की तरह निर्बाध गति से थिरकती हुई घूमा करती थीं ।

विलोक्य चन्द्रं वियति प्रभोज्ज्वलं विलोभनीयं ननु पर्वसंस्थितम् ।
भृशं ययाचे जननीं विलक्षितां नवीनखेलाश्रितबालतर्कनैः ॥१३॥

(कभी) आकाश में प्रभाधवल, रमणीय पूनम के चाँद को देख कर (चन्द्रयाचना रूपी) नवीन क्रीड़ा से सम्बद्ध बालसुलभ तर्कों द्वारा सीता संकोच में पड़ी माँ से बार-बार चाँद माँगा करती थी ।

क्वचिद् विनिर्माय मृदाघरट्टकं समं वयस्याभिरभीष्टरञ्जिनी ।
मृषैव मृत्पेषणकम्रलीलया कुतूहलं सा विदधेऽवरोधिणाम् ॥१४॥

मनचाही बातों से मनोरञ्जन करने वाली सीता, कभी सखियों के साथ मिट्टी की चक्की (जतोला) बना कर, झूठमूठ ही मिट्टी पीसने की मनोहर क्रीड़ा से अन्तःपुरवासियों का कौतुक बढ़ाती थी ।

सखीं कदाचित्परिकल्प्य मैथिली मृगाङ्गनां कामपि हार्दमेदुराम् ।
परस्परोल्लासनचाटुकर्मभिस्स्वयं मृगीभूय रतिं ह्यचीकरत् ॥१५॥

कभी-कभी सीता अपनी किसी अत्यन्त प्रिय सखी को हिरनी बनाकर तथा स्वयं हिरन बन कर (उन दोनों के) पारस्परिक स्नेहप्रेम एवं अव्यक्तवार्तादि कार्यों द्वारा अनुराग उत्पन्न कराया करती थी ।

कदम्बहिन्दोलविहारलीलया कलं स्वनन्ती मृदुगीतिमूर्च्छनाम् ।
क्वचित्कुमारी रतिदर्पमर्दिनी पितुर्विनोदं कलयाम्बभूव सा ।।१६।।

कभी, कामप्रिया रति से भी अधिक सुन्दर वह कुमारी कदम्ब-वृक्ष पर हिंडोला झूलने की क्रीडा द्वारा, मधुर गीत की तानों का सुखद उच्चारण करती हुई पिता (जनक) का मनोरञ्जन किया करती थी ।

क्वचिच्च विश्रब्धतया समागतान् कपोतपोताञ्जलदांशसन्निभान् ।
निबद्धमुष्टिप्रविकीर्णतण्डुलैस्सभाजयन्ती ददृशे कुटुम्बिभिः ।।१७।।

और कभी विश्वस्त भाव से (समीप) आये हुए, मेघखण्ड के समान कपोतशावकों का—बँधी मुट्ठी से बिखेरे गये चावलों द्वारा स्वागत-सत्कार करती हुई, वह सीता कुटुम्बियों द्वारा देखी जाती थी ।

गृहाङ्गणे रत्नचिरत्नभासुरे सुहृज्जने सुप्तिसुखं गतेऽपि सा ।
क्वचिद्धठोत्थापितजन्मदांकथाग्रहैकसौख्यां विदधेस्नुतस्तनीम् ।।१८।।

प्राचीन रत्नों से देदीप्यमान घर की अँगनाई में, सखीजनों के सुखपूर्वक सो जाने पर भी, कभी वह (सीता) हठ पूर्वक जगाई गई तथा दुग्धनिस्यन्दी पयोधरों वाली माँ को कहानी सुनाने के आग्रह से आनन्दित किया करती थी ।

गृहं विनिर्माय तृणादिसाधनैर्निवेश्य तत्रेप्सितदारुयोषितम् ।
विलासविब्बोककटाक्षमण्डितां नवागतां गेहवधूटिकामिव ।।१९।।

घासफूस आदि साधनों से घरौंदा बना कर तथा उसमें हाव-भाव एवं वंकिम चितवन से विभूषित, नवागता गृहवधू सरीखी किसी, मनपसन्द गुड़िया को बैठा कर ।

विधाय चान्यं क्षितिजा सखीजनं विदग्धकान्तं परदेशवासिनम् ।
अथानयोरेव समागमोहनैश्चकार सर्वप्रियचित्तरञ्जनम् ।।२०।।

तथा किसी दूसरी सहेली को परदेशवासी चतुर प्रियतम कल्पित कर वह विदेहनन्दिनी उन्हीं दोनों (नायक) के समागम-उपायों द्वारा सबको प्रिय लगने वाला मनोरञ्जन किया करती थी ।

कदाचिदालेखनकर्मपेशलां विडम्बयन्ती धृततूलिकैव सा ।
सखीमहो कम्प्रकरेण निर्भरं बभौ बकीभूतशुकाशुचित्रणैः ।।२१।।

कभी-कभी चित्ररचना करने में प्रशंसनीय (अपनी किसी) सखी की नकल उतारने वाली सीता, हाथ में तूलिका (कूँची) धारण किये, काँपते हुए हाथ से (अनभ्यासवश) बगुला बन जाने वाले शुक के आशुचित्रणों से भली-भाँति सुशोभित होती थी ।

रटानिशं जीवनजीवनं शुभे ! भवत्यनेनैव तवाभिनन्दनम् ।
इतीव चामीकरपञ्जराश्रितां रसाक्तवाचं निजभावशंसिनीम् ।।२२।।

'हे शुभे ! निरन्तर 'जीवन-जीवन' उच्चारण करो । इसी से तुम्हारी प्रशंसा होगी ।' इस प्रकार अपने उपदेशों का पालन करने वाली, रससिक्त वाणी वाली तथा सोने के पिंजरे में बैठी हुई—

पुनः पुनस्साग्रहमर्थशिक्षितां तथाऽप्यहो यौवनयौवनं न्विति ।
स्फुटं भणन्तीं मधुकण्ठसारिकां रुषाऽवमेने च पदार्थदुर्ग्रहा ।।२३।।

वार-वार आग्रहपूर्वक मनोऽभिप्राय से परिचित कराई गई, मधुकण्ठी मैना का—जो कि (इतना सिखाने के बाद भी 'जीवन' कहने के बजाय) स्पष्टतः 'यौवन-यौवन' कह रही थी—सीता ने यौवन शब्द का अर्थ न समझ पाने के कारण, रोषपूर्वक तिरस्कृत कर दिया ।

कदाचिदन्तःपुरदीर्घिकाजले प्रवातकम्पापतदब्जरेणुके ।
समं सखीभिश्श्रिततोयतल्पका मुदा विचिक्रीड विलासवर्धिनी ।।२४।।

विलास का संवर्धन करने वाली सीता कभी पवन के आघातवश झरते हुए कमलपराग से युक्त, अन्तःपुर के सरोवरजल में सखियों के साथ तोयतल्प (जलरूपी बिस्तरे) का सहारा लेकर प्रसन्नता पूर्वक क्रीडा करती थी ।

स्पृशेत् पुरोवर्ति तटं प्रतीर्य का द्रुतं पराभूय समस्तसङ्गिनीः ।
इति प्रतिस्पर्धिततोयधावना ललङ्घ वापीं शफरातिशायिनी ।।२५।।

'सारी सहेलियों को पराजित कर, द्रुतगति से तैरकर सामने वाले तट को कौन छू सकती है ?' इस प्रकार जलसन्तरण की बाज़ी लगाकर, मछली से भी तेज तैरने वाली सीता बावली को (कभी) लाँघ जाती थी ।

अहं निलीये जल एव साम्प्रतं विमार्गयध्वं ननु मां यथेच्छितम् ।
निमज्ज्य तूर्णं कलहंसमण्डले कृताश्रयेत्यालिविलक्ष्यताङ्गता ॥२६॥

'अब मैं पानी में छिप रही हूँ, तुम लोग मुझे जी भरकर ढूँढ लो !' (सखियों को) ऐसा कहकर, शीघ्रतापूर्वक पानी में डुबकी लगा कर तथा कलहंसों की टोली में पैठ कर (हंसवर्णा ही होने के कारण) सीता, सखियों के किए दुर्लक्ष्य हो जाया करती थी ।

ततः प्रयत्नैरपि वीक्षितुंक्वचिद् विदेहजाऽशाकि यदैव नालिभिः ।
तदाट्टहासैर्जलचारिपत्त्रिणां दरं दधानाऽभ्युदियाय तन्मुदे ॥२७॥

इसके अनन्तर जब सखियाँ लाख प्रयत्न करने पर भी सीता को कहीं देख पाने में समर्थ नहीं हो सकीं, तब उनको खुश करने के लिए सीता, अट्टहास से जलचारी पक्षियों को भयभीत करती हुई (स्वयं) बाहर निकल आई ।

क्षिपामि शैलेयककन्दुकं जले निभालये काऽऽनयतीदमादिमा ।
अथैवमुद्घोष्य धृतिप्रवञ्चनैर्जहास सर्वा अवगाहकम्पिताः ॥२८॥

'अब मैं पत्थर में टुकड़े को गेंद बना कर पानी में फेंकती हूँ । देखती हूँ कि इसे सबसे पहले कौन लाती है !' इस प्रकार उद्घोषणा करके (गेंद ढूँढने के लिये) जलावगाहन से ठिठुरी हुई समस्त सखियों की वह सीता, बुद्धि-वञ्चना द्वारा मखौल उड़ाती थी (अर्थात् सखियों के डुबकी लगा लेने पर भी स्वयं डुबकी नहीं लगाती थी)

अहर्मुखं भानुमरीचिरोचिषं दिनान्तवेलामथवाऽरुणाऽरुणाम् ।
विभावरीमिन्दुमुदीविनोदितां दिनं न यद्राजसुता व्यभावयत् ॥२९॥

रवि किरणों से प्रभासित प्रातःकाल, अथवा अत्यन्त रतनारी सन्ध्या बेला ! चन्द्रप्रभा से आह्लादित रजनी अथवा दिन ! ऐसा कोई नहीं था जिसे जनकनन्दिनी सीता ने विभावित (श्रीमण्डित) न किया हो ।

अथैकदा चारुतरप्रभातके प्रसेदिवांसौ पितरावुपागता ।
प्रचुम्ब्य पृष्टा जनकेन सस्मितं क आवयोस्तेऽतितरान्नु रोचते ॥३०॥

इसके अनन्तर, एक बार रमणीयतर प्रभातकाल में, हर्षित चित्त वाले माता-पिता के पास पहुँचने पर पिता जनक ने चुम्बन लेकर, मुस्कान भरकर सीता से पूछा—'बेटी ! हम दोनों में से तुम्हें कौन अधिक प्रिय लगता है ?'

इति प्रगूढं जनकापलापजं वचोऽनुयोगं सहसा निशम्य तम् ।
निषद्वरोद्विग्नचमूरुपोतकीगतिं प्रपेदे स्फुरदोष्ठकुड्मला ॥३१॥

इस प्रकार, पिताश्री के गोपित-अभिप्राय से उत्पन्न होने वाले, अत्यन्त रहस्यमय उस वाचिक प्रश्न को अकस्मात् सुनकर, कम्पित ओष्ठ-कुड्मल वाली सीता, कीचड़ में फँस कर व्यथित हो उठने वाली बालमृगी की दुर्दशा को प्राप्त हो गईं ।

ततोऽधितातं तदभीष्टतर्किणी ह्यधिप्रसु प्रेरिततन्मुखेक्षणा ।
क्रमेण पश्यन्त्यभिभूतधारणा स्फुटं बभाषे न मनागपि ध्रुवम् ॥३२॥

एतदनन्तर, पिताश्री के मनोऽभिप्राय की तर्कना करती हुई कभी उनकी ओर देखती हुई और कभी माँ की ओर दृष्टिपात करती हुई, विचारशून्य सीता निश्चित रूप से, साफ-साफ कुछ भी नहीं कह सकीं ।

कनीनिकावप्रमतीत्य पक्ष्मणोर्वनान्तरेखामवधूय लीलया ।
दृगम्बुगङ्गा जलभारभङ्गुरा जवावतीर्णा ददृशेऽथ गण्डयोः ॥३३॥

पुतलियों की चहारदीवारी पार करके तथा बरौनियों की वनान्त रेखा को भी लीलापूर्वक तिरस्कृत करके, वेग के साथ अवतीर्ण हुई—अश्रुजल के भार से बोझिल, दृगम्बु रूपी गंगा अन्ततः सीता के कपोलों पर दिखाई पड़ी ।

विलोक्य बालोचितवल्गुसाध्वसं निजाङ्गजाया नृपतिर्विलक्षितः ।
रुषा महिष्याऽपि निकामजल्पितस्ससान्त्वनं सोऽभिननन्दमैथिलीम् ॥३४॥

अपनी कन्या के बालोचित मनोहर भय को देख कर (अपनी करनी पर) लज्जित तथा राजरानी सुनयना द्वारा भी रोष पूर्वक खरी-खोटी सुनाये गये उन राजा जनक ने (तब) सान्त्वना देते हुए मैथिली का अभिनन्दन (दुलार) किया ।

अहो सुता मे कियती गुणान्विता मितम्पचाऽसंकसुका स्तनन्धया ।
अहो शुभंयुः कियतीति लालयन् चकार सीतां नृपतिर्भुजान्तरे ॥३५॥

'ओहो ! मेरी दुधमुंही बिटिया कितनी गुणवती है ! कितनी अकिञ्चन, धीर-गम्भीर और शुभ नक्षत्र वाली है !' इस प्रकार पुचकारते हुए राजा ने सीता को गोदी में उठा लिया ।

ततः कदाचिन्निमिराजनीवृति प्रवृद्धसौख्ये हरतालिकाभिधम् ।
समाययौ पर्व सुवासिनीजनप्रियं प्रियप्राप्तिफलं मनोहरम् ॥३६॥

इसके पश्चात् महाराज निमि के उस ऐश्वर्य-मण्डित (विदेह) जनपद में सुवासिनियों (यौवनोन्मुख विवाहित रमणियों) को भाने वाला, पतिप्राप्ति रूपी फल वाला तथा मनोहर 'हरतालिका, नामक महोत्सव किसी समय आया ।

विधाय युग्मं मिथिलाकुमारिका इतस्ततोऽन्वेषणरूपणान्विताः।
जगुर्मनोज्ञां कजरीमुपोषिताः परिभ्रमन्त्यो गृहतो गृहम्मुदा ॥३७॥

मिथिला प्रदेश की क्वाँरी कन्यायें, जोड़ा बाँध कर इधर-उधर ढूंढने का अभिनय करती हुईं तथा आनन्दपूर्वक एक द्वार से दूसरे द्वार तक घूमती-टहलती हुईं—व्रत रख कर—सुमधुर कजली गाने लगीं ।

मृदेकपिण्डे शितिशूकसंहतिं निवेश्य बालास्सततानभिषेचनैः ।
प्रवर्धयामासुरथैतदङ्कुरान् वितस्तिदीर्घान्कचपाशसन्निभान् ॥३८॥

कुमारियों ने मिट्टी के एक लोंदे में ढेर सारे जौ के दाने बोए तथा (उसे) निरन्तर सींच कर उसके अँखुओं को—जो कि केशपास सरीखे हो चले थे—बीते भर लम्बा बढ़ाया ।

विदेहजाऽप्युत्सववासरागमे विडम्बयन्ती सहचारिणीव्रजम् ।
कृताभिषेका धृतनव्यशाटिका यवान्बबन्धाधिसहोदरालकम् ॥३९॥

उत्सव का दिन आने पर, विदेहनन्दिनी ने भी सखियों की टोली की देखा-देखी स्नान किया, नई साड़ी पहनी और जौ के पौधों (जरई) को भाइयों की शिखा में बाँध दिया ।

प्रभूतराशिं मणिरत्नवाससामवाप्य तेभ्यो मिथिलाधिपादपि ।
ददौ समग्रं भगिनीभ्य ऊर्जिता रुचा सखीभ्यश्च विभज्य तत्क्षणम्॥४०॥

(जरई बाँधने के उपलक्ष्य में) भाइयों तथा महाराज जनक से भी मणियों, रत्नों तथा वस्त्रों की प्रभूत राशि प्राप्त करके मनस्विनी सीता ने वह सबका सब, तत्काल बाँटकर बहनों एवं सहेलियों को प्रीतिपूर्वक दे दिया ।

अपूपुजद्‌ भवतीं सहालिभिः प्रदोषकाले स्वसृभिर्विमण्डिता ।
वरन्नु याचस्व मनोरमं शुभे ! सखीभिरुक्तेति ललास सुस्मिता ।।४१।।

प्रदोष-वेला में महोदरियों से विमण्डित सीता ने सहेलियों के साथ पार्वती की पूजा की । 'हे शुभे ! मनोऽनुकूल वर माँग लो' सखियों द्वारा इस प्रकार सिखाई गई, शोभन मुस्कान वाली सीता आत्मविभोर हो उठीं ।

भवत्यहो किंस्विदिदं वराभिधं पदार्थजातं यदिह प्रयाच्यते ।
इति प्रजाताधिगतं रहस्यकं प्रयत्नरूढाऽपि न वेद मैथिली ।।४२।।

आश्चर्य है ! आखिर 'दूल्हा' किस चिड़िया का नाम है, जिसकी यहाँ याचना की जा रही है ? इस प्रकार लरिकोरी महिलाओं द्वारा समझा जा सकने वाला कोमल रहस्य, माथा-पच्ची करने पर भी सीता की समझ में नहीं आ सका ।

तथापि तस्या मनसि प्रभामयी प्रकल्पनैकप्रतिमा पदं दधे ।
यथाम्बुतल्पे प्रतिबिम्बताङ्गतश्चकास्ति वापीतटजोऽप्यनोकहः ।।४३।।

फिर भी (वरसम्बन्धी चर्चाओं को सुनने के फलस्वरूप) सीता के मन में दूल्हे की एक प्रभामयी काल्पनिक प्रतिमा उत्पन्न हो गई । ठीक उसी तरह जैसे बावली के किनारे उगा हुआ वृक्ष, पानी के ऊपर प्रतिबिम्बित होकर छविमान हो उठता है ।

प्रभातकाले प्रथमं प्रबुद्ध्य सा क्रियाश्च निर्वर्त्य निसर्गसम्मताः ।
सुतोयितं गेहविहङ्गमव्रजं सुभोजयामास कलानुरञ्जिनी ।।४४।।

प्रभात वेला में सर्व प्रथम जगकर तथा प्रातःकालोचित क्रियाओं को सम्पन्न कर-कौतुकों से मनोविनोद करने वाली वह बाला, पुत्रवत् पालित घर के विहग-समुदाय को चारा देती थी ।

ततश्चतुश्शालमुपेत्य सत्वरं प्रमार्ज्य वस्त्रैरभिषिच्य वारिभिः ।
धनुः पिनाकाख्यममेयविक्रमं शिवप्रदत्तं प्रणनाम साञ्जलिः ।।४५।।

एतदनन्तर, शीघ्रता पूर्वक चौसाल में पहुँच कर (वहाँ पर रखे हुए) भगवान् शङ्कर द्वारा प्रदत्त तथा अमोघ पराक्रम वाले पिनाक नामक धनुष को जल-राशियों से धोकर तथा वस्त्रों से पोंछ कर, हाथ जोड़ कर प्रणाम करती थी ।

उपेक्ष्य सूदान्स्वयमेत्य मैथिली महानसं तातरुचिप्रणोदिता ।
अथ प्रयस्तोख्यसपीतिसङ्कुलं पपाच सौहित्यकरं नु भोजनम् ॥४६॥

पिताश्री की (भोजन सम्बन्धी) अभिरुचि से प्रेरित होकर मैथिली अपने आप रसोईघर में पहुँचकर, रसोइयों को हटाकर प्रयस्त (घी में पकाये गये व्यञ्जन) उख्य (बटलोई में बघारे गये अन्नादि) तथा सपीति (साथ पिये जाने योग्य पेय) से युक्त तृप्तिदायक भोजन पकाया करती थी ।

प्रशिक्षिता केन कदा कथं कुतो विदेहजेयं शिशुभावविक्लवा ।
प्रकुर्वती कान्दविकान् गतस्मयान् विभासतेऽतर्कि मुदेति गेहिभिः ॥४७॥

'अबोध शैशव से युक्त सीता (को यह व्यञ्जन निर्माण कला) किसके द्वारा, कब, कैसे और क्यों सिखाई गई जो कि यह भोजनभट्ट रसोइयों को लज्जित करती हुई प्रशंसा पा रही है !' घर वाले उल्लासपूर्वक ऐसी तर्कना किया करते थे ।

प्रभूतवत्सेऽपि नृपालमन्दिरे गुणैरुदारैस्तनुकान्तिसम्पदा ।
जिगाय हृन्दि प्रसभं समीयुषां प्रजाजनानां क्षितिजैव नन्दिनी ॥४८॥

महाराज जनक के घर में ढेर सारे बच्चों के होते हुए भी, मनभावनी सीता (अपने) उदार गुणों तथा शरीर-लावण्य की सम्पत्ति से, आने वाले प्रजाजनों के हृदयों को बरबस जीत लेती थी ।

अनन्तबालोचितकेलिकल्पनैः कुटुम्बिपौराध्वगदर्शिमण्डलम् ।
विनोदयन्तीत्थमथो विदेहजा निनाय बाल्यं स्फुटयौवनान्तिकम् ॥४९॥

इस प्रकार, असंख्य शिशुजनोचित खेल-खिलवाड़ों से कुटुम्बियों, पुरवासियों, बटोहियों तथा दर्शकों की मण्डली को आह्लादित करती हुई सीता ने (अपने) बचपन को विकसित यौवन के समीप पहुँचा दिया ।

यत्काव्यं तरुणायते नवनवोन्मेषैर्लसद्वैभवं
सान्द्रानन्दमरन्दबिन्दुरुचिरं वाण्याशिषाऽनारतम् ।
राजेन्द्रस्य कृताव्ययं परिणतिं सर्गो द्वितीयोऽभजत्
वैदेहीशिशुकेलिवर्ण्यविषयः श्रीजानकीजीवने ॥५०॥

भव्यातिनव्य उन्मेषों के कारण विलसित वैभव वाला तथा अखण्डानन्द रूपी पुष्पासव के कारण रुचिर जो काव्य माँ सरस्वती के आशीष से निरन्तर तरुण प्रतीत होता है, राजेन्द्र की कृतिभूत उस महाकाव्य 'जानकीजीवन' में, सीता की बालक्रीडा वर्ण्यविषय वाला, यह दूसरा सर्ग परिणति को प्राप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्यैकपुण्यं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥५१॥

कवि श्री कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका स्कन्ध-प्रदेश (तना) है, श्री जयदेव के संस्कृत गीत जिसके पर्ण-समूह हैं, श्री विल्हण की सदुक्तियाँ जिसके फूल हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका एकमात्र पुण्य रूपी फल है, अभिराज राजेन्द्र का वह निसर्गजात काव्यद्रुम चिरस्थायी हो !!

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
शिशुकेलिसंज्ञको द्वितीयः सर्ग

(तृतीयः सर्गः)

इतीव सीता शिशुतैकसाक्षिणीं व्यतीत्य बालोचितकालशृङ्खलाम् ।
कुमारिकाभ्यस्तरतिप्रबोधिनीं स्मृतिंस्मनोजस्य शनैरवापिता ।।१।।

इस प्रकार, एकमात्र शैशव-साक्ष्य से युक्त बालोचित समय की अवधि को पार कर सीता धीरे-धीरे काम व्यापार से परिचित हो उठी, जो कि कुमारिकाओं को प्रिय-रतिभावना को जगाता है ।

अथाधुनाऽपाङ्गयुगप्रचारणं विलोलकर्णान्तमतर्कितं बभौ ।
कपोलपालीयुगलेऽपि पाटलं प्रभिन्नकोषं समदृश्यताधुना ।।२।।

अब विदेहनन्दिनी के दोनों अपाङ्गों (नेत्र के कोणप्रान्तों) का विस्तार अप्रत्याशित रूप से कर्णकुहरों तक सुशोभित होने लगा तथा (उनके) दोनों कपोलमण्डलों पर भी पूर्ण प्रस्फुटित पाटलपुष्प निरन्तर दृष्टिगोचर होने लगा ।

अलङ्करिष्णुत्वमहो विवर्धितं ललामबालोचितरूपवैभवम् ।
अपत्रपाऽपि स्वयमङ्गसेविनी जनिं प्रपेदे निभृतं प्रणोदिनी ।।३।।

कमनीय कन्याजनोचित लावण्यवैभव वाला आत्मालङ्करण का भाव भी आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गया तथा स्वयं शरीर में समा जाने वाली तथा चुपके-चुपके प्रेरणा प्रदान करने वाली लज्जा भी (सीता में) उत्पन्न हो गयी ।

फलोत्सुकेव प्रसवर्धिगर्विता बभार बाला नवयौवनागमम् ।
मरन्दनिस्यन्दवचोमधूनि सा तथैव दध्रे प्रतपच्छिलीमुखम् ।।४।।

पुष्पभार से गदराई तथा फलने के लिए उद्यत लता की तरह उस बाला ने नवयौवन के प्रभाव को धारण किया और उसी प्रकार (रूपलोभी नवयुवकों को सन्तप्त करने की तरह) भ्रमरों को सन्तप्त करते हुए उस लतारूपी सीता ने मकरन्दरस रूप वाङ्माधुरी को भी प्राप्त कर लिया ।

गृहे परास्कन्दिमिव प्रवेशितं प्रसह्य बाला न शशाक भर्त्सितुम् ।
विभाव्य गात्रेऽपि निजे प्रतिष्ठितं शिशुत्वचौरं नवयौवनाधमम् ।।५।।

घर में (किसी भेदिये द्वारा) बल पूर्वक प्रवेश कराये गये तस्कर की भाँति अपनी काया में प्रतिष्ठित हुआ अनुभव करके भी वह कोमलाङ्गी (सीता) शैशवापहारक अधम नवयौवन को भर्त्सित नहीं कर सकी ।

व्यलीककौलीनकठोरकर्दमे पदान्यहो कारयता दिवानिशम् ।
स्मरत्रपालुण्ठितबन्धुसौहृदप्रवञ्चितायाः किमु नापराधितम् ।।६।।

झूठी लोकनिन्दा रूपी भयानक पङ्क में रातदिन (सीता को) सञ्चरण करानेवाले (उस अधम नवयौवन ने) कामभाव जनित लज्जा के कारण दुष्प्राप्य बन्धुस्नेह से वञ्चिता सीता का भला कौन अपराध नहीं किया । (अर्थात् युवती होने के कारण सीता धीर-गम्भीर हो उठीं तथा बन्धु-बान्धवों से कतराने लगीं)

रतिप्रवीजाङ्कुरयुग्मसन्निभौ पयोधरौ वक्षसि वीक्ष्य वर्धितौ ।
विदूरकन्दर्पकथा व्यथालसा दुरन्तवैलक्ष्यमवाप जानकी ।।७।।

रतिभावना के बीजाङ्कुर-युगल सदृश पयोधरों को वक्षःस्थल में समुन्नत हुआ देख कर, कामवृत्तान्त से (प्रायः) अपरिचित तथा खेदमन्थर सीता अत्यन्त लज्जा का अनुभव करने लगी ।

नितम्बगुर्वी विनतांससौष्ठवा सुमध्यमा चारुचकोरलोचना ।
वशागतिश्चन्द्रमुखी मिताक्षरा चकर्ष सीरध्वजकन्यका न कम् ।।८।।

नितम्बभार से बोझिल, झुके हुए कन्धों की सुन्दरता से युक्त, शोभन कटि प्रदेशवाली, आकर्षक चकोर सदृश नेत्रों वाली, हस्तिनी के समान (मन्द) गतिवाली, चन्द्रमुखी तथा मितभाषिणी वैदेही ने किसको नहीं आकृष्ट कर लिया ?

समुन्नतत्वादवतंसताङ्गता मनोज्ञनासेति विभाव्य निष्कृतिम् ।
अहो प्रतिस्पर्धितया तयैव किं पयोधरौ तुङ्गतरौ बभूवतुः ।।९।।

'समुन्नत होने के कारण मनोहर नासिका अलङ्करण का पात्र बन गई है, इस प्रकार के परिणाम की कल्पना करके ही, उस उन्नत नासा की प्रतिस्पर्धावश क्या (सीता के दोनों) पयोधर उससे भी कहीं अधिक उन्नत हो उठे ?

विरुण्डमुण्डोभयमध्यराजितो गलस्तनुत्वेन हि मौक्तिकस्रजा ।
विभूष्यते वत्सनितम्बमध्यगा ककुद्मती किं शुशुभे कृशीयसी ॥१०॥

शीर्ष तथा शरीर (धड़) के बीच विद्यमान ग्रीवांश (सम्भवतः) कृशता के ही कारण मुक्ताहार से अलंकृत किया जाता है (शायद इसी विश्वास के कारण) वक्षःस्थल एवं नितम्ब के बीच विद्यमान (सीता की) कटि क्या अत्यन्त कृश होकर सुशोभित हुई ?

अनङ्गलक्ष्मीमृदुतल्पसन्निभां ललामरोमौघहरिन्मणिप्रभाम् ।
बभार सीता त्रिवलीमनुत्तमां रतेस्सपर्यास्थलिकामिवैव किम् ॥११॥

अनङ्ग-लक्ष्मी के लिए कोमल शैय्या के समान, कमनीय रोमावलि रूपी हरिन्मणि (मरकत) की प्रभावाली उत्तमोत्तम त्रिवली को सीता ने क्या कामप्रिया रति की समर्चनास्थली के ही रूप में धारण कर लिया ?

अशेषगात्रेऽस्तु तवैव वैभवं प्रयच्छ बाल्याय मुखन्तु केवलम् ।
इतीव मध्यस्थविरञ्चिनाऽवितं बभौ वहन्त्यक्षिनिलीनशैशवम् ॥१२॥

(वैदेही की शरीर का अधिकारी कौन हो ? यौवन अथवा शैशव ? इस विवाद में विधाता की मध्यस्थता का उल्लेख करते हुए कहा जा रहा है) सम्पूर्ण गात्र में तुम्हारी ही विभुता व्याप्त रहे, शैशव को केवल (सीता का) आनन दे दो । मानो इस प्रकार मध्यस्थता करनेवाले ब्रह्मा द्वारा संरक्षित तथा नेत्रो में छिपकर बैठे हुए शैशव का वहन करती हुई सीता सुशोभित होने लगी ।

कुवेलमास्ये करयोश्च पल्लवं जपासुमञ्चापि कपोलमण्डले ।
रदच्छदे बिम्बफलं दधद्विधिश्चकार सीतां किमरण्यदेवताम् ॥१३॥

मुखमण्डल में कमल, हाथों में पल्लव, कपोलमंडलों में बन्धूकपुष्प, तथा अधरोष्ठ में बिम्बफल विन्यस्त करते हुए विधाता ने सीता को क्या अरण्य देवता (वनदेवी) बना दिया ?

विवर्धितास्तण्डुलपूरमुष्टिभिर्विलोलबाल्ये कलहंसशावकाः ।
विदेहजामन्दगतिम्मदालसां रुषेव दृष्ट्वाऽभिरुचिं न पेदिरे ॥१४॥

अल्हड़ बचपन में धान से भरी मुट्ठियाँ खिलाकर पाले-पोसे गये कलहंसों के बच्चे (अब) वैदेही की यौवन भार से अलसाई मन्द गति को देख कर मानो (स्पर्धाजन्य) रोष के कारण (उसके प्रति) अनुरक्त नहीं होते थे ।

प्रभातवेलेव विहंगमस्वरा विलोलपाणिव्रततीष्टभास्करा ।
गते तु मध्येऽम्बरमर्कयौवने रराज मध्याह्नविभेव वल्गुका ॥१५॥

पक्षियों से मुखरित प्रभातवेला के समान विहगों के समान (कोमल तथा अस्फुट) स्वर वाली, चञ्चल बाहुलता (को थामनेवाले) अभीष्ट भास्कर (पाणिग्रही नायक) वाली सीता यौवन-सूर्य के मध्याकाश में पहुँचने पर मनोहर दुपहरिया की तरह प्रकाशमान हो उठी ।

शनैः प्रसूनावलिभारभङ्गुरा ध्वनद्द्विरेफोच्चयजातमत्सरा ।
स्वयंप्रभा सा स्वयमात्तसौरभा शशाम चाम्पेयलतेव जानकी ॥१६॥

धीरे-धीरे पुष्प-स्तवक के भार से अवनमित, भनभनाते हुए (रसलोभी) भ्रमरों की टोली से उद्विग्न, स्वयं देदीप्यमान तथा (कालपरिपाकवश) स्वयमेव सुरभित हो उठने वाली चम्पालता की तरह वह विदेहनन्दिनी शान्त (गम्भीर) हो गई ।

प्रवृद्धगात्राऽप्यनुबिद्धशैशवा गभीरभावाऽप्यविचार्यजल्पिनी ।
बभौ द्वयोर्यौवनबाल्ययोरियं विनोदखेलास्थलिकेव कामिनी ॥१७॥

नवयौवन के कारण विकसित शरीर वाली होने पर भी सीता का बचपना अभी गया नहीं था । स्वभाव गम्भीर हो चला था फिर भी बिना सोचे-समझे (शिशु जनोचित) सीता बोल देती थी । इस प्रकार वह कामिनी यौवन तथा शैशव के आमोद-प्रमोद की क्रीडास्थली-सी सुशोभित हो रही थी ।

जिगाय मन्दस्मितमट्टहासकं व्यचोरद्धार्ष्ट्यकथामपत्रपा ।
रुरोध कान्तारविहारकल्पनां स्वयम्भवान्तःपुरकावगुण्ठनम् ॥१८॥

(अब सीता के शैशवाभ्यस्त) उन्मुक्त हास को (यौवनजन्य) मन्द मुस्कान ने जीत लिया । धृष्टतापूर्ण (ढीठ) व्यवहारों को लज्जा ने समाप्त कर दिया तथा वनविहार की आकांक्षा को, स्वयं उत्पन्न होने वाले अन्तःपुरोचित अवगुण्ठन ने अवरुद्ध कर दिया ।

विनष्टचापल्यशुका खलीभवन्निरर्गलामोदपरम्परालता ।
वनस्थलीव प्रसभं विदेहजा धृता मृगव्यप्रिययौवनेन किम् ॥१९॥

जिसके चापल्य रूपी शुक विनष्ट हो गये हैं, निर्बाध आमोद-प्रमोद-परम्परा रूपी लतायें उजड़ गई हैं—ऐसी वनस्थली रूपी सीता क्या अहेरी प्रिय यौवन द्वारा वेगपूर्वक आक्रान्त हो उठी थी ?

दिवाप्रकाशोऽथ निशोथिनीमुखं दिवामणिर्वा निभृतं शिखावलः ।
बभूव तस्याः क इवाधिकप्रियो विदेहजेदं बुबुधे न चेतरः ॥२०॥

दिन का प्रकाश अथवा रात्रि की प्रारम्भ-वेला ! दिनमणि सूर्य अथवा शान्त दीपक ! उसे (सीता) कौन अपेक्षाकृत अधिक प्रिय लगता था—इसे अब सीता ही जानती थी, अन्य कोई व्यक्ति नहीं !

अथोद्गतं संहननान्तरक्षमं विलक्षणं पञ्चशरैकभूषणम् ।
मदानुषङ्गि प्रतिबुद्धयौवनं परश्वधीभूय गुणैकशाखिनाम् ॥२१॥

इसके अनन्तर, कायाकल्प कर देने में समर्थ, पञ्चशर रूपी एकमात्र आभूषण वाला, मदप्रसेक उत्पन्न करने वाला, यौवन को जगा देने वाला तथा गुणसमूह रूपी वृक्षों के लिए परशु सरीखा विलक्षण नवयौवन उत्पन्न हुआ ।

प्रपातनिर्बन्धरयो न साम्प्रतं व्यलोकि सीताचरणेषु केनचित् ।
न वा सखीभिर्व्यवहारसारणी तटङ्कषाऽदर्शि तदेकलम्बना ॥२२॥

अब (अचिरोपरूढयौवना हो जाने पर) सीता के पदविन्यासों में कोई व्यक्ति प्रपात सरीखा अमन्दवेग नहीं देख पाता था और नहीं सखियाँ सीता की व्यवहारपद्धति को अमर्यादित देख पाती थीं जिन (व्यवहारपद्धतियों) का कि वह एकमात्र अवलम्बन थी ।

निसर्गमृद्वी वचनामृताऽपगा बभूव सम्प्रत्यधिकं कृशोदरी ।
तथैव यातं करिणीविलम्बितं ह्यभूदकस्मादनुभावमण्डितम् ॥२३॥

स्वभाव से ही कोमल, वचनामृत की सरिता स्वरूपा सीता अब और भी अधिक क्षीण कटि वाली हो गई । और इसी प्रकार, उसकी गति भी अकस्मात् करिणी के समान विलम्बित (मन्द) तथा अनुभावों (भावाभिव्यञ्जक विकार) से अलंकृत हो उठी ।

पितुर्विदेहस्य भुजैकमञ्चिकां मुमोच तन्वी चटुलत्ववञ्चिता ।
रहस्यमाख्यातुमपि कृशीयसी न मार्गयामास सखीं न मातरम् ॥२४॥

(शैशवकालीन) चपलता से प्रवञ्चित उस तन्वी ने पिता जनक की भुजाओं रूपी एकमात्र मञ्चिका (गोदी को लज्जावश) को छोड़ दिया । कृशाङ्गी सीता (अब) गोपनीय बातों को बताने के लिये भी न सखी को ढूंढती थी, न माँ को !

अवैखरीकैव बुभोज भोजनं ह्यचातुरीकैव जगाद वाचिकम् ।
उपासनासद्मसमर्च्यविग्रहा शशाम बाला स्वयमेव मन्दिरे ॥२५॥

सीता (बिना एक शब्द बोले) भोजन कर लेती थी, बिना चतुराई (वाक्छल) के बात कह देती थी । देवालय में स्थापित पूजा-प्रतिमा के समान वह बाला मन्दिर (घर) में अपने आप शान्त हो गई ।

अये क्षणं पश्य विहङ्गयुग्मकं सखीति सान्द्रं लपिताऽपि मैथिली ।
प्रदत्तसङ्केतविलक्षभावनां विभावयन्ती न ददर्श तन्मुखम् ॥२६॥

'सखि ! क्षण भर के लिये विहगों की जोड़ी को देख ले' इस प्रकार सखियों द्वारा स्नेह पूर्वक सम्बोधित की जाने पर भी वैदेही, संकेतित पक्षियुगल को देखने से उत्पन्न लज्जाभावना का अनुभव करती हुई, उस ओर नहीं देखती थी ।

इयं लता हन्त न चूतसंश्रिताऽस्यतो विधास्ये परिरब्धभर्तृकाम् ।
सखीजने चेति विजल्प्य निस्सृते सदृष्टिरोष न चचाल मानिनी ॥२७॥

अरे ! यह लता (बेचारी) आम पर नहीं चढ़ पाई है, इसलिये इसको प्रियालिङ्गन में आबद्ध करूँगी' ऐसा कह कर सखी के (लतारोहणार्थ) आगे निकल पड़ने पर (भी) वह मानिनी आँखो में (कृत्रिम, रोष भर कर टस से मस नहीं हुई ।

अलं रुषा भामिनि ! का नु कन्यका भवत्यनूढा जनकैकलम्बिनी ।
तदेहि ते कान्तकथां निशामये कयाचिदेवं हसिता स्मितं दधे ॥२८॥

'अरी बावली ! क्रोध क्यों करती है ? भला कौन लड़की अनव्याही अथवा आजीवन पिता पर आश्रित रहती है ? इसलिये आ तुझे प्रियतम विषयक बातें सुनाती हूँ ।' किसी सखी द्वारा इस प्रकार छेड़छाड़ करने पर (सीता भी) मुसकाने लगी ।

इतीव मुग्धा सवयोभिरार्द्रिता समानगात्राभिरमेयनर्मभिः ।
कथं कथञ्चिद् विनिवार्य यौवतं निनाय कालं पृथगिष्टसंस्थितिः ॥२९॥

इसी प्रकार समवयस्क तथा समान गात्र वाली सहेलियों द्वारा, अनेक प्रकार के हँसी-मज़ाक से आह्लादित की गई वह मुग्धबाला, यथाकञ्चित् युवतियों की टोली से पीछा छुड़ा कर, अभीष्ट एकान्त स्थान में जाकर समय बिताया करती थी ।

सखीवचोभिस्स्वयमात्मशंसिनी कदाचिदादर्शतले विलोक्य सा ।
निजाङ्गयष्टिं युवधैर्यलोपिनीं विमन्यमानेव निनिन्द गोपितम् ॥३०॥

(अपने रूप-सौन्दर्य तथा प्रियतम के विषय में) सखियों की बातें सुन-सुन कर, आत्मनिरीक्षण करने वाली विदेहनन्दिनी ने किसी समय अपने आप दर्पण-तल में-युवजनों के धैर्य को लुप्त कर देने वाली अपनी अंगलतिका (काया) को निहारा और (लज्जावनततावश) उदास होती हुई सी चुपके-चुपके स्वयं को खूब कोसा ।

तथाप्यहम्भावविलुप्तचेतनं मनो न तस्या निजरूपवैभवम् ।
शशाक वेत्तुं न किलेदमूह्यते भवेन्न कस्यात्मगुणेषु वासना ॥३१॥

इतना होने पर भी यह समझ लेना उचित नही है कि (रूपसौन्दर्य विषयक) सुभगम्मन्यता के कारण विलुप्त चेतना वाला सीता का मन, निश्चित रूप से अपने रूपवैभव को अनुभव करने में समर्थ नहीं हो सका ! अपने गुणों में भला किसका अनुराग नहीं होता ?

दिवानिशं पञ्चशरानुशंसनात् प्ररूढरागैव विदेहनन्दिनी ।
अथाधिशय्यं दयितार्थजागरं समाचरन्ती स्मरसन्निधिं ययौ ॥३२॥

रात-दिन (अन्तःपुर तथा सखियों की टोली में) कामविषयक चर्चाओं के कारण, प्रणयभावना से आविष्ट, विदेहतनया सीता अब (रात्रिवेला में) शैय्या के ऊपर प्रियतम की चिन्ता में जागरण-व्रत का पालन करती हुई कामदेवता की शरण में जा पहुँची ।

गतार्धसुप्ति विनिमीलितेक्षणा घनान्धकारेष्वपि भूरिदर्शना ।
व्यतर्कयद् वारिरुहेक्षणं प्रियं कदापि तन्वी कमपि स्वयंवृतम् ॥३३॥

भलीभाँति नेत्रों को बन्द करके अर्धनिद्रा में पहुँची हुई तथा सघन अँधियारे में भी प्रभूत दर्शन वाली तन्वङ्गी सीता कभी-कभी स्वयं वरण किये गये, किसी कमलनयन प्रियतम की (स्वप्न में) कल्पना किया करती थी ।

समुत्थिते कान्तकिशोरकल्पने पयोदनीलाङ्गकलेबरं प्रियम् ।
प्रभोज्ज्वलं पार्वणचन्द्रिराननं गुणाश्रयं चण्डधनुष्मतां वरम् ॥३४॥

(मन में) किशोर प्रियतम की कल्पना उठने पर, प्रत्येक परिस्थिति में भूमि-सुता सीता, सुन्दर मुखमण्डल वाले (किसी ऐसे) भ्रमर (रसिक नायक) की कल्पना करती थी जो जलधर-सदृश नीलाभ अंगों तथा शरीर वाला, प्रभा से देदीप्यमान, पूर्णचन्द्र के समान आनन वाला, सद्गुणों का भण्डार, दुर्धर्ष धनुर्धारियों में श्रेष्ठ—

भटं महोरस्कमनन्तपौरुषं प्रशस्तमुक्षत्रकुलैकनन्दनम् ।
दशासु सर्वास्वपि मेदिनीसुता व्यकल्पयच्चारुमुखं शिलीमुखम् ॥३५॥

चौड़ी छाती वाला, अपार पराक्रम से सम्पन्न, महावीर तथा प्रशंसनीय, शोभन क्षत्रिय-कुल का एकमात्र आह्लादक हो !

न रूपलावण्यमनोज्ञमार्दवं हृदि श्रितं स्वप्नविधौ यदीयकम् ।
स एव कोऽपि प्रसभं पदं दधे विदेहजाया हृदये नरोत्तमः ॥३६॥

स्वप्न के क्षणों में (भी) जिसका रूप-लावण्य तथा मञ्जुल कोमलता हृदय में नहीं बसा सकी-वही कोई श्रेष्ठ पुरुष (दाशरथि राम) सीता के हृदय में वेगपूर्वक रस-बस गया ।

अये स कीदृग्भविता स्मरोपमो मदङ्गमाध्वीरसिको मधुव्रतः ।
विचिन्तयन्तीत्थमिदं मदालसा रतिप्रभा सा शयनाङ्कमागता ॥३७॥

'मेरी अङ्गमदिरा का रसास्वादन करने वाला वह स्मरोपम मधुव्रत (नायक) भला कैसा होगा ?' इस प्रकार, इस तथ्य का चिन्तन करती हुई मद के कारण अलसाई हुई तथा (कामप्रिया) रति के समान प्रभावाली वह सीता शैय्या के ऊपर जाती थी ।

न यत्प्रदातुं प्रबभूव जागरस्सुखं मनःक्षुण्णमभीष्टसङ्गजम् ।
न चैव सुप्तिर्न च कान्तकल्पना प्रसह्य भाग्यं प्रददौ तदेव शम् ॥३८॥

मनसा आकांक्षित तथा प्रिय-सङ्गम से उत्पन्न होने वाले जिस सुख को प्रदान करने में न जागरण समर्थ हो पाया, नहीं निद्रा (स्वप्न) और न ही प्रियतम-विषयक कल्पना, (सीता को) वही सौख्य भाग्य ने निर्बाध गति से दे दिया ।

वियुज्यमानालिकदम्बकाश्रयं ह्यवाप्स्यमाणप्रियचारुसङ्गमम् ।
गृहीतधैर्योडुपकं नु तन्मनस्ततार सन्देहचलत्पयोनिधिम् ॥३९॥

छूटते हुए सहेलियों की टोली के आश्रय वाला तथा प्राप्त होने वाले प्रियतम के हृद्य-सङ्गम वाला सीता का मन धैर्य रूपी उडुप (लघु नौका-घण्डई) का सहारा लेकर सन्देह के चञ्चल पयोनिधि को पार कर गया ।

बलाहकानां सततानुधावनैर्यथा हि वर्षासु निसर्गपाण्डुरा।
धृतप्रसादाऽपि मुदी विखिद्यते तथैव खेदं समवाप जानकी ॥४०॥

जैसे पावस ऋतु में बादलों की अटूट धमाचौकड़ी के कारण, स्वभावतः पाण्डुरवर्णा तथा निर्मलता को धारण करती हुई भी चन्द्रिका खेद (दैन्य) का अनुभव करती है, उसी प्रकार सीता ने भी (यौवनवेला में) दैन्य का अनुभव किया।

तथापि तन्वी जडतामलिम्लुचं जुगोप यत्नैरनुरागकन्दलम्।
शिखावलादप्यधिकं विचिन्त्यते प्रवातकम्पाद्धि तदीयवारणम् ॥४१॥

(यौवनोचित मनोभाव की अनिश्चितता में) फिर भी तन्वङ्गी सीता ने मुग्धता का अपहरण करने वाले अनुराग के अङ्कुर को यत्नपूर्वक सुरक्षित रखा। क्योंकि दीपक से भी अधिक चिन्ता, आँधी के झटके से उसके निवारण की की जाती है।

मनोगतं तत्सदकाण्डताण्डवं व्यपह्नुवानैव कुटुम्बिमण्डलात्।
निगीर्णनिर्यच्छितिधूमडम्बरा पतिंवरा साऽग्निशिखेव सम्बभौ ॥४२॥

मन में विद्यमान उस अनुकूलवेदनीय अकाण्डताण्डव (अनवसरघटना) को परिवार के सदस्यों से भली भाँति छिपाती हुई, पतिकामा वैदेही—पहले निगले गये तथा बाद में बाहर निकलते हुए काले धूमबिम्ब से युक्त अग्निशिखा के समान पूर्ण शोभित हुई।

मधुकरीव सरोरुहसम्पुटप्रविलसन्मकरन्दरसालसा।
निजकृतैः कमलोदरबन्धनैः परिगताऽपि रराज पितुर्गृहे ॥४३॥

कमलकोरक में भरे हुए मकरन्द-रस का पान करके अलसाई हुई भ्रमरी सरीखी सीता, स्वयं निर्मित कमलोदर-बन्धनों से जकड़ी होने पर भी पिता के घर में सुखपूर्वक निवास करती रही।

यत्काव्यं तरुणायते नवनवोन्मेषैर्लसद्वैभवं
सान्द्रानन्दमरन्दबिन्दुरुचिरं वाण्याशिषाऽनारतम्।
राजेन्द्रस्य कृतावयं परिणतिं सर्गस्तृतीयोऽभज-
त्सानन्दं स्मरजन्मवर्ण्यविषयश्श्रीजानकीजीवने ॥४४॥

नव्यातिनव्य उन्मेषों के कारण विलसित वैभववाला तथा अखण्डानन्द रूपी पुष्पासव के कारण रुचिर जो काव्य, माँ सरस्वती के आशीष से निरन्तर तरुण प्रतीत होता है, राजेन्द्र की कृतिभूति उस महाकाव्य 'जानकीजीवन' में 'स्मरोदय' वर्ण्य विषय वाला यह तृतीय सर्ग सानन्द समापन को प्राप्त हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्यैकपुण्यं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥४५॥

कविश्री कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका स्कन्धप्रदेश (तना) है, श्रीजयदेव के संस्कृत गीत जिसके पर्णसमूह हैं, श्री विल्हण की सदुक्तियाँ जिसके फूल हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा जिसका एकमात्र पुण्यफल है, अभिराज राजेन्द्र का वह निसर्गजात काव्यद्रुम चिरस्थायी हो !!

इतिश्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
स्मराङ्कुरसंज्ञकस्तृतीयः सर्गः

चतुर्थः सर्गः

या श्रीश्चिरन्तनसखी कमलालयाख्या
नारायणस्य नवलाम्बुधरैकधाम्नः ।
त्रेतायुगे जनकवेश्मनि सैव जाता
रामप्रिया दशमुखान्वयनाशनाय ॥१॥

नूतन जलधर रूपी एकमात्र आभा वाले नारायण की 'कमलालया' नामक चिरन्तर सहचरी जो लक्ष्मी हैं, त्रेतायुग में वही रावण के वंश का विनाश करने हेतु, रामप्रिया (सीता) के रूप में महाराज जनक के राजप्रासाद में अवतरित हुईं।

रामोऽभिरामचरितो मदनाङ्गयष्टि—
स्त्वाजानुबाहुररविन्दविलोचनोऽसौ ।
साक्षात्स्वयं निखिललोकपतिर्मुरारि—
र्वंशे रघोरवततार किलाध्ययोध्यम् ॥२॥

अभिराम चरित, कामदेव सदृश (मनोज्ञ) व्यक्तित्व वाले, आजानुबाहु, कमलनयन, समस्त लोकों के अधीश्वर साक्षात् भगवान् विष्णु स्वयं भी राम बनकर, अयोध्या नगरी में (महाराज) रघु के वंश में अवतरित हुए।

बालोचिताविरलकेलिकलाभिरिष्टान्
स्निग्धाञ्जनान् प्रसविनीः पितरं प्रवृद्धम् ।
भ्रातृन्समानसरणीन् पुरपौरवर्गान्
आह्लादयन् सुमुखदाशरथिर्विरेजे ॥३॥

शिशुजनोचित (अपनी) अविरल क्रीडाकलाओं से अभीष्ट स्नेहीजनों, माताओं, बूढ़े पिता, समवयस्क भाइयों तथा नगरवासी पौरजनसमूह को आह्लादित करते हुए, सुमुख श्रीराम सुशोभित हुए।

यस्याविता दशरथोऽधिपचक्रवर्ती
मन्त्री सुमन्त्रपदभाङ् मघवा वयस्यः ।
कल्याणमङ्गलहितानुभवी वशिष्ठो
रामो युवा जनपदं न कथं तदूर्ध्वम् ।।४।।

नृप-चक्रवर्ती दशरथ जिसके शासक हों, सुमंत्र संज्ञा वाला (व्यक्ति) जिसका प्रधानामात्य हो, देवराज इन्द्र जिसका मित्र हो, महर्षि वशिष्ठ जिसके कल्याण, मङ्गल और हित की चिन्ता करने वाले हों और श्रीराम-जिसके उत्तराधिकारी हों, वह कोशल जनपद क्यों न सर्वातिशायी हो ?

पुण्यैर्जलैर्गतिमती सरयूरयोध्यां
पादाम्बुजप्रणयिनो नितरां सिषेवे ।
देवो ववर्ष सलिलं समये निकामं
नित्यं ववौ मलयजान्वितगन्धवाहः ।।५।।

(श्रीराम के) चरण-कमल में अनुराग रखने वाली, प्रवाहमयी सरयू नदी (अपनी) पवित्र जलराशि से निरन्तर अयोध्या नगरी की सेवा करती थी । इन्द्र देवता भी समय-समय पर भरपूर वर्षा करते थे तथा चन्दन-सुरभि से आवेष्टित हवाएँ प्रतिदिन वहा करती थीं ।

दुःखं न जातु ददृशे पुरि नापमृत्यु—
र्नैवात्ययोऽपि महतां वचनीयता नो ।
कौलीनभीतिरथवा द्रविणापहारो
राज्यं प्रशासति नृपे त्वजनन्दनेऽस्मिन् ।।६।।

अजनन्दन महाराज दशरथ के शासन की अवधि में, अयोध्यापुरी में कभी भी दुख, अकालमृत्यु, महापुरुषों का संकट, शिकवा-शिकायत, लोक-निन्दा का भय अथवा धनापहरण नहीं दिखाई पड़ता था ।

एवं विभूतिनिचिते रघुवंशभानौ
जाते ककुप्सु नितरामनपायसौख्ये ।
प्राच्याम्महो दधति पद्मपतौ कदाचिद्
द्रागाजगाम किल गाधिसुतो महर्षिः ।।७।।

इस प्रकार राघवकुलसूर्य महाराज दशरथ के ऐश्वर्य-मण्डित होने पर तया दिग्दिगन्तों में निरन्तर अक्षुण्ण सुख-समृद्धि व्याप्त होने पर कभी प्राची दिशा में पद्मपति सूर्य के प्रकाशमान होते ही महर्षि विश्वामित्र वेगपूर्वक आ पहुँचे।

आकर्ण्य गाधितनयं स्वयमागतं तं
गादीभवन्नरपतिः प्रणिदेशभूमौ।
सोत्कस्ससार तनयैर्महिषीभिराक्तः
पाद्यादिकव्यतिकरैरभिनन्दनार्थम् ॥८॥

प्रतिहार-भूमि में स्वयं उपस्थित हुए उन गाधिनन्दन को सुनकर श्रद्धा-विह्वल महाराज दशरथ, पुत्रों तथा महिषियों के साथ, पाद्यजलादि (चरणोदक) सामग्रियों द्वारा अभिनन्दन करने हेतु, उत्कण्ठित होकर आगे बढ़े।

प्रक्षाल्य सादरमुभौ चरणौ गरिम्णा
तस्मै समर्प्य चरणोदकविष्टरञ्च।
देवोचितं सुमधुपर्कमपि प्रयच्छन्
सद्योऽभिवाद्य निजगाद विनीतवाचम् ॥९॥

बड़ी गरिमा के साथ, आदर पूर्वक दोनों चरण पखारकर, महर्षि विश्वामित्र को मुँह धोने के लिये जल, आसन तथा देवोचित स्वादिष्ट मधुपर्क भी प्रदान करते हुए (राजा ने) प्रणामाञ्जलि सहित, विनीत वाणी से तत्काल निवेदन किया।

यन्मे शचीश्वरकृपाकरुणाकटाक्ष-
च्छिन्नाहिताऽप्रतिमराजसुखं किलास्ते।
यन्मे यशोंऽशुकमिदं ककुभङ्गनाभि-
स्सन्धार्यते मृदुकलेवरगोपनाय ॥१०॥

देवराज इन्द्र की कृपा तथा करुणा (ममता) भरी चितवन मात्र से विच्छिन्न शत्रुओं वाला अर्थात् निष्कण्टक यह जो मेरा अप्रतिम राजवैभव है, और यह जो मेरा यश रूपी क्षौमवस्त्र दिग्वनिताओं द्वारा (अपनी) कोमल काया ढँकने के लिये भलीभाँति धारण किया जा रहा है।

यन्मे कलत्रतनयोदितभूरिभाग्यं
स्वैरं चकास्ति भुवने शमनं हृदीव।
चञ्चद्वपुस्समदसिन्धुरदानशोभाऽऽ
लानावनीप्रवहदम्बुसमूहसिद्धा ॥११॥

हृदय में विराजित शमन (शान्ति) के समान, पत्नियों तथा पुत्रों के कारण समुदित पुष्कल मात्रा वाला मेरा जो सौभाग्य त्रैलोक्य में निर्बाध गति से प्रकाशित हो रहा है और आलानभूमि (हस्तिशाला की फर्श) पर बहती हुई जलराशियों से सिद्ध, दीप्त शरीर वाले मदमत्त गजों के मदजल की जो शोभा है।

दाक्षिण्यभावललिता मम चित्तवृत्ति-
र्देवे गुरौ पितरि यत् कलितावकाशा।
यद्वाऽतिथिप्रणयपारणमस्ति हार्दं
भृत्यायितस्य मम सेवनदर्पितस्य ॥१२॥

देवताओं, गुरुजनों तथा पितरों में निरन्तर लगी रहने वाली तथा दाक्षिण्यभावना से ओतप्रोत जो मेरी मनोवृत्ति है अथवा भृत्यवत् आचरण करने वाले तथा सेवाभिमानी मेरी जो अतिथिजनो की प्रणयपारण-स्वरूपिणी प्रीति (निष्ठा) है।

देव प्ररूढमहिमन् विनमद्दयालो
ज्ञातम्मया तदखिलं भवदेकमूलम्।
यावद्गुणा वनभुवां प्रभवेत् समृद्धि-
र्नासौ किमस्ति विभुतैव वसन्तकस्य ॥१३॥

देव ! महामहिम ! विनीतजनो के प्रति दयालु ! मैं अनुभव करता हूँ कि एकमात्र आप ही मेरी उन समस्त समृद्धियों के मूल हैं। वन में उत्पन्न वृक्षों की जो कुछ भी समृद्धि होती है—क्या वह सब ऋतुराज वसन्त की ही विभुता नहीं है ?

सोऽहं समर्च्यचरणाम्बुजचञ्चरीकः
कुर्यामहो किमु सदौपयिकं हितन्ते।
प्राणैरपि प्रयतनं प्रविधातुमीहे
सत्याश्रयैकरुचिको भगवन् किमन्यत् ॥१४॥

समर्चनीय (आपके) चरणकमल का भ्रमरभूत वह मैं शोभन उपायों से सिद्ध हो सकने वाले आपके किस प्रियकार्य को सम्पन्न करूँ ? सत्य को ग्रहण करने में ही एकमात्र रुचि रखने वाला मैं और अधिक क्या कहूँ ? हे पूज्यपाद ! प्राणों के मूल्य पर भी (आपकी आकांक्षा-पूर्ति के लिए) प्रयत्न करना चाहता हूँ।

वाचंयमे नरपतावथ गाधिसूनुः
स्निग्धेक्षणापहृतभूपमना जगाद ।
राजन्नमेयभुजविक्रम ! चापपाणौ
धात्रीं प्रशासति भयं त्वयि जन्मिनां किम् ।।१५।।

महाराज दशरथ के मौन साध लेने पर अब (अपनी) स्नेह भरी चितवन से राजा के मन को बरबस आकृष्ट करते हुए महामुनि विश्वामित्र बोले—हे राजन् ! हे अपरिमेय भुजविक्रम ! हाथ में धनुष लेकर आपके प्रशासन करते भला प्राणियों को क्या भय हो सकता है ?

वाता वहन्ति नितरां सुमगन्धवाहा
मेघाश्च्यवन्ति भुवि सम्भृतवारिधाराः ।
किंवाऽधिकेन रघुनन्दन ! लोकपाला-
स्सर्वेऽपि भूरिविभवैस्त्वयि कामयन्ते ।।१६।।

पुष्पगन्ध से अनुप्राणित हवायें निरन्तर बहती हैं और जलधारा से ओत-प्रोत मेघ पृथ्वीतल पर वर्षा करते हैं। हे रघुनन्दन ! और अधिक क्या कहूँ ? समस्त लोकपाल प्रभूत ऐश्वर्य के साथ आपकी (ही) हितकामना करते हैं।

प्राप्तस्तथापि यदहं ननु सत्यसन्धं
स्यात्तस्य कोऽपि सुमहान् स्पृहणीयहेतुः ।
जाती प्रसूनविकला यदि माधवे स्या-
न्निश्चप्रचं विजयते गिरिशाभिशापः ।।१७।।

फिर भी मैं जो सत्यपालक आपके पास आया हूँ तो उसका कोई न कोई अत्यन्त महान् तथा स्पृहणीय कारण होना (ही) चाहिये। यदि बसन्त ऋतु में (भी) चमेली पुष्पहीन है तो निश्चय ही देवाधिदेव शङ्कर के शाप का परिणाम है (चमेली का अपना कोई दोष नहीं है।)

ख्यातौ नृशंसचरितौ भुवि ताडकेयौ
यज्ञक्रियाव्रततपोनिधिधूमकेतू ।
आद्योऽभिधानमुपयाति सुबाहुमन्यो
मारीचमेव नृपते ! भयमस्ति ताभ्याम् ॥१८॥

राजन् नृशंस आचरण वाले तथा यज्ञ-याग, व्रत-उपवास एवं तपश्चर्या के निधानभूत तपोधनियों के लिये धूमकेतु के समान (विघ्नकर) ताड़का के दो लड़के भूमण्डल में विख्यात हैं। पहले का नाम है सुबाहु और दूसरे का मारीच ! उन्हीं दोनों से (हमें) भय है।

आरब्ध एव हवनेऽध्वरजातदीक्षैः
ऋत्विग्भिरेत्य मखवेश्मनि यातुधानौ ।
मांसास्थ्यसृङ्मलसुराकरकादिवर्षै-
र्यज्ञं विखण्ड्य कुरुतो विजयाट्टहासम् ॥१९॥

यज्ञ की दीक्षा लिये हुए ऋत्विजों द्वारा हवन प्रारम्भ करते ही, दोनों राक्षस यज्ञशाला में घुसकर, मांस, हड्डी, रुधिर, मल, मदिरा तथा पाषाण आदि की वर्षा से यज्ञ का विध्वंस करके विजयाट्टहास किया करते हैं।

सोऽहं भवन्तमवनीश ! समागतोऽस्मि
तन्नाशनाय भवतस्तनयौ हि नेतुम् ।
हेमन्तजातजडिमानमपोह्य लोकं
पातुं प्रभू न सुहृदौ मधुमाधवौ किम् ॥२०॥

हे अवनीश ! उन राक्षसों के विनाशार्थ आपके दोनों पुत्रों (राम तथा लक्ष्मण) को ले जाने ही के लिये मैं आप तक आया हूँ। हेमन्त ऋतु से उत्पादित जड़ता को दूर करके, लोक की रक्षा करने में क्या मित्रभूत मधु और माधव (चैत्र यथा वैशाख) महीने समर्थ नहीं है ?

रामं सलक्ष्मणमुदारधियं प्रदाय
प्रीतिं विधेहि मयि राघव ! रक्ष लोकम् ।
एतौ कृतान्तजयिनौ रणदुर्मदोध्वौं
ऐक्ष्वाकवीमृतसृतिं प्रवरां विधत्तः ॥२१॥

लक्ष्मण सहित, उदार मति वाले श्रीराम को देकर हे राघव! मुझे कृपान्वित करें तथा लोक को संरक्षण दें। कृतान्तविजयी तथा श्रेष्ठ रणबाँकुरे ये दोनों (भाई) इक्ष्वाकु वंश के अनुरूप, श्लाघनीय ऋतमार्ग का अनुसरण करने वाले हैं।

आकर्ण्य कौशिकवचांसि महीमहेन्द्र—
स्तूष्णीम्बभूव शनकैर्ग्लपिताननेन्दुः।
लोलन्नमत्तरलतारकनेत्रपद्मे
प्रालेयशीकरनते विमृशन् बभासे ॥२२॥

महीपति दशरथ विश्वामित्र की बातों को सुन कर चुप हो गये। धीरे-धीरे उनका मुखचन्द्र मुरझा गया। नीचे झुकी हुई, अस्थिर तथा तरल पुतलियों वाले नेत्र कमलों को, जो कि ओसकणिकाओं (के भार) से झुके प्रतीत होते थे, पोंछते हुए बोले।

प्राप्ता मया परिणते वयसीष्टियत्नैः
पुत्रा इमे कुशिकनन्दन! पूज्यपाद!!
तस्माद् विलक्षणरतिं सह सिन्धुतोयैः
पाठीनवृत्तिमिव सोऽनुभवामि नित्यम् ॥२३॥

हे पूज्यपाद कुशिकनन्दन! मैने वृद्धावस्था में पुत्रेष्टि-प्रयासों द्वारा इन पुत्रों को प्राप्त किया है। इसलिये, समुद्रजल के साथ मछलियों की जीवनवृत्ति के समान (अपने पुत्रों के साथ) मैं भी निरन्तर एक विलक्षण आसक्ति का अनुभव करता हूँ।

तत्राप्ययं सुतवरो मम रामचन्द्रः
प्राणाधिकोऽस्त्यखिलजीवितनिर्विशेषः।
चैतन्यमेव वपुषां श्लथनेत्रदीप्तिः
रामान्तमेव कुशलं भुवि मेऽपि मान्यम् ॥२४॥

उन (चारों पुत्रों) में भी मेरा ज्येष्ठ पुत्र राम, मुझे प्राणातिप्रिय है; मेरी सम्पूर्ण प्राणशक्ति का प्रतिरूप है; अङ्गों की चेतना है, मेरी बूढ़ी आँखों की रोशनी है (अधिक क्या कहूँ, बस यही समझिये कि) राम के रहते ही धराधाम पर मेरा भी कुशल-मङ्गल स्वीकरणीय है।

प्राणैर्विना दशरथीभवितुं न शक्तो
दृष्टिं विना दृगुभयं ननु मोघजन्म।
किं वा करोमि तदहं वितथं न भाष
रामं विना क्षणमपि श्वसितुं न शक्यम् ॥२५॥

प्राण (भूत राम) के बिना दशरथ बनकर जीवित रहना भी सम्भव नहीं ! दृष्टि (भूतराम) के बिना दोनों नेत्रों का अस्तित्व ही व्यर्थ है। मैं क्या करूँ ? आपसे असत्य नहीं कहता, राम के अभाव में एक पल भी जीवित रहना मेरे लिये सम्भव नहीं है।

गादीभवन्नरपतिश्चमरैणनेत्रो-
त्सङ्गस्फुटाम्बुनिवहालिपतवैखरीकः।
वक्तुं शशाक कृपणो न मनागधीर-
श्चित्रार्पितस्य मुषितस्य गतिं जगाम ॥२६॥

चमरमृग के समान नेत्रों की कोर में भरे, परिस्फुट अश्रुभार से स्तम्भित वाणी वाले, कृपण तथा अधीर भूपति कातर होते हुए कुछ कह नहीं सके। उनकी मुद्रा चित्रलिखित प्रवञ्चित व्यक्ति जैसी हो गई।

दृष्ट्वा नृपस्य करुणां करुणाकरोऽसौ
प्रेमाश्रुपूरविनिमज्जितयाचनीयः।
प्राह स्म नैव किमपि प्रतिबद्धधैर्यः
कालोचितं प्रकटयन्ति वचो विधिज्ञाः ॥२७॥

महाराज दशरथ की (पुत्रविषयक) करुणा को देखकर करुणा-वरुणालय उन महामुनि विश्वामित्र की याचना प्रेम के कारण विगलित अश्रुप्रवाह में डूब गई। धैर्य धारण करते हुए उन्होंने भी (अपने मुँह से) कुछ नहीं कहा। व्यवहार-वेत्ता लोग उचित अवसर पर ही वाणी प्रकट करते हैं।

तस्मिन् क्षणेऽथ सहसैव गुरुर्वशिष्ठो
भूपं विषण्णहृदयं तमुपाजगाम।
वृत्तं निशम्य निखिलं स्मितकोपगूढं
प्रोवाच सादरमिदं कृतभूपलक्ष्यम् ॥२८॥

अकस्मात् उसी समय कुलगुरुमहर्षि वशिष्ठ, सन्तप्त हृदय वाले भूपाल के पास आ पहुँचे। समस्त वृत्तान्त को सुन कर, मन्द मुस्कान के साथ महाराज दशरथ को सम्बोधित करते हुए उन्होंने आदरपूर्वक यह कहा।

राजन्नलं बहु विजल्प्य मुधा प्रमुह्य
मामाऽवमत्य चिरवाञ्छितभागधेयम्।
नायं प्रयाचितुमिहोपययौ महर्षि-
र्दातुं परार्ध्यविभवं पुनरेव तुभ्यम् ॥२९॥

हे राजन ! बहुत अधिक कहने-सुनने से कोई लाभ नहीं। व्यर्थ का मोह मत करिये और न ही चिरप्रतीक्षित अपने सौभाग्य की अवमानना कीजिये ! यह महर्षि विश्वामित्र आपसे कुछ माँगने के लिये अयोध्या में नहीं आये हैं बल्कि (इसके विपरीत) आपको ही श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए आये हैं।

एषोऽस्ति गाधितनयस्स्फुरदूर्ध्वरेता
दिव्यास्त्रयोगकुशलोऽनभिभूततेजाः।
एनं विधाय गुरुगौरवभूरिधाम्ना
प्रीतं प्रभो ! तव सुतौ निशितौ भवेताम् ॥३०॥

राजन् ! यह गाधिनन्दन विश्वामित्र दिव्यास्त्रों के प्रयोग में प्रवीण, अप्रतिहत तेज से सम्पन्न तथा विश्वविश्रुत ऊर्ध्वरेता हैं। गुरु-गौरव से युक्त प्रभूत ऐश्वर्य से इन्हें श्रीमण्डित करके (अर्थात् इन्हें अपना गुरु स्वीकार करके) तुम्हारे दोनों पुत्र महान् बन जायेंगे।

एवं वशिष्ठवचसा व्यपनीतमोहः
सत्त्वोदयं ह्युपगतो ननु कोशलेन्द्रः।
पुत्रौ प्रगाढमुपगूह्य कृतप्रणामौ
प्रादात्स्वयं कुशिकनन्दनपूतपाणौ ॥३१॥

इस प्रकार (गुरुवर्य) वशिष्ठ की बातों से विलीन (पुत्र-विषयक अन्ध) मोह वाले तथा सात्त्विक भावना के उदय से विकसित कोशलेन्द्र महाराज दशरथ ने, प्रणाम निवेदित करने वाले दोनों बेटों को कस कर छाती से लगाया और स्वयं (उन्हें) विश्वामित्र के हाथ में सौंप दिया।

निष्क्रामति द्विपदविक्रमिणीष्टयोगे
रामे सहोदरयुते नगरात्तदानीम्।
अट्टाधिरूढपुरवासिदृगम्बुवाहा-
स्तप्ताश्रुसीकरझरीं ववृषुस्समन्तात् ॥३२॥

नरविक्रमी उन श्रीराम के भाई सहित अयोध्यापुरी से, अनुकूल नक्षत्र में बाहर निकलते समय अटारियों पर (दर्शनार्थ) बैठे हुए नागरिकों के नेत्र रूपी जलधरों ने, चारों ओर से सन्तप्त आँसुओं की अजस्र वर्षा करनी प्रारम्भ कर दी।

धात्र्यस्तु वत्सलतया भुवि सम्मुमूर्च्छुः
संक्रीडनैकरुचयो रुरुदुर्वयस्याः।
प्रस्थानकौतुकमुपेयुषि रामभद्रे
भद्रं बभूव तनुकं किल न प्रजानाम् ॥३३॥

कौशल्यादि मातायें पुत्रस्नेह के मारे पृथ्वी पर मूर्च्छित हो गईं तथा मात्र क्रीडा में अभिरुचि रखने वाले (श्रीराम एवं लक्ष्मण के) बाल-सखागण सिसकने लगे। (इस प्रकार) श्रीराम का प्रस्थान-कौतुक सम्पन्न होते समय निश्चय ही प्रजाजनों को तिल भर भी सुख नहीं हुआ।

दैन्यं ययौ सपदि संहननत्रयं त-
त्पश्चाददृष्टिमभजन् रथनेमिधुर्याः।
अन्ते रथाङ्गगतिमर्दितधूलिनिर्य-
द्धूमप्रभाकपिशभाऽपि शनैर्विलुप्ता ॥३४॥

पहले तो वे तीनों मूर्तियाँ (विश्वामित्र, राम तथा लक्ष्मण) दीनता को प्राप्त हुईं (अर्थात् धूमिल पड़ गईं) इसके बाद रथ की तीलियाँ तथा घोड़े आँखों से ओझल हो गये और अन्त में रथचक्र की गति से पिसी हुई धूलि से प्रकट होने वाली, धुएँ के रंग की मटमैली आभा भी धीरे-धीरे लुप्त हो उठी।

रामे गतेऽपहृतनूतननन्दनैवं
गृष्टिः पयोभरतिरोहितमेदिनीका।
क्रीडत्सरोवरटयूथविरावतुल्यै-
र्हम्भारवैरिव पुरी पुनराजुहाव ॥३५॥

इस प्रकार श्रीराम के चले जाने पर—अपहृत कर लिये गये नवजात बछड़े वाली तथा (वात्सल्य के कारण) दुग्ध धाराओं से भूमि को भिगो देने वाली नवप्रसूता गाय के समान, जलराशि से अभिषिक्त भूमि वाली वह अयोध्या नगरी, जलविहार करने वाले सरोवरस्थ राजहंसों के कलरव के बहाने मानो रँभा-रँभा कर (राम तथा लक्ष्मण को) पुनः बुलाने लगी।

निर्यद्दिनैः कतिपयैरथ राघवौ तौ
दिव्यायुधानि परिगृह्य गुरोः प्रसादात्।
सम्प्रेष्य चापि दनुजाञ्छिशुलीलयैवं
कीनाशमन्दिरमवापतुरात्मसौख्यम् ॥३६॥

इसके अनन्तर, बीतते हुए कुछ ही दिनों के बाद श्रीराम और लक्ष्मण गुरु विश्वामित्र की कृपा से दिव्यास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके तथा खेल ही खेल में सुबाहु आदि राक्षसों को यमपुरी भेज करके हार्दिक सुख को प्राप्त हुए।

वेदेतिहासबहुशास्त्रपुराणवृत्तैः
काव्योपभेदरतिशास्त्रकलादिभिश्च।
रात्रौ रघोः परिवृढद्वितयस्य मेधां
विद्योतयन् कुशिककीर्तिधरस्तुतोष ॥३७॥

वेद, इतिहास, षट्शास्त्र, पुराणवार्ता, काव्यभेद, कामशास्त्र एवं चौसठ कलाओं आदि के द्वारा, दोनों रघुकुमारों की मेधा को रजनीवेला में विद्योतित करते हुए महामुनि विश्वामित्र परम सन्तुष्ट हुए।

इत्थं क्रमेण विगतेषु दिनेषु तस्मिन्
पुण्याश्रमे मुनिवरस्य विलीनचिन्तम्।
बालातपे स्फुटति तूर्णमुपाजगाम
भृत्यो विदेहनगराद्धयपृष्ठरूढः ॥३८॥

इस प्रकार धीरे-धीरे दिनों के बीतने के क्रम में, मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र के चिन्तारहित बातावरण वाले उस पवित्र आश्रम में (एक दिन) पौ फटते ही एक अश्वारोही सन्देशवाहक, तीव्रगति से विदेहनगर से आ पहुँचा।

तस्मादधीत्य कुशलं ननु मैथिलानां
पत्रं विलोक्य प्रविधाय च सङ्गतार्थम्।
भृत्यं विसर्ज्य शनकैर्वृतसत्क्रियं तं
प्रोवाच हार्दमहितं वचनं मुनीन्द्रः ॥३९॥

उस सन्देशवाहक से मिथिलावासियों का कुशल-क्षेम जानकर (राजा-जनक द्वारा प्रेषित) पत्र को देखकर तथा पत्रलिखित समाचार को हृदयंगम कर और आदर-सत्कार प्राप्त उस भृत्य को विसर्जित करके महामुनि विश्वामित्र ने स्नेहलसित वाणी में (राम से) कहा।

दैवं ह्युपैति रघुवीर ! सपक्षभावं
सिद्धं निमंत्रणसुपत्रिकया तदेतत्।
वत्सौ ! श्व एव तरणौ सति सम्मुखीने
गन्तास्म ऊर्ध्वनगरीं मिथिलाभिधानाम् ॥४०॥

हे रघुवीर ! निश्चय ही ईश्वर हम लोगों पर कृपालु है, यह तथ्य इस निमन्त्रण-पत्रिका से (ही) सिद्ध हो गया है। प्रिय बच्चों ! कल सूर्योदय होते ही हम लोग मिथिला नामक नयनाभिराम नगरी को प्रस्थान करेंगे।

सीरध्वजो वितनुते निजकन्यकाया
लावण्यतोयनिधिमन्थनजातलक्ष्म्याः।
चञ्चत्स्वयंवरमहोत्सवसंविधानं
दृग्भिर्निपीय यदहो भविता सुखन्ते ॥४१॥

विदेहराज सीरध्वज, लावण्य-सिन्धु के मंथन से उद्भूत लक्ष्मी-स्वरूपा अपनी कन्या (सीता) के प्रख्यात स्वयंवर-महोत्सव की तैयारियाँ कर रहे हैं। उस उत्सव को नेत्रों से सानुराग देखकर अवश्य ही तुम दोनों को आनन्द प्राप्त होगा।

सीतेति नाम रुचिरं रुचिरानना सा
दीप्यत्कपोलकलकान्तिजितप्रवाला।
बाला सितेन्दुसुमुखी ननु पूर्वदृष्टा
सद्यः स्मृता स्मृतिपथं क्वचिदभ्युपैति ॥४२॥

दमकते हुए कपोलमण्डलों की मनोहर कान्ति से प्रवाल (मूंगे) को भी न्यग्भूत कर देने वाली, शोभन मुख वाली, शुक्लपक्षीय चन्द्रमा के समान गौरवदना और निश्चय ही कभी पहले देखी गई वह बालिका, अभी-अभी स्मरण करने पर मुझे याद आ रही है। बड़ा प्यारा नाम है उसका—सीता !

चाम्पेयपुष्पपरिपाण्डुरकोमलाङ्गी
साक्षादसौ मधुजितोऽनुगतैव लक्ष्मीः
तां सुन्दरीं परिणयेच्छृणु रामभद्र !
नारायणः स्वयमथो यदि वा तदंशः ॥४३॥

चम्पक-पुष्प के समान पीतगौर वर्ण वाली वह कोमलाङ्गी सीता, नारायण की अनुगामिनी साक्षात् लक्ष्मी ही है। सुनो रामभद्र ! उस सुन्दरी को या तो स्वयं भगवान् विष्णु वरण करेंगे अथवा कोई उन्हीं का अंशभूत महापुरुष !

एवं प्रशंस्य बहुभिर्वचनोपहारै-
र्लीलामयीं जनकजां स्मृतसौम्यशोभाम् ।
पादाब्जपीडनसुखं पुलकानुमेयं
ताभ्यां मुनिस्त्वनुभवन्सहसा निदद्रौ ॥४४॥

इस प्रकार स्मरण की गई सौम्य शोभावाली, लीलामयी सीता की अनेक वचनोंपहारों से प्रशंसा करके महामुनि विश्वामित्र, श्रीराम तथा लक्ष्मण द्वारा प्रदत्त, रोमाञ्चकारी चरणकमल-संवाहन-सुख का अनुभव करते हुए अकस्मात् सो गये।

गुरुवचोभिरुपेतकुतूहलो जनकजेरितभूरिघनव्यथः ।
धृतिपयोधिविगाहनवेपितो रघुवरोऽपि ययौ शयनीयकम् ॥४५॥

गुरुवर्य विश्वामित्र की बातों को सुनकर कुतूहल (उत्कण्ठा) से आक्रान्त, सीता (विषयक चर्चा) से उत्पन्न की गई प्रभूत घनी व्यथा वाले तथा संयम रूपी सागर में अवगाहन करने के कारण कम्पितगात्र श्रीराम भी (इसके बाद) शैय्या पर गये।

तस्यां रात्रौ मनसिजकथानायिकाऽऽकृष्टचेताः
काकुत्स्थोऽसौ क्षणमपि दृशौ मीलितुं नो शशाक

स्मारं स्मारं जनकतनयां वीतनिद्रं त्रियामां
रामोऽनैषीत्कथमपि च तां सोदराद् गोपितात्मा ॥४६॥

कन्दर्पकथा की नायिकाभूता सीता से आकृष्ट मनोवृत्ति वाले रघुनन्दन उस रात में, क्षण भर के लिये भी आँख मूंदने में समर्थ नहीं हो सके। उचटीहुई नींद वाले श्रीराम ने जनकनन्दिनी का बारम्बार स्मरण करते हुए तथा लक्ष्मण से अपनी मनोव्यथा को छिपाते हुए ही यथाकथञ्चित् वह रात बिता दी।

यत्काव्यं तरुणायते नवनवोन्मेषैर्लसद्वैभवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं वाण्याशिषाऽनारतम्।
राजेन्द्रस्य कृतावयं परिणतिं सर्गस्तुरीयोऽभज-
च्छ्रीमद्राघवपूर्वरागविषयश्श्रीजानकीजीवने ॥४७॥

नव्यातिनव्य उन्मेषों के कारण विलसित वैभव वाला तथा अखण्डानन्द रूपी पुष्पासव के कारण रुचिर जो काव्य, माँ सरस्वती के आशीष से निरन्तर तरुण प्रतीत होता है, राजेन्द्र की कृतिभूत उस महाकाव्य 'जानकीजीवन' में (सीता के प्रति) श्रीराम के पूर्वराग से संवद्ध यह चतुर्थ सर्ग पूर्णता को प्राप्त हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम्।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्यैकपुण्यं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥४८॥

कविश्री कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका स्कन्ध-प्रदेश (तना) है, श्री जयदेव के संस्कृत गीत जिसके पर्णसमूह हैं, श्रीविल्हण की सदुक्तियाँ जिसके फूल हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा जिसका एकमात्र पुण्यफल है—अभिराज राजेन्द्र का वह निसर्गजात काव्यद्रुम चिरस्थायी हो !!

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
राघवानुरागसंज्ञकस्तुरीयः सर्गः

पञ्चमः सर्गः

अथ गाधिसुतो दिनोदये श्रयति प्राच्यविरेणुदिङ्मुखम् ।
मिथिलाभिमुखं प्रचक्रमे लघु सम्पादितनित्यसत्क्रियः ॥१॥

जैसे ही प्रभातवेला ने धूलिरहित प्राची दिग् विभाग को अलंकृत किया, गाधिनन्दन (महर्षि विश्वामित्र) शीघ्रता-पूर्वक अपनी दैनिक शोभन क्रियाओं को सम्पन्न कर, मिथिलापुरी की ओर चल पड़े।

अनुजग्मतुरेव धन्विनौ गुरुवर्यं भुवि मान्यगौरवम् ।
धृतबाणशरासनावुभौ रघुवीरौ ननु रामलक्ष्मणौ ॥२॥

धनुष तथा बाण (हाथ में) धारण किये, दोनों धनुर्धारी रघुवंशी राम तथा लक्ष्मण ने पृथ्वीतल पर प्रथित गौरव वाले गुरुवर्य विश्वामित्र का अनुसरण किया।

विविधं पुरवाटिकावनं नगरग्रामसुरालयादिकम् ।
गिरिनिर्झरकूपपल्वलं कलयन्तौ ससृतुः पुरस्सरम् ॥३॥

नाना प्रकार के नगर, उद्यान, वन, महानगर, गाँव, मन्दिर, पर्वत, प्रपात, कूप तथा लघु सरोबर आदि का दर्शन करने हुए दोनों भाई आगे बढ़े।

गणनाथषडाननान्वितं विचरन्तं तुहिनाचलान्तरम् ।
पथि वीक्ष्य कपालमालिनं मुदमापुः पथिकास्तमीश्वरम् ॥४॥

(अपने पुत्रद्वय) गणेश तथा स्वामिकार्तिक के साथ हिमगिरि की उपत्यका में विचरण करने वाले कपालमाली भगवान् शङ्कर के समान (राम तथा लक्ष्मण से अन्वित) उन मुनिश्रेष्ठ को मार्ग में देख कर बटोहियों को परम प्रसन्नता हुई।

पथि जानपदानुरञ्जनं वपुषा वाक्प्रसरैश्च दृष्टिभिः ।
रघुवीरकिशोरकौ समादधतौ मैथिलभूमिमाययौ ॥५॥

दोनो रघुवीर-किशोर (राम तथा लक्ष्मण) मार्ग में अपने व्यक्तित्व, वाग्व्यवहार तथा (नेहभरी) चितवन से जनपदवासियों को अनुरञ्जित करते हुए मिथिला प्रदेश की धरती पर आ पहुँचे ।

परितस्सरणिं कृषीवलैः क्रियमाणं वपनाभिषेचनम् ।
हलकर्षणघासवारणं परिवीक्ष्याभवतां स्मिताननौ ॥६॥

मार्ग के दोनों ओर किसानों द्वारा की जाती हुई बुवाई, सिंचाई जुताई तथा निराई (आदि क्रियाओं) को भलीभाँति देखकर दोनों भाइयों के मुख-मण्डल पर मुस्कान बिखर गई ।

अभितोऽपि गृहान्तरोत्थितैः कलगीतानुगतैर्घरट्टजैः ।
हृदयैणककूटवागुरैर्ध्वनिभिर्भूरिसुखं कृतं तयोः ॥७॥

मार्ग के दोनों ओर (ग्रामस्थ) घरों के भीतर से उठने वाली, हृदय रूपी मृग के लिये कूटवागुरा (बन्धनरज्जु) सदृश, मधुर गीतों से अनुप्राणित (महिलाओं द्वारा) चक्की पीसने की ध्वनियों ने दोनों भाइयों को प्रभूत सुख दिया ।

शिशुचापलयौवनोभयप्रतिबद्धौ प्रविलोलमानसौ ।
कृतविस्मयहर्षवेदनैर्गृहदृश्यैर्मुखरायितौ चिरम् ।८॥

शैशवोचित चपलता तथा यौवन—दोनों से नियंत्रित अतएव अत्यधिक चञ्चल मनोवृत्ति वाले युगलबन्धु, विस्मय, हर्ष तथा सहानुभूति उत्पन्न करने वाले गाँव-घर के दृश्यों को देखकर बड़ी देर तक उसी विषय में बातें करते रहे ।

गुरुसन्निधिजातसम्भ्रमौ समुदाचारपरायणावुभौ ।
कुतुके प्रभवत्यपि द्रुतं परिमातुं न विशेकतुश्चिरम् ॥९॥

गुरुवर्य विश्वामित्र की सन्निधि (उपस्थिति) के कारण हड़बडाए हुए तथा शिष्योचित मर्यादा का निर्वाह करने में निपुण राम तथा लक्ष्मण, (ग्रामदृश्यों को देखने के लिये) बलवती उत्कण्ठाओं के वेगपूर्वक उत्पन्न होने पर भी, चिरकाल तक उन्हें नियंत्रित कर पाने में समर्थ नहीं हो सके ।

कृतरम्यशिरोऽवगुण्ठनां वरहस्ताहितशाटिकाञ्चलाम् ।
मणिबन्धविलोलकङ्कणां मृदुशिञ्जारवहृष्टहंसकाम् ॥१०॥

सिर के ऊपर मनोहर घूँघट काढ़े हुई, दूल्हे के हाथ में विद्यमान साड़ी के आँचल वाली, कलाई में खनखनाते कंगन पहने तथा चूड़ियों की मिठासभरी ध्वनि से राजहंसों को हर्षित करने वाली—

प्रमदानिकुरम्बमण्डितां कलगीताभिभवन्मितस्वराम् ।
उपभूधरनन्दिनीगृहं ह्युपयान्तीं वधुकामपश्यताम् ॥११॥

महिलाओं के झुण्ड में घिरी हुई तथा मनोहर गीतिकाओं में दबे हुए अस्फुट वार्तास्वर वाली (किसी नवोढा) दुलहन को दोनों भाइयों ने भगवती दुर्गा के मन्दिर की ओर जाती हुई देखा ।

तदधीत्य दृगास्पदीकृतं कमनीयं रतिरागवर्धनम् ।
ययतुश्शनकैरथाद्भुतं सहजातौ सुखसारमान्तरम् ॥१२॥

अपूर्वदृष्ट, आन्तरिक उल्लास देने वाले, कमनीय तथा नायिकाविषयक प्रीति एवं अनुराग को बढ़ाने वाले उस दृश्य को नेत्रों से देख कर तथा उसका अभिप्राय समझकर दोनों सहोदर धीरे-धीरे आगे बढ़े ।

मुषितेव तदास्यमार्दवैः पथि काचिज्जलकुम्भवाहिनी ।
न शशाक पदात्पदं ह्यपि श्रितदैन्या पुरतोऽभिलङ्घितुम् ॥१३॥

राम और लक्ष्मण की मुखमाधुरी देख कर ठगी सी कोई पनिहारिन मार्ग में (अनुरागवश) कातर हो उठी और एक डग भी उन्हें लाँघ कर आगे नहीं बढ़ी सकी ।

प्रपदीनदुकूलमण्डिता कटिकाञ्चीकृतचारुझङ्कृतिः ।
शकुनं नु चकार बल्लवी नवनीतैः पथि काचिदुन्मनाः ॥१४॥

रेशमी घाँघरे से श्रीमण्डित तथा कटिविराजित करधनी से मनोहर झंकार उत्पन्न करने वाली कोई ग्वालिन (श्रीराम के रूपसौन्दर्य को देख कर) उत्कंठित होकर, माखन खिला कर (उनका) मंगल-शकुन करने लगी ।

कृतचारुमनोऽनुरञ्जनौ सुकुमारौ पृथिवीशनन्दनौ ।
श्रमखेदमथाध्वगोचितं तनुकं नो कलयाम्बभूवतुः ॥१५॥

(जनता-जनार्दन का) आह्लादकारी मनोरंजन करते हुए वे दोनों सुकुमार राजकुमार, तिल भर भी पथिकोचित श्रम (थकावट) और खेद का अनुभव नहीं कर पाये।

विविधैरनुभूतिसञ्चयैर्धृतधैर्यौ प्रसमीक्ष्यकारिणौ ।
मिथिलापुरमाससादतू रघुवीरौ गुरुसङ्गचारिणौ ॥१६॥

नाना प्रकार की (तीती-मीठी) अनुभूतियों को बटोर कर धैर्य धारण करने वाले, अत्यन्त मेधावी तथा गुरु विश्वामित्र के अनुयायी वे दोनों रघुकुमार (अन्ततः) मिथिलानगरी के पास पहुँच गये।

अथ दूरत एव सा पुरी समदर्शि प्रयुताट्टमण्डिता ।
ध्वजतोरणमन्दुरालयैर्वलभीतुङ्गविटङ्ककैर्युता ॥१७॥

इसके अनन्तर हजारों अट्टालिकाओं से विभूषित, पताका, तोरण (सिंह-द्वार), घुड़साल, राजमहल, वलभी (बारादरी) तथा विटङ्कों (मञ्चों) से युक्त वह नगरी दूर से ही दिखाई पड़ने लगी।

प्रतिवीथि कृताभिषेचना सलिलैश्चन्दनगन्धवासितैः ।
सितदीप्रवितानमण्डलैः प्रतिशृङ्गाटकमञ्चितच्छविः ॥१८॥

चन्दन की मँहक से सुवासित जलधाराओं से वह नगरी, गली-गली में अभिषिक्त (प्रक्षालित) कर दी गई थी। धवलवर्ण वाले देदीप्यमान वितान-मण्डलों (खेमों) द्वारा प्रत्येक चतुष्पथ पर वह नगरी शोभायमान थी।

निमिकीर्तिकथैकगायनी गणिकाचेटविटादिमण्डली ।
क्वचिदध्वगनेत्रहारिणी हृदि पुर्या नयनातिथीकृता ॥१९॥

नगर के बीचो-बीच कहीं पर बटोहियों के नेत्रों को आकृष्ट कर लेने वाली तथा (विदेह वंश के प्रतिष्ठापक महाराज) निमि की कीर्तिकथा का विशेष रूप से गायन करने वाली, नर्तकियों, चेटों तथा विटों की मण्डली श्रीराम तथा लक्ष्मण द्वारा देखी गई।

क्वचिदभ्रतलावलम्बिनी वलभीभूरिगवाक्षमण्डिता ।
वियदङ्गणचारुसंश्रया शुशुभे देवविमानसन्निभा ॥२०॥

वह मिथिलापुरी कहीं पर देवविमान के सदृश गगनतल का अवलम्बन किये हुई, उत्तुङ्ग निवास-कक्ष तथा अनेक झरोखों से सुशोभित तथा आकाश की अँगनाई का मनोहर आश्रय प्राप्तकर शोभा बिखेर रही थी ।

क्वचिदालयसम्मुखस्थले स्फुटविच्छित्तिचयं ह्युपेयुषी ।
ननु यंत्रजलोर्ध्वसन्ततिर्नगरर्द्धिं प्रकटीचकार सा ॥२१॥

कहीं, प्रासाद की द्वारस्थली पर, सुस्पष्ट सुषमा-समूह बिखेरने वाली, फौव्वारे की ऊर्ध्वगामिनी जलधारा (फुहार) मिथिलापुरी के वैभव को ख्यापित कर रही थी ।

विपणीरपि तावपश्यतामयुतोपायनवस्तुसंग्रहाम् ।
अधरोत्तरमूल्यकारिभिः खचितां क्रेतृभिरात्मलोलुपैः ॥२२॥

हजारों उपहार-वस्तुओं के संग्रह वाली मिथिला की बाजारों को भी दोनों भाइयों ने देखा जो दाम घटाने-बढ़ाने वाले तथा स्वभाव से ही लालची खरीदारों से भरी-पुरी थी ।

वरवेणुमृदङ्गझल्लरीपणवाद्यैर्मिथिलानुशंसनम् ।
उपराजपथं सभागृहे क्रियमाणं गणयाम्बभूवतुः ॥२३॥

राजमार्ग के ही समीप (किसी) सभागृह में, सुरीली बाँसुरी, मृदङ्ग, झल्लरी तथा पणव (नगाड़ा) आदि के साथ गाये जाते हुए मिथिलापुरी के प्रशंसागीतों को राम तथा लक्ष्मण ने सुना ।

अथ नागररामणीयकं कलयन्तौ रघुनन्दनावुभौ ।
मिथिलेशनिवासगोपुरं गुरुणाऽलक्षयतां सहैव तौ ॥२४॥

इसके अनन्तर, नगर की रमणीयता का प्रत्यक्ष दर्शन करते ही करते दोनों रघुनन्दनों ने, गुरुवर्य विश्वामित्र के ही साथ मिथिलेश महाराज जनक के राजप्रासाद का सिंहद्वार देखा ।

अधिराजगृहं समागतं जनको गाधिसुतं मुनीश्वरम् ।
अवगत्य चरानुजल्पनैस्सचिवैस्सार्धमथाययौ द्रुतम् ॥२५॥

सेवकों की अटपट बातों से गाधिनन्दन महामुनि विश्वामित्र को राज-प्रासाद में आया जानकर महाराज जनक, सचिवों के साथ वेगपूर्वक (अभिनन्दनार्थ) आ पहुँचे ।

प्रणनाम स दण्डसन्निभो मुनिपादाम्बुजयोर्निपत्य हि ।
नयनोच्छ्रितरागवेदिभिस्सलिलैश्चाशु ममाज सांग्रहम् ॥२६॥

महामुनि विश्वामित्र के चरणकमलों में गिर कर राजा जनक ने दण्डवत् प्रणाम किया और आग्रह-पूर्वक, नेत्रों में समुत्पन्न, अनुराग को प्रकट करने वाले अश्रुओं से पल भर में (उन चरणों को) भिगो दिया ।

भवदङ्घ्रिरजोऽतिलिप्सवे ननुमह्यं भवदीयदर्शनम् ।
पुरुषार्थचतुष्टयादपि प्रतिमानाधिकमेति साम्प्रतम् ॥२७॥

(राजा ने कहा) आपके चरणों की धूलि में अत्यन्त आसक्ति रखने वाले मेरे लिये इस समय (सीतास्वयंवर के अवसर पर) आपका दर्शन निश्चय ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से भी अधिक प्रतीत हो रहा है ।

हरिदश्वसमागमादृते प्रभवेत्कश्शतपत्रवैभवे ।
गुरुवर्य वशीकृताखिल ! प्रणयिप्रेम्णि भवान्यदीशते ॥२८॥

महामहिम गुरुवर्य ! स्वजनों की प्रीतिरक्षा करने में जो आप समर्थ हैं (वह उचित ही है) दिनमणि सूर्य के उदय के अतिरिक्त भला कमलों को विकसित करने में कौन समर्थ हो सकता है ?

इदमद्य मदीयमङ्गलं भवदैश्वर्यकृतात्मरक्षणम् ।
उपयाति मनोरथस्थितं शुभलक्ष्यं ननु दूरवर्तितम् ॥२९॥

आपकी कृपा से अपनी रक्षा करने वाला मेरा यह मङ्गल-महोत्सव आज (मेरे) मनोरथ के केन्द्रभूत (किन्तु) दूरवर्ती अर्थात् दुष्प्राप्य (सीता विवाह रूपी) शुभलक्ष्य के समीप पहुँच रहा है ।

इति भूरिवचोनिवेदनैर्मुनिवर्य्योपचितिं विधाय सः ।
उदतिष्ठदवाप्तसम्बलोऽवनिनाथो भुवि यावदूर्ध्वदृक् ॥३०॥

इस प्रकार प्रभूत वाचिक निवेदनों द्वारा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र की अर्चना करके तथा उनका सम्बल (आशीष) प्राप्त करके, ऊर्ध्वमुख महाराज जनक जैसे ही पृथ्वी पर उठ खड़े हुए।

नवनीलबलाहकप्रभं शरदभ्रद्युति दारकद्वयम् ।
हृतचित्तमनङ्गमन्दिरं स दृशोः प्राघुणिकीचकार तत् ॥३१॥

(तब तक) नूतन जलधर के समान श्यामल वर्ण (राम) तथा शरत्कालीन मेघ के समान धवलवर्ण (लक्ष्मण) कुमारों की उस जोड़ी को महाराज जनक ने नेत्रों का पाहुन बनाया। वह जोड़ी मन को चुरा लेने वाली तथा अनङ्गमन्दिर-स्वरूपा थी।

तदलभ्यललाममार्दवं पृथिवीलोकनियत्यभावितम् ।
हृतचेतन आत्मवञ्चितो जनको वीक्ष्य बभाण कौशिकम् ॥३२॥

भूलोक की भाग्यपरिधि से बहिर्भूत उस अलभ्य, सुमनोहर कोमलता को निहार कर, अपहृत चेतना वाले तथा अपनी ही इन्द्रियों द्वारा ठगे गये राजा जनक विश्वामित्र से पूछ बैठे।

बटुकौ गुरुवर्य ! काविमौ स्मरशोभौ सरसीरुहेक्षणौ ।
कृतिनो ननु कस्य भूपतेर्हृदयानन्दकरौ यशोधरौ ॥३३॥

हे गुरुदेव ! कन्दर्प के समान शोभा वाले, कमलनयन ये दोनों कुमार कौन हैं ? ये कुमार किस भाग्यशाली नरेश के हृदय को आह्लादित करने वाले तथा उसकी कीर्ति के विस्तारक हैं ?

विगलच्चितिरेतदीक्षणैरुपयातोऽस्मि विमूढसंस्थितिम् ।
समवाप्य समृद्धिमैश्वरीं विकलः स्वैरिव भैक्ष्यलम्पटः ॥३४॥

ईश्वरप्रदत्त (अप्रत्याशित) धन-सम्पदा को प्राप्त कर जैसे कोई दरिद्र भिखारी असन्तुलित हो उठता है, उसी प्रकार इन कुमारों के दर्शन (मात्र) से विगलित चेतना वाला मैं मूढ़ों जैसी स्थिति को प्राप्त हो रहा हूँ।

इति भूरिपदं निशम्य तच्छ्रुतिसारं मिथिलेशवाचिकम्।
स्मितसम्पुटलालिताधरं निजगाद प्रणयामृतं मुनिः ॥३५॥

इस प्रकार प्रभूत शब्द-समूह वाले तथा कर्ण सुखद महाराज जनक के वाचिक (वाग् व्यापार) को सुनकर मुस्कानों से अधरों को कृतार्थ करते हुए विश्वामित्र ने अमृत में सनी प्रीतिकर बात कही।

शममेत्य शृणु प्रजापते! रघुवीरौ भुजशौर्यदर्पितौ।
निजवंशकुवेलभास्करौ प्रतिभातौ किल रामलक्ष्मणौ ॥३६॥

महामुनि विश्वामित्र ने कहा—प्रजेश्वर! शान्त भाव से सुनिये। अपने (सूर्य) वंश रूपी कमल के लिये सूर्य सदृश, बाहुबल के स्वाभिमानी तथा रघु की वीर सन्तति—ये दोनों राम और लक्ष्मण सुशोभित हो रहे हैं।

दनुजौ मखविघ्नकारकौ जननी चापि तयोर्नु ताडका।
निखिलः पिशिताशनान्वयः सकृदाभ्यां यमसेवकीकृताः ॥३७॥

यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करने वाले (मारीच तथा सुबाहु) दोनों राक्षस, उन दोनों की माँ—ताड़का तथा दानवों का सारा कुनवा एक ही बार में इन दोनों भाइयों द्वारा यमलोक भेज दिया गया।

कुतुकेन वशीकृताविमौ मिथिलां कोशलभूपनन्दनौ।
वसुधेन्द्र! मदेकसङ्गिनौ सुभगौ ह्लादयितुं समागतौ ॥३८॥

हे वसुधेन्द्र! कौतूहल द्वारा आकृष्ट मनोवृत्ति वाले, मेरे साथ रहने वाले ये दोनों सुमुख कोशलनरेस दशरथ के पुत्र, मिथिलापुरी को आह्लादित करने के लिये (ही) आये हैं।

वदतीति मुनौ जनाधिपो विनिगूहद्धृदपारकामनः।
हृतवागिव मौनमाश्रितो रघुनाथास्यमृगाङ्कदर्शनैः ॥३९॥

मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र द्वारा इस प्रकार कहने पर (अपने) हृदय की अपार आकांक्षाओं को अनभिव्यक्त करते (छिपाते) हुए, गूंगे के समान प्रतीत होने वाले राजा जनक, श्रीराम के मुखचन्द्र-दर्शन मात्र से चुप हो गये।

क्षणमेव विदेहनन्दिनीवरसाम्यं त्वनुमाय राघवे।
हरिचन्दनसेकसान्त्वनां प्रययौ भूमिपतिर्विलक्षणाम् ॥४०॥

पल भर में ही महाराज जनक ने राघव श्रीराम (के व्यक्तित्व) में सीतोचित वर की समता का अनुमान करके, हरिचन्दन-लेप से उत्पन्न होने वाली विलक्षण शीतलता का अनुभव किया।

तदनन्तरमाशुगो नृपः स्वयमेत्यातिथिवासवेश्मनि।
निरवद्यविधिं ह्यचीकरच्छयनार्चाशनरञ्जनापरम् ॥४१॥

इसके अनन्तर, शीघ्रतापूर्वक सञ्चरण करने वाले भूपाल ने अतिथियों के निवास-गृह में पहुँचकर (विश्वामित्र, राम तथा लक्ष्मण के) शयन, पूजन, भोजन तथा सुख-सुविधा से सम्बद्ध प्रशंसनीय प्रबन्ध (सेवकों से) करवाया।

अथ क्लृप्तविधौ क्षितीश्वरे स्फुटमावेदितमञ्जुसत्क्रिये।
मुनिशासनमाप्य सत्वरं व्युपयाते निजमन्दिरालयम् ॥४२॥

स्पष्ट रूप से रमणीय सत्कार प्रस्तुत करने वाले, पहुनाई सम्पादित करने वाले महाराज जनक के—मुनिवर्य की आज्ञा पाकर, सत्वर गति से अपने राजप्रासाद में चले जाने पर।

अपनीय पथिश्रमं मुदाऽलघु सम्पादितविष्टरक्रियः।
विदधद्रघुवीरकौतुकं मुनिराहस्म सुधाञ्चितं वचः ॥४३॥

बड़ी देर तक बिस्तरे पर सुखपूर्वक पड़े रह कर तथा मार्ग की थकावट को खुशी-खुशी दूर कर, श्रीराम का कुतूहल संवर्धित करते हुए मुनिवर्य विश्वामित्र ने स्नेहपगी बात कही।

सवनं ननु कामयेऽचिरं तदलं कालविमर्द्दनैः सुतौ!
अवचीय सुमानि सत्वरं मखभूमौ किल मां विपश्यतम् ॥४४॥

पुत्रो! समय गँवाने से कोई लाभ नहीं। मैं यथाशीघ्र (सायंकालीन) अग्निहोत्र सम्पन्न करना चाहता हूँ। इसलिये सुनिश्चित रूप से तुम लोग (पूजा के) फूल चुनकर मुझसे शीघ्रतापूर्वक यज्ञशाला में मिलो।

समवाप्तगुरुप्रणोदनौ नृपकान्तारमथ प्रतिष्ठितौ ।
विनयानतवेषपेशलौ श्रितहासौ ननु रामलक्ष्मणौ ॥४५॥

गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त करके हास-परिहास में डूबे हुए तथा विनय-व्यापारोचित वेष धारण करने के कारण सुदर्शन राम और लक्ष्मण (दोनों भाई) अब महाराज जनक के (विलास) वन में प्रविष्ट हुए ।

मदमत्तपिकाभिनन्दितौ कलहंसारवभूरिसत्कृतौ ।
वनकेकिकुलाभिवन्दितौ शुकपारावतसारिकेक्षितौ ॥४६॥

मतवाले कोकिलों द्वारा अभिनन्दित, कलहंसों के कलरवों से अत्यधिक सत्कृत, वनैले मयूरों की टोली से वन्दना किये गये तथा शुकों, सारिकाओं एवं कबूतरों द्वारा (सोत्कण्ठ) देखे गये ।

वनपुष्करिणीविहारिभिर्विहगैश्चापि रिरंसुभिश्चिरम् ।
उपजातकुतूहलौ तदा शनकैः प्रविविशुर्वनान्तरम् ॥४७॥

वन की पोखरी (तलैया) में जलविहार करने वाले तथा प्रियारमण के अभिलाषी (अन्यान्य) विहगों द्वारा, बड़ी देर तक संवर्धित कौतूहल वाले वे दोनों भाई, तब धीरे-धीरे उद्यान के भीतर प्रविष्ट हो गये ।

वहतिस्म समीरणोऽनिशं विविधामोदभरं बभार यः ।
कुसुमात्कुसुमं परिभ्रमन् रघुनाथागमवृत्तवेदकः ॥४८॥

नाना प्रकार की सुरभियों का भार ढोने वाला, एक फूल से दूसरे फूल तक चहलकदमी करने वाला तथा श्री रघुनन्दन के मिथिलागमन-समाचार का निवेदक समीर निरन्तर बहने लगा ।

अवनीपवनीमपश्यतां धृतमाकन्दकपुष्पशाटिकाम् ।
रतिलम्पटरोदरैर्विटैरनुयातां रजसा विभूषिताम् ॥४९॥

रतिलोलुप विटों से घिरी, शाटिकालंकृत (किसी) रजस्वला वाराङ्गना के समान आम्रमञ्जरियों की साड़ी पहने, रतिलम्पट मधुकरों से ओतप्रोत, तथा पुष्पों के परागचूर्ण से विभूषित राजा जनक की फुलवारी को दोनों भाइयों ने देखा ।

अनुनेतुमुपेतपार्श्वकं चटुवाचं रतियाचनापरम् ।
मदनार्तकलेवरां प्रियां रघुनाथोऽत्र रथाङ्गमापपौ ॥५०॥

कामव्यथा से विह्वल शरीर वाली प्रिया को मनाने के लिए उसके समीप पहुँचे हुए, रससिक्त बोली बोलने वाले तथा रतियाचना में लगे हुए चक्रवाक को उस फुलवारी में श्रीराम ने उत्कण्ठापूर्वक देखा ।

विततेऽपि रतिप्रिये मधौ प्रविभाव्ये न कथं त्वया शठ !
इति जातरुषेव शम्बरः प्रिययोपेत्य तृणान्निवारितः ॥५१॥

'कामवर्धक इस मधुमास के वातावरण में भी हे शठ ! मैं तुम्हारे द्वारा क्यों नहीं विकलतापूर्वक ढूँढी जा रही हूँ' मानो यही सोच कर रुष्ट हो उठने वाली प्रिया (हिरनी) द्वारा, पास पहुँच कर शम्बरमृग घास चरने से बाधित कर दिया गया ।

सहकारसुमच्युतम्मधुप्रकरं वीक्ष्य कृताम्बुदस्मृतिः ।
स्मृतभेककृतावमाननो मुखरोऽभूदरुणाक्षकोकिलः ॥५२॥

आम की बौरों से झरते हुए मधु-सीकरों को देखकर (रिमझिम) वर्षा का स्मरण करने वाला तथा (उस वर्षाकाल में) मेंढकों द्वारा किये गये अपने अपमान का स्मरण करके, लाल नेत्रों वाला कोकिल (स्पर्धावश) मुखर हो उठा ।

स ददर्श लतां द्रुमान्वितां द्रुमवल्लीञ्च समीरसेविताम् ।
सरसीञ्च सरोरुहावृतां नलिनीं मत्तमधुव्रताश्रिताम् ॥५३॥

श्रीराम ने लता को वृक्ष पर आरूढ़, वृक्ष की शाखा को पवन से सेवित, तलैया को कमलों से आच्छादित तथा कमलिनी को मतवाले भौंरों के अङ्कपाश में पड़ी देखा ।

रतिरागविवर्धनाङ्कुरैर्मदनोद्यानमनोज्ञदर्शनैः ।
ज्वलितो ननु जानकीशिखो हृदि रामस्य मनोभवानलः ॥५४॥

कामभावना तथा प्रीति को बढ़ाने के लिए अंकुरभूत, मदनोद्यान (विलास-वन) के मनोमुग्धकारी दर्शनों से निश्चय ही दशरथनन्दन राम के हृदय में सीता रूपी शिखा वाली कामाग्नि भड़क उठी ।

न तथापि चचाल राघवो न रुजं दर्पकजां न्यवेदयत् ।
पुटपाकनिभाञ्च तां व्यथामसहद्दीनकरीव कामनः ॥५५॥

फिर भी राघव न तो विचलित हुए और न ही (उन्होंने) कामप्रभाव से उत्पन्न व्याधि का प्रकाशन किया । बस, स्मरसन्तप्त शिथिल गजराज की तरह उन्होंने 'पुटपाक' सरीखी उस पीड़ा को सह लिया ।

धृतिकञ्चुकगोपितां तथाप्यनुदारां ह्रियमात्तयौवनाम् ।
अनुजे सति सम्मुखस्थिते न शशाकाल्पमपि प्रमार्जितुम् ॥५६॥

धैर्यरूपी कञ्चुक (अँगुली) से गोपित (किन्तु) युवती हो जाने के कारण उद्दण्ड अपनी लज्जा को श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण की उपस्थिति में तिल भर भी नियंत्रित करने में समर्थ नहीं हो सके (अर्थात् विवशता की स्थिति में उनका लज्जाभाव प्रकट ही हो गया) ।

प्रथमं दृगपाङ्गशालयोर्ददृशे चानु कपोलमण्डले ।
निखिलेऽपघने ततः परं क्रमविस्तारमुपेयुषी त्रपा ॥५७॥

क्रमशः विस्तार को प्राप्त करने वाली वह लज्जा सर्वप्रथम :श्रीराम के नेत्रों की अपाङ्गशालाओं (कोरों) में, उसके वाद दोनों गालों पर और अन्त में समस्त अंगों में दिखाई पड़ी ।

अथ यावदपत्रपिष्णुतां व्यपनेतुं विचकांक्ष राघवः ।
अनुजेन समं वचःक्रमैरथवा बन्धुजनेतिवृत्तकैः ॥५८॥

इसके अनन्तर लक्ष्मण के साथ वार्त्तालाप करके अथवा (अयोध्यावासी) वन्धुजनों से सम्वद्ध वृत्तान्तों द्वारा अपनी लज्जाभावना को झुठलाने के लिये, जैसे ही रघुनन्दन ने संकल्प किया ।

सहसैव तदा लतान्तराच्छ्रुतिसारोऽमृतमेदुरो ध्वनिः ।
पिकगर्वहरो नु शुश्रुवे मधुमाध्वीकमधूकदर्पहा ॥५९॥

कि तभी कोकिल के मधुरस्वराभिमान को खण्डित कर देने वाली, मधु, माध्वीक (महुवे से निर्मित मदिरा) तथा मधूक के गर्व को चूर-चूर कर देने वाली, कर्णरसायनभूत तथा अमृत-सिञ्चित (कोई) ध्वनि लताकुञ्ज के भीतर से अकस्मात् सुनाई पड़ी ।

तमनङ्गशरासनध्वनिं जयिनञ्चापि निशम्य विक्लवः ।
स्मरभावविसारणाभयाद्रघुनाथोऽनुजमाह पेशलम् ॥३०॥

उस विजयिनी कामचापध्वनि को सुनकर विकल हो उठने वाले रघुनन्दन, (अपने) कामभाव के अभिव्यक्त हो उठने के भय से, अनुज लक्ष्मण से सस्नेह बोले ।

क्व नु सारसनावलम्बिनी श्रवणान्तं समुपैति किङ्किणी ।
प्रिय लक्ष्मण मार्गयाचिरं विजनेऽस्मिन्क्व नु गीयते कलम् !!६१॥

प्रिय भाई लक्ष्मण ! शीघ्र पता तो लगाओ कि करधनी में गुँथी हुई किङ्किणी-ध्वनि कहाँ से (मेरे) कानों तक आ रही है ? इस विलासवन में कहाँ मधुर गीत गाया जा रहा है ?

कथमद्य विलीयते धृतिर्नतिमिच्छत्यनुदारपौरुषम् ।
कथमद्य मनोजबन्धुरं न धुरं हृद्विधुरं वहत्यदः ॥६२॥

आज मेरा संयम टूटता क्यों जा रहा है ? मेरा अनुदार (धृष्ट, दुर्धर्ष) पौरुष क्यों विनीत होना चाहता है ? और काम-सन्तप्त यह मेरा असहाय मन आज मर्यादित क्यों नहीं हो पा रहा है ?

स्खलद्वाचा प्राचां शमदमपटूनां सुसरणिं
खलीकृत्याकस्मात्प्रकृतिविपरीतं रघुपतौ ।
मुधैव व्याहारं जनयति विलोलव्यतिकरो
न शक्तो सौमित्रिस्तरलतरलोऽभूत्तदनुगः ॥६३॥

शम तथा इन्द्रियनिग्रह में निष्णात प्राचीन महापुरुषों की शोभन परम्परा को छोड़कर अकस्मात् ही श्रीराम के, अपने नैसर्गिक स्वभाव के विपरीत स्खलित वाणी से कामुकजनोचित वृत्त निवेदित करने पर—आन्दोलित मनःस्थिति वाले, उनके अनुयायी लक्ष्मण अत्यधिक द्रवीभूत होकर असमर्थ से हो उठे ।

निदेशं ज्येष्ठानां तदपि शिरसाऽङ्गीकृतवता
सुमित्राजातेनाभिमतदिशि चक्रे पदयुगम् ।
अथैकाकी रामः कुशिकसुतवाग्भिस्स्मृततनुं
तनूजां तां तन्वीं जनकपदभाजां हृदि दधे ॥६४॥

फिर भी ज्येष्ठ सहोदर श्रीराम की आज्ञा को सादर स्वीकार कर लक्ष्मण ने मनोऽनुकूल दिशा में पांव आगे बढ़ाये और इसके अनन्तर (इधर) रघुनन्दन राम ने भी गुरुविश्वामित्र की बातों से स्मृत रूप-शोभा वाली जनकदुलारी तन्वंगी सीता को हृदय में धारण कर लिया।

यत्काव्यं तरुणायते नवनवोन्मेषैर्लसद्वैभवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं वाण्याशिषाऽनारतम्।
राजेन्द्रस्य कृतावयं परिणतिं सर्गोऽभजत्पञ्चमो
वैदेहीरघुराजसङ्गमकरश्श्रीजानकीजीवने ॥६५॥

नव्यातिनव्य उन्मेषों के कारण विलसित वैभव वाला तथा अखण्डानन्द रूपी पुष्पासव के कारण रुचिर जो काव्य, माँ सरस्वती के आशीष से निरन्तर तरुण प्रतीत होता है, राजेन्द्र की कृतिभूत उस महाकाव्य 'जानकीजीवन' में वैदेही तथा रघुराज का साम्मुख्य सूचित करने वाला यह पाँचवाँ सर्ग परिणति को प्राप्त हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीबिल्हणोक्तं सुमम्।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्यैकपुण्यं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥६६॥

कविश्री कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका स्कन्धप्रदेश (तना) है, श्री जयदेव के संस्कृतगीत जिसके पर्णसमूह हैं, श्री विल्हण की सदुक्तियाँ जिसके फूल हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका एकमात्र पुण्य-फल है, अभिराज राजेन्द्र का वह निसर्गजात काव्यद्रुम चिरस्थायी हो !!

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये रघुराज-
सङ्गमसंज्ञकः पञ्चमस्सर्गः।

षष्ठः सर्गः

समुपगम्य पुरोऽथ वनान्तरे कतिचिदेव पदानि स लक्ष्मणः ।
चपलकेलिनिमज्जिततमानसं सकृदपश्यदनूनकयौवतम् ॥१॥

इसके अनन्तर उन लक्ष्मण ने विलासवनिका के भीतर कुछ ही डग आगे बढ़ने पर चञ्चल क्रीडा में निमज्जित चित्तवृत्ति वाली युवतियों के विशाल समूह को एकबारगी देखा ।

विरहिणां विजयाय रतेश्चमूरिव सडिण्डिमनादमुपेयुषी ।
गजगतिस्सुदतीजनसंहतिर्नृपविलासवने सुषमां दधे ॥२॥

विरही जनों पर विजय प्राप्त करने के लिये, जुझारू बाजे बजाती हुई, अभियान करने वाली (कामप्रिया) रति की सेना प्रतीत होती हुई, गजगामिनी तथा शोभन दन्तपंक्तियों वाली युवतियों की वह टोली, राजा जनक के उस क्रीडोपवन में शोभा प्राप्त कर रही थी ।

करसरोरुहराजितचन्दनागुरुसुमाग्निशिखाक्षतमालिका ।
गिरिसुतायतनाभिमुखीभवच्छिशुपदाऽऽशुपदा ददृशे चिरम् ॥३॥

कर-कमलों में चन्दन, अगुरु, पुष्प, कुङ्कुम, अक्षत तथा मालादि (पूजा-सामग्री) लिये हुए तथा बच्चों की तरह छोटे-छोटे डग भरती हुई, गिरिजा-मन्दिर की ओर प्रस्थित (वह युवतियों की टोली) तीव्र गति वाले लक्ष्मण द्वारा भरपूर देखी गई ।

तरणितापविपन्नकलेवरं विदधती पदहंसकशिञ्जितैः ।
चटुललोचनचारुविलोकनैरुपवनं पवनन्नु कुर्वती ॥४॥

पैरों में पहने गये बिछूवों की रुनझुन से, रवितांप से विपन्न (म्लान) शरीरों को तथा चञ्चल नेत्रों की चारु चितवन से उद्यान को पवित्र करती हुई ।

स्मितपयोदपतत्प्रणयाम्बुभिर्नवनवीकृतकाननदेवता ।
गतिमयीव शिखावलमालिका हृदि नु तस्य नुतस्य रुचिं व्यधात् ॥५॥

मुस्कान रूपी पयोदों से बरसती हुई प्रणय रूपी वारिधाराओं से वनदेवता को प्रबोधित करती हुई, गतिशील दीपमालिका प्रतीत होने वाली उस युवति-मण्डली ने प्रणतिपात्र उन लक्ष्मण की अभिरुचि को बढ़ा दिया ।

विकचपाटलपुष्पकदम्बकं ह्यु परिसारितकङ्कणपाणिना ।
मुकुलजालमुपेक्ष्य विचिन्वती वरतनू रतनूपुरका बभौ ॥६॥

ऊपर खिसकाये गये कंकण वाले हाथ से, अधखिली कलियों की उपेक्षा करके खिले हुए पाटल-पुष्प-समूह को चुनती हुई, मुखर नूपुरों वाली कोई सुन्दर कामिनी सुशोभित हो उठी ।

समवलम्ब्य समुद्गकमूर्द्ध्वयोर्युगपयोधरयोः कमलानना ।
मधुनिबद्धरतिं जडरोदरं ह्यपललाप रुषा परुषाक्षरैः ॥७॥

पुष्पभाजन (पिटारी) को समुन्नत उरोजों पर टिका कर किसी कमलानना युवती ने (अभी भी फूल पर बैठे हुए) मधुलम्पट मूढ़मधुकर को, मारे रोष के खरी-खोटी सुना कर व्यङ्ग्य-पीड़ित किया ।

कनकदामनिबद्धककुद्मती नृपतिजा किल काऽपि रतिप्रभा ।
भुजगवेष्टितकेतकगुल्मकान्यभिननन्द ननन्द न कानने ॥८॥

कटिप्रदेश में सोने की करधनी बाँधे तथा कामप्रिया रति के समान रूप-सौन्दर्य वाली किसी राजकन्या ने, लिपटे हुए विषधरों वाले केतकी के झुरमुटों की प्रशंसा भी की और निन्दा भी की ।

चलदपाङ्गविलोलविलोकिनी त्रिपथगेव समाश्रितशन्तनुः ।
स्थलसरोजमुपार्जितकण्टकं बत ददर्श न दर्शनलोलुपा ॥९॥

महाराज शन्तनु का (पति रूप में) वरण करने वाली गंगा के समान सौम्य (शान्त) व्यक्तित्व वाली, चञ्चल अपाङ्गों से इधर-उधर देखने वाली तथा देखने के लिये व्यग्र (कोई युवती) कण्टकाकीर्ण स्थल-कमल को नहीं देख पाई ।

विविधकेलिकलाकलनापरं तमवलोक्य गणं नवयोषिताम् ।
हृदि नियम्य कुतूहलकं चिरं रघुवरो ह्यवरो मुदमादधे ।।१०।।

नाना प्रकार की क्रीडाओं तथा कलाओं के विस्तार में व्यापृत नवयौवनाओं के उस समुदाय को देख कर, कनिष्ठ रघुकिशोर लक्ष्मण ने कौतूहल को चिरकाल तक हृदय में नियन्त्रित करके, प्रसन्नता का अनुभव किया ।

प्रतिनिवृत्य ततोऽग्रजमाकुलं मृदुगिरा निजगाद निवेदनम् ।
ननु विदेहसुताऽऽर्य! सखीजनैस्सह विलासवनेऽत्र विराजते ।।११।।

इसके अनन्तर लौटकर लक्ष्मण ने मृदु मधूक सदृश वाणी द्वारा व्याकुल अग्रज से निवेदन किया—हे आर्य ! निश्चय ही विदेहनन्दिनी सखियों के साथ यहाँ विलासवन में विद्यमान हैं ।

यदि मुहूर्तमपि प्रविधीयतां भवदुदारमनोऽत्र जितस्मर !
व्यतिकरस्सकलोऽपि कृतार्थतां भजत एष तदेति मतम्मम ।।१२।।

हे स्मरसुन्दर ! यदि आप अपने सरस मन को उधर चलने के लिये, क्षण भर के लिये भी तैयार कर लें तो मेरा विश्वास है कि सारा का सारा वृत्तान्त कृतार्थ हो उठेगा ।

इति विनोद्य विधाय च कौतुकं समभिसार्य च राघवमग्रजम् ।
व्रततिजालतिरोहितविग्रहः स्थलमवाप शनैःकिल लक्ष्मणः ।।१३।।

इस प्रकार रघुनन्दनराम को आह्लादित एवं उत्कण्ठित कर, साथ ही साथ उन्हें सीतादर्शनार्थ प्रेरित कर, लता-कुञ्ज में स्वयं को छिपाते हुए लक्ष्मण धीरे-धीरे उस स्थान पर पहुँच गये ।

कनकचम्पकगुल्मगृहाजिरे शरणमेत्य समेत्य रघूद्वहौ ।
अथ निपानसमीपवनालये ददृशतुर्युवतिव्रजमेधितम् ।।१४।।

इसके अनन्तर, समवेत होकर दोनों रघुकिशोरों ने स्वर्णचम्पा के कुञ्ज रूपी गृहाजिर में स्थिर होकर सरोवर के समीपवर्ती वनखण्ड में उस विशाल युवतिमण्डली को देखा ।

हसननर्तनवादनगायनप्रहरणाटनखेलनमज्जितम् ।
कुसुमसञ्चयसम्भृतमानसं व्रजमुदीक्ष्य तुतोष रघूत्तमः ॥१५॥

हँसने, नाचने, बजाने, गाने, धक्कामुक्की करने, सञ्चरण करने तथा खेलने में डूबी हुई और फूल चुनने में व्यस्त मनोवृत्ति वाली (युवतियों की उस) टोली को देख कर श्रीराम को सन्तोष हुआ।

कतिपयाप्तसखीजनमण्डिता मृदुलमन्थरबन्धुरगामिनी ।
परिगता नलिनीव दिनोदये शिथिलकुन्दशतैरनिमीलितैः ॥१६॥

प्रातः वेला में कुछ-कुछ मुरझाये हुए किन्तु अनिमीलित (अर्धविकसित) सैकड़ों कुन्दपुष्पों से घिरी कमलिनी के समान कुछ अन्तरङ्ग सखीजनों के समूह में शोभायमान, कोमल, मन्द एवं इठला कर चलने वाली।

समदसारसजानिकुरम्बके गतिमती वरटेव नवस्मरा ।
बहुलतारकमध्यविराजिता परिणतेव कलाधरकौमुदी ॥१७॥

मतवाली बाल-सारसियों के बीच सञ्चरण करती हुई नवयौवना राजहंसी के समान तथा असंख्य नक्षत्रों के मध्य शोभायमान चन्द्रमा की परिपक्व जुन्हाई जैसी।

त्रिपथगेव सरिन्निकरान्विता गगनभेव शचीन्द्रधनुर्युता ।
स्वनदलिच्छुरितेव वशावृता वनमतङ्गसुतेव समोयुषी ॥१८॥

सरिन्मालाओं से अन्वित त्रिपथगा के समान, इन्द्रधनुष से श्रीमण्डित आकाशदीप्ति के समान तथा हथिनियों से घिरी-भनभनाते हुए (मदलोभी) मधुकरों से व्याप्त वनमतङ्ग-बाला के समान चली आती हुई।

बकुलसङ्कुलवन्यलतागृहाल्लघुपदानि बहिर्दधती शुभा ।
अथ विदेहसुता ददृशेऽनघा रघुवरेण निमेषजहद्दृशा ॥१९॥

मौलसिरी वृक्षों से ओतप्रोत, विलासवन के उस लताभवन से बाहर छोटे-छोटे डग भरती हुई विदेहतनया सीता, अन्ततः रघुनन्दन श्रीराम द्वारा अपलक दृष्टि से देखी गई।

समवलोक्य तदा नृपनन्दिनीं परिणतप्रणयार्जवसन्नतः ।
रघुपतिर्मुषितस्थितिमाप्नुवन् न च जगाद चचाल न शं ययौ ।।२०।।

उस समय, परिपक्व प्रेम (से उत्पन्न) निष्कपटता के कारण अत्यधिक विनीत श्रीराम ने राजपुत्री सीता को देखकर, हतप्रभ होते हुए न तो (कुछ) कहा, न हिलेडुले और न ही शान्त रह पाये ।

जनकजाङ्गविभादृढवागुरा ननु बबन्ध मनोहरिणं यदा ।
कलितबन्धनमुक्तिविभावनो रघुवरोऽपि तदा चितिमादधे ।।२१।।

सीता की अङ्गप्रभा रूपी सुदृढ़ वागुरा (बन्धन-रज्जु) ने निश्चित रूप से जब मन रूपी मृग को बाँध लिया तब बन्धन से छूटने का प्रयास करते हुए रघुनन्दन को चेतना आ पाई ।

तरलयन् रसनामधिशर्करं द्रुतमुवाच विनीतरुतोऽनुजम् ।
सुमुख ! पश्य मनोरथमागतं व्रततिमेघविमुक्तविधूपमम् ।।२२।।

रसना को मधुरिमा से ओतप्रोत करते हुए श्रीराम ने, विनीत वाणी में अनुज लक्ष्मण से द्रुतगति से कहा—हे सुमुख ! लताकुञ्ज रूपी मेघ से विमुक्त चन्द्रमा के समान (सुन्दर) समक्ष विद्यमान (मेरे) मनोरथ को देखो ।

कुशिकनन्दनशंसितकल्पना त्रिदशरूपवतीप्रतियातना ।
इयमसौ प्रविभाति विदेहजा नयनयोर्मम कम्रकनीनिका ।।२३।।

हे लक्ष्मण ! महर्षि विश्वामित्र द्वारा प्रशंसित कल्पनास्वरूपा, स्वर्गलोक की सुन्दरियों की प्रतिमा-स्वरूपा तथा मेरे नयनों की मनोहर पुत्तलिका—यही वह विदेहनन्दिनी (समक्ष) सुशोभित हो रही है ।

सुभग ! किन्नु विलोक्य तनीयसीं स्फुरति बाहुरयम्मम दक्षिणः ।
शकुनसूचितभाग्यमहोदयो भवति नैव वृथेति विनिश्चितम् ।।२४।।

हे शोभन ! इस कृशाङ्गी सीता को देखकर मेरी दाहिनी भुजा भला स्पन्दित क्यों हो रही है ? इतना तो सर्वथा निश्चित है कि शकुनों द्वारा प्रकट किया गया भाग्य-महोदय (भाग्यागमन) झूठा नहीं ही होता ।

कथय वत्स ! हृदि प्रणयोर्मिभिः किमिव रिङ्गणमाशु विधीयते ।
न खलु कच्चिदियं मुखचन्द्रिका भवति कारणमस्य यथोचितम् ।।२५।।

हे प्रिय भाई ! यह तो बताओ कि (मेरे) हृदय में प्रणय-लहरियाँ, वेगपूर्वक उथल-पुथल क्यों मचा रही हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि सीता के मुखचन्द्र की यह चाँदनी ही इसका समुचित (एकमात्र) कारण है ।

किमु निपीय दृशैव सुवासिनीं जनकजामयि लक्ष्मण!साम्प्रतम् ।
स्मृतभवान्तरसङ्गतबन्धनोऽयमहमद्य मनोभवमाश्रये ।।२६।।

हे सौमित्रि ! यौवनोन्मुख वैदेही को सतृष्ण नेत्रों से पीकर, क्या कारण है कि इस समय मैं पूर्वजन्म में प्राप्त स्नेहबन्धन का स्मरण करता हुआ सा, आज कामभाव को प्राप्त हो रहा हूँ ।

लघु तृणं प्रतिकूलदिशं व्रजेत् पवनघट्टनयाऽपि खलीकृतम् ।
सुदृढचित्तमहो रघुवंशिनां न खलु किन्तु विसंवदति श्रियाम्।।२७।।

पवन के आघात से चंचल बनाया गया हल्का तिनका भी विपरीत दिशा में उड़ सकता है परन्तु रघुवंशियों का सुदृढ़ (इन्द्रियनिग्रही) मन ऐश्वर्य-सन्दर्भों में किसी भी प्रकार विपरीत आचरण नहीं करता है ।

अयमदृष्टजयो यदि तेऽग्रजः कमललोचन ! काङ्क्षति मैथिलीम् ।
यदि विलक्षणमार्यपथैरपि क्रियत आचरणं क्व नु पौरुषम् ।।२८।।

हे कमलनयन ! अदृष्टपराभव वाला (अर्थात् कभी भी काम के वशीभूत न होने वाला) तुम्हारा अग्रज यदि जानकी की अभिलाषा करता है अथवा यदि आर्यपथ का अनुसरण करने वाले (मुझ सरीखे) व्यक्तियों द्वारा भी विलक्षण आचरण किया जाता है तो पौरुष का प्रश्न ही क्या ?

वदति दाशरथाविति बन्धुरं प्रणतिजं रतिजं सुमबाणजम् ।
अभिहितं रहसि प्रणयामृतं निभृतमानसरागगलद्वचः ।।२९।।

दशरथनन्दन राम द्वारा इस प्रकार विनयमण्डित, रतिभावपोषक, काम-भावव्यञ्जक, प्रेमामृत में सनी, एकान्त-निवेदित, बन्धुर (असमान) तथा शान्तमन के अनुराग से ओतप्रोत वाणी कहने पर ।

कुसुमसञ्चयकैतवगूहिता प्रियसखी खलु कापि विदेहजाम् ।
उपययौ झटिति श्रितवेपथुर्निखिलमेव निशम्य तदास्यजम् ॥३०॥

फूल चुनने के बहाने छिपी हुई (सीता की) कोई सखी, श्रीराम तथा लक्ष्मण के मुँह से निकली हुई बातों को आद्यन्त सुनकर, पसीने से लथपथ होकर पल भर में (सीता के) पास जा पहुँची ।

श्लथमुखेन्दुकलङ्कनिभां दृशं स्फुटकटाक्षमिषेण विधुन्वती ।
विशदयन्त्यचिरान्नृपकाननं वचनचन्द्रिकया निजगाद सा ॥३१॥

(घबराहट के कारण) सूखे हुए मुखचन्द्र के कलङ्क सदृश नेत्रद्वय को सुस्पष्ट कटाक्षों के व्याज से कम्पित करती हुई तथा राजा जनक के विलास-वन को (अपनी) वचनचन्द्रिका से शीघ्रता पूर्वक देदीप्यमान करती हुई उस सखी ने कहा ।

अयि ! शृणुध्वमितोऽपि मुहूर्तकं श्रुतिरसायनकं विनिवेदये ।
ननु पुरःस्थितकाञ्चनचम्पकप्रवरसद्मनि कोऽपि विराजते ॥३२॥

अरी सखियों ! क्षण भर के लिये इधर भी तो सुन लो, कर्णकुहरों को आप्यायित कर देने वाला तथ्य निवेदित कर रही हूँ । सामने वाले स्वर्ण-चम्पा के रमणीय निकुञ्ज में निश्चय ही कोई बैठा हुआ है ।

इयमहं सखि ! वच्मि निभालय त्वमपि मा मयि भूरविवेकिनी ।
जलदनीलकलेवरसुन्दरं स्मरवपुर्न मयेदृशमीक्षितम् ॥३३॥

सखि ! यह मैं कह रही हूं, तुम भी तो देख लो । मेरे विषय में अविश्वास मत करो । मेघ के समान नील-कलेवर (स्वरूप) वाले ऐसे कन्दर्पोपम व्यक्तित्व को मैंने (पहले कभी नहीं) देखा है ।

मुदिरमेदुरचन्दिरवन्दितं चटुलकुन्तललालिततन्मुखम् ।
यदि कृतं न दृशोस्सकृदास्पदं धिगयि मैथिलि ! जीवितमेव ते ॥३४॥

हे मैथिलि ! मेघपरिगत चन्द्रमा के समान शोभाधाम-चञ्चल केशकुन्तलों से श्रीमण्डित उस (नवयुवक के) आनन को यदि तुमने एक बार (भी) नेत्रों का लक्ष्य नहीं बनाया तो फिर तुम्हारे जीवन को ही धिक्कार है ।

ननु तवैव वपुःश्रियमुच्चकैर्हृदि निधाय विकत्थनतत्परः ।
त्वदनुरागपयोधिमहोर्मिषु प्लवति मज्जति वेल्लति गाहते ॥३५॥

निश्चित रूप से तुम्हारी ही शरीर शोभा को हृदय में अतिशय धारण कर वार्तालाप में संलग्न (वह सुदर्शन नवयुवक) तुम्हारे प्रेम रूपी सागर की महोर्मियों में सन्तरण कर रहा है, डूब रहा है, करवटें बदल रहा है और अवगाहन कर रहा है ।

श्रुतमिति श्रवणैर्यदसौ युवा भुवनमोहनरूपमनोभवः ।
दशरथस्य महाबलशालिनः प्रथमसूनुरनन्तगुणाश्रयः ॥३६॥

भुवनमोहन आकृति वाला वह कन्दर्पोपम नवयुवक, महापराक्रमशाली (महाराज) दशरथ का असंख्य सद्गुणों का आगारभूत ज्येष्ठ पुत्र है, ऐसा (हमने अपने) कानों से सुना है ।

किमधिकं सखि ! धिक्कृतदर्पकं झटिति पश्य विपश्य सकृत्स्वयम् ।
अलमलं परिकुप्य विकुप्य वा त्वरय नन्दिनि ! नन्दय लोचने ॥३७॥

हे सखि ! अधिक कहने से क्या लाभ ? एक बार स्वयं, कामदेव को निन्दित करने वाले (उस सुदर्शन) को शीघ्रतापूर्वक देख लो, भली भाँति देख लो । न बकवास करने से कोई लाभ है और न ही कुपित होने से । हे नन्दिनि ! शीघ्रता करो, नेत्रों को शीतल कर लो ।

इति बहुप्रथितैर्वचनैश्शुभा जनकजां विनिवारितवैखरीम् ।
नयनपद्मनिवेदितभावनां शिखरिणीं विदधे चलमानसाम् ॥३८॥

इस प्रकार अनेकानेक उत्तम वचनों से उस शुभा (सखी) ने अवरुद्ध वाग्व्यापार वाली, नयनकमल मात्र से भावों को अभिव्यक्त करने वाली शिखरिणी (उन्नत वेणीबन्धन वाली) जानकी को चञ्चल मन वाली बना दिया ।

अथ मनोजजयध्वजसन्निभा त्रिदशलोकसमृद्धिविधायिनी ।
शुचिसतीत्वशिखा कमलोपमा परिगतालिभिरीषदियाय सा ॥३९॥

इसके अनन्तर कन्दर्प की जयपताका के समान, देवलोक के ऐश्वर्य का निर्माण करने वाली, पवित्र पातिव्रत की ज्योतिशिखा तथा लक्ष्मी सरीखी वह (सीता) सखीजनों से कुछ-कुछ घिरी हुई चल पड़ी ।

मरुदलक्षितझम्पितपातितैस्स्फुरदशोककुसुमैस्सहसा तदा ।
विविधपत्त्ररथारवमिश्रितैर्जयतिवाचमगान्ननु मैथिली ॥४०॥

प्रस्थानवेला में, वायु के अलक्षित झोकों से धराशायी किये गये देदीप्यमान अशोकपुष्पों द्वारा, जो कि अनेक प्रकार के पक्षियों के कलरव से सम्मिश्रित थे, अतर्कित रूप से सीता की 'जयजयकार' प्रस्तुत की गई।

युवतिसञ्चरणोद्धुरमानसा मधुलिहस्सभयं वियदाश्रिताः ।
मदनचापगुणोऽलिमयोऽदितो यदवलोक्य सुरैरिति कल्पितम् ॥४१॥

नवयुवतियों के परिभ्रमण से सम्भ्रमित मनोवृत्ति वाले भ्रमरों ने भयभीत होकर आकाश में उड़ना प्रारम्भ किया, जिसे देख कर देवताओं ने ऐसी कल्पना की कि (आज) भ्रमरनिर्मित कामदेव के धनुष की प्रत्यञ्चा ही टूट गई।

पथि चुकूज पिकोऽलिगणः पपौ सुमनमधूनि ननर्त च सेचकी ।
निजगुणैर्विदधुर्जनकात्मजां विजयिनीमिति काननचारिणः ॥४२॥

(वैदेही के प्रस्थान करते ही) कोकिल ने मार्ग में कूकना प्रारंभ कर दिया, भ्रमरगण पुष्पमदिरा का पान करने लगे और मयूर नाचने लगा। इस प्रकार अरण्यचारी जीवों ने अपने-अपने गुणों द्वारा सीता को विजयिनी बनाया।

सपदि को युवको न निबद्ध्यते चलदपाङ्गतरङ्गितरिङ्गणैः ।
मृगवधूभिरितीव कटाक्षकैस्सकृदलोकि समेक्षणजानकी ॥४३॥

'चञ्चल नेत्रकोणों के रोमाञ्चकारी विलास से भला कौन नवयुवक तत्काल नहीं बाँध लिया जाता है?' मानो इस प्रकार का सिखावन देती हुई हिरनियों द्वारा-समान नेत्र वाली अर्थात् मृगाक्षी सीता एक बार कटाक्षव्यापार के साथ देखी गई।

विटपलग्नमथांशुकमात्मनो विधुमुखी क्षणकं यदमूमुचत ।
व्युपदिदेश न किं वनदेवता रमय कान्तमनेन मिषेण तत् ॥४४॥

इसके अनन्तर, वृक्ष की शाखा में उलझे हुए अपने क्षौमवस्त्र को चन्द्रमुखी सीता ने जो क्षण भर (सखियों से) मुक्त कराया तो क्या इसी बहाने वनदेवता ने (उसे) यह उपदेश नहीं दिया कि 'प्रियतम को इसी प्रकार सुख प्रदान करो!'

सुभगवत्सतरीव यथायथं पथि पदं दधती वसुधात्मजा ।
दयितदाशरथिच्छविशङ्किनी परित एव कथञ्चिदुपाययौ ॥४५॥

अपने चारों ओर प्रियतम रघुनाथ की छवि की आशंका करती हुई भूमिसुता सुन्दर वत्सतरी (बछिया) के समान जैसे-तैसे मार्ग में डग भरती हुई, बड़ी कठिनाई से (श्रीराम के) समीप तक आ पाई ।

कनकचम्पकगुल्मगृहात्ततो रघुपतिस्स्वयमेव बहिश्चरः ।
जनकजामुखचन्द्रचकोरतां विशदयन्ददृशे सहसोन्मुखः ॥४६॥

इसके अनन्तर सीता के मुखचन्द्र को चकोर के समान अपलक निहारते हुए तथा स्वर्णचम्पा के कुञ्जकुटीर से स्वयं बाहर निकले हुए, उत्कण्ठित रघुनाथ अकस्मात् (सीता द्वारा) देख लिये गये ।

अथ रतीशककोट्यतिशायिनं पुरुषसिंहमुदीक्ष्य नु सम्मुखम् ।
व्यपगता शनकैस्सुहृदावली नृपसुतामपहाय विलक्षिताम् ॥४७॥

तब, करोड़ों कामदेवों को (रूप-सौन्दर्य में) न्यग्भूत कर देने वाले उन पुरुषसिंह श्रीराम को सामने देख कर, सहेलियों की टोली, लाज-संकोच में गड़ी हुई नृपनन्दिनी सीता को (अकेली) छोड़कर, धीरे से खिसक गई ।

दयितसङ्गमसाध्वसपाण्डुरे जनकजामुखचन्द्रतले तदा ।
समुदियाय मुहुः प्रसरत्त्रपामृतझरीशतविन्दुकदम्बकम् ॥४८

प्रियसमागम-जनित भय के कारण पियराए, सीता के मुखचन्द्र के ऊपर उस समय, अनेकशः फैलने वाली लज्जा रूपी अमृतझरी के सैकड़ों विन्दुओं का समूह प्रकट हो गया ।

अथ चिरं न शशाक यदावितुं व्यतिकरैः किल कैरपि जानकी ।
मधुमयैर्वचनैः प्रमिताक्षरै रघुपतिस्स्वयमेव रतिं दधे ॥४९॥

एतदनन्तर जब सीता किन्हीं भी उपायों से, चिरकाल तक आत्मरक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकीं तब रघुनन्दन श्रीराम ने स्वयं नपे-तुले अक्षरों वाले प्रीतिपगे वचनों से प्रीति का प्रकाशन किया ।

किमिव मामवलोक्य विलज्जसे सुतनु मैथिलि!मञ्जुलदर्शने!!
प्रचलितासि यदीयदिदृक्षया ननु तमेव जनं किमुपेक्षसे ?५०॥

पवित्र दर्शन वाली हे सुतनु सीते ! मुझे देख कर भला (तुम) लज्जित सी क्यों हो रही हो ? जिसको देखने की आकांक्षा से यहाँ तक आई हो, आश्चर्य है, उसी व्यक्ति की उपेक्षा क्यों कर रही हो ?

अयि विलोकय दाशरथिं शुभे ! सकृदपि त्वयि जातमनोरथम् ।
न खलु जातु जहाति विधुम्मुदी नच शिखा शिखिनो विमुखायते ॥५१॥

हे शुभे ! तुम्हारे साहचर्य के लिए लालायित मुझ दाशरथि (राम) को भला एक बार भी तो देख लो । निश्चय ही चन्द्रिका कभी चन्द्रमा का परित्याग नहीं करती और न हीं शिखा दीपक से मुँह मोड़ती है ।

यदवधि श्रुतिगोचरतां ययौ गुणगणोऽवनिनन्दिनि ! तावकः ।
त्वदनुलीनसमग्रजिजीविषस्सुमुखि ! राघव एष न राघवः ॥५२॥

हे अवनिनन्दिनि ! जिस दिन से तुम्हारे गुणसमूह को कानों से सुना है, (उसी दिन से) सम्पूर्ण जीवनेच्छा को तुम्हीं में विलीन करके यह राघव 'राघव' नहीं रह गया है !

गणनयोडुगणस्य निशीथिनी दिनमपि स्मरगोपनया मया ।
किमपरं निखिलं श्वसनक्षणं त्वदभिमन्त्रितयैव तृषोह्यते ॥५३॥

नक्षत्रों की गणना करते ही करते निशीथिनी बीत जाती है और दिन (अपने) काम भाव का गोपन करते-करते ! कुछ और क्या कहूँ, प्रत्येक साँस की अवधि तुम्हारे द्वारा अभिमन्त्रित सी (आविष्ट) पिपासा द्वारा वहन की जा रही है ।

प्रतिवचः करभोरु!न दीयते यदि मनागपि सङ्गतया त्वया ।
रघुवरोऽनुभविष्यति निश्चितं वितथमेव भवान्तरसौहृदम् ॥५४॥

हे करभोरु ! इतनी पार्श्ववर्तिनी होकर भी तुम यदि मेरी बातों का कुछ उत्तर नहीं देती हो तो निश्चय ही श्रीराम (यही) समझेगा कि प्रेम का शाश्वत और चिरन्तन होना—झूठी बात है ।

सपदि कोशलराजसुताननाज्जनकजा समवेत्य गुणस्तुतिम् ।
ननु विवक्षुरपि त्रपयार्दिताऽजनि निवाग्जडिमानमुपेयुषी ॥५५॥

कोशलेन्द्र महाराज दशरथ के पुत्र-श्रीराम के मुख से अकस्मात् ही (अपने) गुणों की प्रशंसा सुनकर, कुछ उत्तर देने के लिए उत्कण्ठित होती हुई भी वैदेही लज्जा से पीडित होकर, जडता को प्राप्त होती हुई मूक बन गई ।

पदनखाग्रसमुद्धृतरेणुभिर्निजमनोजरुजामपलापिनी ।
लघुमुहूर्तमितं समयं तदा युगमिवानुबभूव विदेहजा ॥५६॥

पदनखों के अग्रभाग से अपनी स्मरवेदना को झुठलाने वाली वैदेही ने उस समय, अत्यन्त मुहूर्त भर की अवधि को भी एक युग के समान अनुभव किया ।

न च ससार पुरो न च पृष्ठतो न खलु दक्षिणतो न च वामतः ।
उपरि नैव ददर्श न वाप्यधो ह्यचलमूर्तिरिवाजनि जानकी ॥५७॥

न वह आगे बढ़ पाई और न पीछे ! न दाहिने खिसक सकी न बायें ! न उसने ऊपर की ओर देखा अथवा न ही नीचे की ओर ! सीता एकदम स्थिर मूर्ति बन गई ।

रघुवरोऽपि विलोक्य निमज्जितां प्रणयिनीं स्मरभावपयोनिधौ ।
भवतु गच्छ न ते पथि पीडये समभिमन्त्र्य शनैरिति शं ययौ ॥५८॥

रघुनन्दन श्रीराम ने भी प्रणयिनी (सीता) को स्मरानुभव रूपी सागर में डूबी हुई देखकर 'अच्छा जाओ, तुम्हारे मार्ग में बाधा नहीं उत्पन्न करूँगा' धीरे से ऐसा कहकर, मौन साध लिया ।

चिबुकमुन्नमयत्यथ राघवे पुलकजाततनूरुहचेतने ।
वृतिनिलीनसखीजनमण्डलैः स्फुटमहासि जितं न्वितिवादिभिः ॥५९॥

पुलक के कारण रोमाञ्च का अनुभव करने वाले राघव द्वारा जनकनन्दिनी की ठुड्ढी ऊपर उठाते ही, झुरमुटों में छिपी सहेलियों की टोली ने 'विजय हो गई' कहते हुए खिलखिला कर हँसना प्रारंभ कर दिया ।

अथ निशम्य सखीजनसीत्कृतं सकरतालमुदाहरणान्तरम् ।
स्मितकरम्बितबिम्बफलाधरं विधुमुखं दधती प्रियसम्मुखम् ॥६०॥

इसके अनन्तर, सखीजनों की (व्यङ्ग्यपूर्ण) सिसकारियों तथा ताली पीट-पीट कर कही जाती हुई अन्यान्य बातों को सुनकर—मन्दस्मित से श्री मण्डित, विम्बफल के समान अधरवाले (अपने) चन्द्रमुख को प्रिय (राम) के समक्ष करती हुई ।

अपि दयस्व मयि स्मरसुन्दर ! ननु सखीनिकरैरुपहस्यते ।
झटिति वेगपदेत्यभिभाषिणी जनकजा प्रययौ दरकम्पिनी ॥६१॥

'हे स्मरसुन्दर ! मुझ पर दया कीजिये, सखियाँ निश्चय ही मेरी हँसी उड़ा रही हैं' इस प्रकार अनुनय करने वाली तथा कुछ-कुछ काँपती हुई सीता, लम्वे डग भरती हुई पल भर में दूर चली गई ।

श्रमजधर्मजलाञ्चितविग्रहा श्लथविपाण्डुरकम्रकपोलिनी ।
जलदभावितसान्ध्यसरोजिनी कलितकामसुखादिमभूमिका ॥६२॥

थकावट के कारण उत्पन्न पसीने से व्याप्त शरीर वाली, (लज्जा तथा भय के कारण) मुरझाये तथा पियराए हुए शोभन कपोलों वाली तथा मेघ-वर्षा से दुलराई गई सन्ध्याकालीन कमलिनी के समान—कामसुख की प्रथमानुभूति का आकलन करने वाली ।

नवलनीरदनीलवपुःश्रियं रघुवरं दयितं स्मरपेशलम् ।
कुशलवाचमथामृतवर्षिणं विदधती हृदि भूमिसुताऽप्यगात् ॥६३॥

भूमिसुता सीता भी, नवीन जलधर के समान नीली अंगकान्ति वाले, कन्दर्प के समान सुन्दर, मङ्गलमय वाणी बोलने वाले, अमृतवर्षी प्रियतम रघुनाथ को हृदय में स्थापित करती हुई आगे बढ़ी ।

इत्थं याते हृदयरमणे हृद्यसङ्गे मनोज्ञे
नेत्राह्लादे मृदुजनकजाविग्रहेऽञ्चद्धृषीके ।
काकुत्स्थोऽपि प्रशिथिलतनुस्स्वप्नमोहानुबिद्धो
मन्दं मन्दं स्वयमपि ययौ सोदरं वीक्षमाणः ॥६४॥

इस प्रकार हृदय को रमाने वाले, रमणीय साहचर्य वाले, नेत्रों को आह्लादित करने वाले तथा इन्द्रियों को तृप्त करने वाले, कमनीय तथा कोमल वैदेही-शरीर के आँखों से ओझल हो जाने पर—अत्यधिक शिथिल शरीर वाले तथा स्वप्नजन्य मोह से विंधे हुए श्रीराम भी, लक्ष्मण की ओर (साकूत-दृष्टि से) देखते हुए धीरे-धीरे स्वयं चले गये।

आदेशाच्च गुरोर्यथा जनकजा गौरीगृहं प्रस्थिता
श्रीरामोऽपि तथैव भूपविपिनं पूजासुमार्थ्यायियौ।
द्वाभ्यामेव विलम्बितं ह्यतनुकं कामस्य विस्फूर्जितै-
र्निश्चीयेत कथं तयोर्नु कुशलं दृष्ट्वेदमारम्भणम्॥६५॥

जैसे माता-पिता के आदेशवश सीता पार्वती-मन्दिर की ओर चल पड़ी थीं, उसी प्रकार श्रीराम भी (गुरुवर्य के लिए) पूजापुष्प के लोभ में राजा जनक के (उस) विलास-कानन में आये। भगवान् पुष्पधन्वा के प्रभाववश दोनों ने ही (वहाँ) प्रभूत विलम्ब किया (दोनों की प्रीतिरचना का) यह आरम्भ देखकर उनके कुशल-मङ्गल (अर्थात् निश्चिन्तता) का निश्चय कैसे किया जा सकता है?

यत्काव्यं तरुणायते नवनवोन्मेषैर्लसद्वैभवम्
सान्द्रानन्दमरन्दबिन्दुरुचिरं वाण्याशिषानारतम्।
सीताराघवपूर्वरागविषयस्सर्गस्तु षष्ठोऽभजत्
राजेन्द्रस्य कृतावयं परिणतिं श्रीजानकीजीवने॥६६॥

नव्यातिनव्य उन्मेषों के कारण विलसित वैभव वाला तथा अखण्डानन्द रूपी पुष्पासव के कारण रुचिर जो काव्य, माँ सरस्वती के आशीष से निरन्तर तरुण प्रतीत होता है, राजेन्द्र की कृतिभूत उस महाकाव्य 'जानकी-जीवन' में सीता तथा राघव के पूर्वराग से सम्बद्ध यह छठाँ सर्ग परिणति को प्राप्त हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम्।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्यैकपुण्यं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः॥६७॥

कविश्री कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका स्कन्धप्रदेश (तना) है, श्री जयदेव के संस्कृतगीत जिसके पर्णसमूह हैं, श्री विल्हण की सदुक्तियाँ जिसके फूल हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका एकमात्र पुण्यफल है, अभिराज राजेन्द्र का वह निसर्गजात काव्यद्रुम चिरस्थायी हो !!

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
पूर्वरागसंज्ञकः षष्ठः सर्गः ।

सप्तमः सर्गः

अथ प्रभाते व्यपनीय निद्रां समुत्थितो दाशरथिर्मनस्वी ।
ततोऽपि पूर्वं भरतानुजोऽसौ मुमोच शैय्याङ्कमनर्घतल्पम् ॥१॥

इसके अनन्तर प्रभातवेला में मनस्वी दशरथनन्दन राम, निद्रा का परित्याग कर उठ खड़े हुए। उनसे भी पूर्व, छोटे भाई लक्ष्मण ने भी बहुमूल्य बिछौने वाली शैय्या की गोदी छोड़ दी।

उभावपि प्रीतनिशौ कुमारौ मुदा स्मरन्तौ कुलदैवतानि ।
पुरन्दराशापवनोपघातैर्विलालितौ बोधमवापतुस्तौ ॥२॥

सुखपूर्वक रात बिताने वाले वे दोनों ही राजकुमार (प्रभातवेला में) प्रसन्नतापूर्वक कुलदेवताओं का स्मरण करते हुए, पुरवैया के झकोरों से आन्दोलित होकर, सचेत हो उठे।

सस्मार रामो निखिलन्नु वृत्तं प्रव्याह्निकं भूमिसुतैकमूलम् ।
मनस्सुखञ्चापि विदूरजल्पं स भावयामास चिरं समुत्कः ॥३॥

श्रीराम ने पिछले दिन (विलासोपवन) में घटित, विदेहनन्दिनी-विषयक सम्पूर्ण घटना को भलीभाँति स्मरण किया और उन्होंने बड़ी देर तक उत्कण्ठापूर्वक—वार्तालाप से शून्य मानसिक आह्लाद का अनुभव भी किया।

कथं विलासोपवने ह्यकस्माद्विदेहजा नेत्रपथावतीर्णा ।
कथञ्च दिष्ट्याऽर्पितसाहचर्या सुधावचोभिस्स्पृहयाञ्चकार ॥४॥

विलासवनिका में कैसे अतर्कित रूप से विदेहनन्दिनी सीता दृष्टिपथ में आ गईं और सौभाग्यवश समीपस्थ बनकर कैसे अमृतसनी बातों से (उसने राम के प्रति) अनुरागभाव प्रकट किया ?

निशम्य नर्माणि सखीजनानां कथं दयस्वेति कलं भणन्ती ।
कादम्बिनीवारितचन्द्रयोगा ज्योत्स्नेव बाला शनकैः प्रनष्टा ॥५॥

सखीजनों की परिहासोक्तियों को सुनकर 'मुझ पर कृपा कीजिये' इस प्रकार मनोहर वाणी बोलती हुई वह बाला, बदलियों से अवरुद्ध चन्द्र-सम्पर्क वाली चन्द्रिका के समान कैसे क्षण भर में लुप्त हो गई ?

स्वयं निवृत्याऽपि सहोदरं स्वं दत्तावकाशं ह्यनपह्नुवानः ।
तदाचचक्षे कथमात्मवृत्तं कृताम्बकाकूणितवल्गुभावम् ॥६॥

(सीता से मिलकर) लौटने के बाद, घटना को न छिपाने वाले श्रीराम ने भी सुनने के लिये उत्कण्ठित अपने सहोदर (लक्ष्मण) को, कटाक्षों से प्रकट किये गये मनोरम भाव वाले उस आत्मवृत्त को कैसे बताया ?

कथञ्च पुष्पाणि विचीय बन्धू तुतोषतुर्गाधिसुतं मुनीन्द्रम् ।
तदाज्ञयैवाधिनिशामुखं तौ गतौ कथं नागरदर्शनाय ॥७॥

फूल चुनकर दोनों भाइयों ने कैसे महामुनि गाधिनन्दन को सन्तुष्ट किया और कैसे सान्ध्यवेला में उन्हीं की आज्ञा प्राप्त कर वे दोनों नगरवासियों के दर्शनार्थ गये ?

श्रुतागमौ ख्यातबलौ कुमारौ बालाभिराशंसितकायशोभौ ।
कथं निपीतौ पुरकामिनीभिर्वीथीष्वटन्तावनिमेषदृग्भिः ॥८॥

ज्ञात आगमन वाले, प्रख्यात पराक्रम वाले, बालाओं द्वारा बखानी गई शरीर-शोभा वाले तथा मिथिलापुरी की गलियों में पर्यटन करने वाले दोनों राजकुंवर कैसे अपलक चितवन वाली पुरवासिनी महिलाओं द्वारा सतृष्ण नेत्रों से देखे गये ?

भूयादये श्यामघनस्य विद्युत्सीताऽप्यमुष्यैव विभो ! प्रसीद ।
विलोक्य रामं कथमार्द्रचित्ता सुवासिनी काऽपि रतिं ततान ॥९॥

'हे परमेश्वर ! प्रसन्न होइये । सीता इसी श्यामघन (राम) की विद्युत् बने !' श्रीराम को देखकर, आर्द्रहृदय हो उठने वाली किसी सौभाग्यवती महिला ने कैसे (इस प्रकार) आकांक्षा की थी ?

क्व धूर्जटेश्चापममेयसारं क्व कोशलेन्द्रस्य सुतोऽयमाद्यः ।
निःश्वस्य सोद्वेगमितीव वृद्धःकथन्नु पुस्फोर विकल्पनैः स्वैः ॥१०॥

'कहाँ तो अपरिमेय सार (भार) वाला भगवान् शिव का धनुष और कहाँ कोशलेश दशरथ का यह ज्येष्ठ पुत्र राम !' इस प्रकार उद्विग्नता सहित लम्बी साँस लेकर कैसे कोई वृद्ध पुरुष अपनी ही अटकलों से परेशान हो उठा था ?

समागतेऽप्यावसथं निशायामाचार्यवर्यः कथमिष्टयोजी ।
सिष्णेह रामे कथयन्समोदं श्वोभावि सीतैकविवाहवृत्तम् ॥११॥

रात्रिवेला में, निवासस्थान में लौट आने पर, उपकार-परायण आचार्यश्री विश्वामित्र ने, अगले दिन घटित होने वाले सीता के महनीय विवाह-समाचार को प्रसन्नता-पूर्वक कहते हुए, कैसे श्रीराम को स्नेह प्रदान किया ?

कथं कथञ्चिद् विकलं शयानो रात्रावपि स्वप्नजगन्निलीनः ।
ददर्श तामेव वनीम्मनोज्ञां तामेव सीतां चिबुकग्रहं तम् ॥१२॥

विकलतापूर्वक यथाकथञ्चित् शयन करते हुए, रात्रिवेला में भी सपनों की दुनियाँ में डूबे हुए श्रीराम ने उसी लुभावनी विलासवनिका को देखा, उसी सीता और उसी चिबुकग्रह (ठोड़ी पकड़ने की क्रिया) को देखा ।

इति प्रतर्कैर्विविधैर्गृहीतः प्रभातकृत्यं चक्लृपे विनेतुम् ।
प्रभिन्नमल्लीमधुगन्धलुब्धश्चर्यानुलीनैकमना अलीव ॥१३॥

विकसित चमेली की मधुगन्ध के लोभी तथा (मधुसंग्रह रूपी) चर्या में विलीन चित्तवृत्ति वाले भ्रमर के समान (श्रीराम) इस प्रकार विविध तर्कनाओं द्वारा प्रभावित होते हुए, प्रातःकालीन (शौचादि) कार्यों को पूर्ण करने में लग गये ।

समाप्य कृत्यं ननु यावदेव व्रती स रामो गुरुदर्शनाय ।
प्रस्थातुकामोऽभवदाशु तावत्समक्षमायन् ददृशे मुनीन्द्रः ॥१४॥

जैसे ही प्रातःकृत्यों को समाप्त कर संयमशील श्रीराम गुरुदेव के दर्शनार्थ प्रस्थान करने को इच्छुक हुए कि तभी शीघ्रतापूर्वक आते हुए मुनीन्द्र विश्वामित्र सामने दिखाई पड़े ।

स पारदृश्वा समयत्रिकाणां दुर्धर्षतेजा: खलु गाधिसूनुः ।
विलोक्य रामं नयनाभिरामं गतो निकामं शममीश्वराणाम् ॥१५॥

भूत, वर्तमान तथा भविष्य—कालत्रय के पारदर्शी, दुर्धर्ष तेज वाले वह गाधिनन्दन नयनाभिराम श्रीराम को देखकर, सर्वसमर्थ प्रभुओं सरीखी पूर्ण-शान्ति को प्राप्त हुए ।

अथ क्षणानन्तरमेव वाग्भिस्सुधामयीभिस्ततवत्सभावः ।
मुनीश्वरोऽसावभिधाय किञ्चित्सञ्चस्करे दाशरथिं विनीतम् ॥१६॥

तदनन्तर कुछ ही क्षणों में, अमृतसनी वचनावलियों द्वारा (राम के प्रति) वात्सल्यभाव का विस्तार करते हुए उन महामुनि ने कुछ कह कर विनीत दाशरथि को आनन्दविह्वल कर दिया ।

अये समुत्तिष्ठ विहाय तन्द्रिं पराक्रमिन् राघव रामभद्र !
घटी क्षणानां समुपैति तूर्णं मास्म श्लथत्वं नितरां गमस्त्वम् ॥१७॥

अरे पराक्रमी राघव श्रीराम ! आलस्य छोड़ कर उठो तो ! महोत्सवों की वेला शीघ्रतापूर्वक समीप आ रही है (अब) तुम अत्यधिक शिथिल मत बनो !

मां प्रीणय स्फारय विक्रमं स्वं विस्मापय क्षमापय चारिवर्गम् ।
अलं विलम्बेन समग्रलोकं प्रत्यायय प्रार्थित ! दोर्महिम्ना ॥१८॥

हे प्रार्थनीय ! मुझे आनन्दित करो, अपने पराक्रम को प्रकाशित करो तथा शत्रुमण्डली को आश्चर्यचकित कर दो, निस्तेज कर दो । विलम्ब करना व्यर्थ है, बाहुओं की महिमा से समस्त संसार को (अपने पौरुष का) विश्वास करा दो ।

निशम्य वाचं गुरुतल्लजानां द्रुतं जजागार रिपुप्रमाथी ।
ऋषीश्वरोऽपि प्रययौ हितार्थी प्रस्थानकौतूहलवर्तनाय ॥१९॥

पूज्य गुरुचरण की वाणी सुनकर, शत्रुहन्ता श्रीराम तत्काल प्रबुद्ध हो उठे । मङ्गलाकांक्षी मुनीश्वर विश्वामित्र भी प्रस्थानकार्य की तैयारी करने के लिए चल पड़े

अथांशुमालिन्यपहाय किञ्चिन्माञ्जिष्ठरागं नभसि प्ररूढे ।
विदेहराजस्य सुतेन सार्धं मुनिः प्रतस्थे मखदर्शनाय ।।२०।।

इसके अनन्तर अंशुमाली भगवान् सूर्य के, मँजीठी जैसी लालिमा को कुछ-कुछ छोड़कर, आकाशमण्डल में स्थित हो जाने पर महामुनि विश्वामित्र राजा जनक के पुत्र के साथ यज्ञदर्शनार्थ प्रस्थित हुए ।

सम्भावितो राघवलक्ष्मणाभ्यां पुरश्च सीरध्वजनन्दनेन ।
बभौ मुनिः फाल्गुनसन्निभोऽसौ वसन्तहेमन्तरतीशयुक्तः ।।२१।।

श्रीराम तथा लक्ष्मण द्वारा अनुगमन किये जाते हुए तथा आगे महाराज जनक के पुत्र द्वारा नेतृत्व किये जाते हुए विश्वामित्र वसन्त, हेमन्त तथा कामदेव से अन्वित फाल्गुन मास के समान सुशोभित हो उठे ।

महोत्सवस्थानमुपागतास्ते प्रत्युद्गताः शास्त्रकृतोपचारैः ।
स्वयं महीपेन पुरोधसा च प्रणम्य सम्भाव्य यथानुकूलम् ।।२२।।

महोत्सव-मण्डप में उपस्थित हो जाने पर स्वयं भूपाल जनक द्वारा प्रणाम करके तथा पुरोहित (महर्षि शतानन्द) द्वारा अभिनन्दन करके—शास्त्रोपदिष्ट रीतियों द्वारा यथोचित रूप से उन लोगों की मान-प्रतिष्ठा की गई ।

ततश्च विस्फारितलोचनाभ्यामपश्यतां रङ्गभुवं कुमारौ ।
वितानपङ्क्तिप्रतिभातशोभां दौवारिकस्थापितचारुचर्याम् ।।२३।।

इसके अनन्तर गड़े हुए तम्बुओं से दीपित शोभावाली तथा द्वार पालकों द्वारा की जाती हुई कर्तव्यपरायणता वाली रंगभूमि को दोनों राजकुमारों ने आश्चर्यचकित नेत्रों से देखा ।

ब्रह्मर्षिभिर्दीप्तविलोचनाभैः राजर्षिभिश्च प्रमुखैः प्रवृद्धैः ।
कुटुम्बिभिर्मण्डितमध्यभागं सुसज्जितं व्यायतमण्डपाङ्गम् ।।२४।।

प्रकाशित नेत्रज्योतिवाले ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों, प्रमुख श्रेष्ठ बड़े-बूढ़ों तथा (राजा के) कुटुम्बियों द्वारा सुशोभित मध्यभाग वाले, भली-भाँति सजाए गये तथा विस्तृत मण्डप-भूमि वाले ।

ततोऽपि सव्येतरभूमिभागे ह्यध्यासितं भूपतिसार्वभौमैः ।
अशेषदेशागतराजपुत्रैर्दिदृक्षयैवाश्रितरत्नपीठम् ॥२५॥

उस मध्यभाग के भी दाहिने भाग में सार्वभौम नरपतियों द्वारा अलंकृत तथा देश-देशान्तर से समागत राजकुमारों द्वारा, धनुषयज्ञ देखने के ही उद्देश्य से ग्रहण किये गये रत्न-खचित पीठासनो वाले ।

पान्थप्रजापौरजनैरसंख्यैर्वामे विभागे कृतसन्निवेशम् ।
प्रमृष्टगन्धोदककुट्टिमांशं निर्मक्षिकं देवसभासदृक्षम् ॥२६॥

बायें भाग में बटोहियों, प्रजाओं तथा असंख्य पुरवासियों द्वारा समाश्रित, सुगन्धित जलराशि से प्रक्षालित फर्श वाले तथा देवसभा के समान शान्त ।

क्वचिच्च ताम्बूलकरङ्कवाहिन्युपाश्रिताश्लीलकटाक्षलीलम् ।
क्वचित्तु छत्रव्यजनोपहारप्रवर्तिनीभिर्वृतराजलोकम् ॥२७॥

कहीं पर ताम्बूलकरङ्क (पनडिब्बा) वहन करने वाली कामिनियों से युक्त (अतएव) अमर्यादित कटाक्षलीलाओं से भरे-पुरे और कहीं पर छत्र तथा व्यजन (पंखा) रूपी उपहार को प्रवर्तित करने वाली महिलाओं द्वारा सेवित राज-समूहं वाले ।

प्रमत्तमातङ्गकचीत्कृतैश्च प्रणोदितं वाहनकिङ्किणीभिः ।
क्वचिच्च काम्बोजतुरङ्गमाणां ह्रेषारवैर्ह्लादितबालवर्गम् ॥२८॥

मतवाले गजराजों की चिग्घाड़ों तथा वाहनों की छुद्रघण्टिकाओं द्वारा मुखरित और कहीं-कहीं पर कम्बोज-जातीय घोड़ों की हिनहिनाहट से आह्लादित किये जाते हुए शिशुसमूह वाले ।

इतीदृश मोदमवापतुस्तौ स्वयंवरक्षेत्रमदोऽवलोक्य ।
रघूद्वहौ चापधरौ कुमारौ साकेतवीरौ विदितप्रभावौ ॥२९॥

ऐसी ही विशेषताओं वाले उस स्वयंवर-मण्डप को देख कर-प्रख्यात पराक्रम वाले, साकेतवीर, धनुर्धारी, रघुवंशोत्पन्न वे दोनों राजकुमार आह्लादित हो उठे ।

अथ प्रशान्तेऽखिलराजलोके पुरोधसाऽऽज्ञापितभूमिपालः।
माणिक्यपीठं ह्यधिरुह्य वाचा गभीरयाऽघोषयदात्मभावम् ॥३०॥

एतदनन्तर समस्त रजवाड़ों के शान्त-सुस्थिर हो जाने पर, पुरोहित (महर्षि शतानन्द) द्वारा आज्ञापित राजा जनक ने माणिक्य-खचित वेदी पर खड़े होकर, गम्भीर वाणी में अपना संकल्प घोषित किया।

सुदूरदेशागतराजपुत्राः ! प्रचण्डदोर्दण्डजितारियूथाः !!
विरौति सीरध्वज एष चण्डं वाच्यं शृणुध्वं मम सावधानम् ॥३१॥

सुदूर देशों से आये हुए राजकुमारों ! दुर्घर्ष बाहुबल से शत्रुमण्डलियों को जीतने वालों !! यह सीरध्वज जनक ऊँचे स्वर में घोषणा कर रहा है। मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुनो।

स्वयंवरेऽस्मिन्मम वीर्यशुल्का लावण्यशीलप्रथिता सुकन्या।
पतिंवराऽत्रैव कमप्युदारं ग्रहीष्यति प्रीतवरं कराभ्याम् ॥३२॥

पराक्रम-प्रदर्शन ही जिसकी प्राप्ति का मूल्य है, ऐसी सौन्दर्य तथा शील में प्रख्यात मेरी शुभलक्षणा पतिंवरा कन्या (सीता) इस स्वयंवर-महोत्सव में यहीं पर किसी उदार प्रकृति वाले मनोभिलषित वर का पाणिग्रहण करेगी।

य एव वीरोऽक्षतशम्भुचापं द्रुतं समुत्थाय पिनाकमुच्चैः।
गुणञ्च दण्डेन युनक्ति सोऽसौ सीतापतिर्लोकसमक्षमद्य ॥३३॥

जो कोई वीर (इस) अक्षत शम्भुचाप 'पिनाक' को वेगपूर्वक ऊपर उठाकर प्रत्यञ्चा को धनुर्दण्ड पर आरोपित कर देगा, लोक के समक्ष आज वही सीता का पति होगा।

विधाय कीनाशगृहातिथिं यद् दक्षं धनुर्धूर्जटिना प्रदत्तम्।
प्रियाग्निदाहोत्थविरागधाम्नाऽस्मत्पूर्वजाय प्रणताय पूर्वम् ॥३४॥

अपनी प्रियतमा सती के अग्निदाह से उत्पन्न वैराग्यभाव वाले धूर्जटी शंकर ने दक्षप्रजापति को यमलोक भेजने के बाद जिस धनुष (पिनाक) को प्राचीन-काल में (अपने) विनीत सेवक हमारे पूर्वपुरुष को प्रदान किया था।

श्रीदेवरातान्ममपूर्ववंश्यात्ततः क्रमेणैव ममापि पार्श्वम् ।
संरक्षितं स्थाणुधनुस्तदेवं परीक्षते बाहुबलं समेषाम् ॥३५॥

मेरे पूर्वज उन्हीं महाराज श्री देवरात से क्रमशः मेरे पास संरक्षित वह देवाधिदेव शङ्कर का धनुष इस प्रकार सबके बाहुबल की परीक्षा ले रहा है ।

प्रख्याप्य सुस्पष्टमथ प्रजेशो दिदेश चापाय यदा कुमारम् ।
समग्रराजन्यकमप्युदग्रैस्तदेक्षणैर्द्रष्टुमियेष सोत्कम् ॥३६॥

एतदनन्तर महाराज जनक ने सुस्पष्ट घोषणा करके, जब कुमार (पुत्र) को धनुष लाने का आदेश दिया, उस समय उत्कण्ठित सम्पूर्ण राजमण्डल ने विस्फारित नेत्रों से (धनुष को) देखना चाहा ।

मञ्जूत्रिकामष्टरथाङ्गयुक्तां ततस्समानिन्युरभेद्यभित्तिम् ।
शतानि पञ्चाशदहो नराणामयोमयीं भासुरचापगर्भाम् ॥३७॥

देदीप्यमान धनुष जिसके भीतर विराजमान था, ऐसी लौहनिर्मित, अभेद्य भित्तिवाली तथा आठ पहियों पर चलने वाली मञ्जूषा को तब पाँच हजार व्यक्ति खींच कर (बाहर) ले आये ।

प्रोद्घाटिते पृष्ठकपाट इत्थं विलोक्य तं शाम्भवचापमुग्रम् ।
न के त्रपां स्वां जुगुहुः कदर्या जगाहिरे वा न विषादसिन्धुम् ॥३८॥

इस प्रकार उस मञ्जूषा का पृष्ठवर्ती कपाट (पल्ला) खोले जाने पर उस दुर्धर्ष शम्भुचाप को देखकर, कितने ही कायर भला अपनी लज्जा को नहीं छिपाने लगे अथवा विषाद के समुद्र में गोते नहीं लगाने लगे ?

न त्रेपिरे के खलु कान्दिशीकाः के च्विक्लिदुर्वेपथुभिर्न भीताः ।
के शिश्विदानास्ततृपुर्न हृष्टाः केऽहंयवः किन्तु न ये ददम्भुः ॥३९॥

भयभीत होकर पलायन करने वाले कौन लज्जित नहीं हो उठे ? डरे हुए कौन लोग पसीने से लथपथ नहीं हो गये ? पुण्यकर्मा कौन लोग तृप्त नहीं हो गये, प्रसन्न नहीं हो गये परन्तु दुरभिमानी कौन लोग डींग नहीं हाँकने लगे ?

मनोहताः के न रतिं हि जिध्युर्न तस्तृहुर्लम्पटतां विहस्ताः ।
न किम्पचाना बहुगर्ह्यवाचः के दुद्रुहुर्भावनया न जेरुः ॥४०॥

टूटे हुए मनोबल वाले कितनों ने ही (सीताविषयक) रतिभावना को तिलाञ्जलि नहीं दे दी ? शोकविह्वल किन लोगों ने लम्पटता को विनष्ट नहीं कर दिया ? अत्यधिक निन्दापरायण किन कृपणों (शक्तिहीनों) ने द्रोह नहीं किया और कितने ही लोग (नैराश्य) भावना के कारण बूढ़े नहीं हो गये ?

अकुण्ठदोर्दण्डबलप्रमत्ता अथाययुर्भूपतयः क्रमेण ।
तथापि नैको ग्रहणे शशाक प्रोत्तोलने ज्यागुणपूरणे वा ॥४१॥

अप्रतिहत बाहुबल के कारण मतवाले नृपतिगण अब एक-एक करके आगे आये । फिर भी (उनमें से) कोई धनुष को पकड़ने, ऊपर उठाने अथवा प्रत्यञ्चा की डोरी चढ़ाने में समर्थ नहीं हो सका ।

दृष्ट्वैव केचिन्मुमुहुर्विलक्षाः स्पृष्ट्वा च केचित्सकृदेडमूकाः ।
प्रवेपने यत्नकराश्च केचिन्निद्रालवो घर्मजलैर्बभूवुः ॥४२॥

विस्मय से भरे हुए कुछ लोग तो (धनुष को) देखकर ही मूर्छित हो गये और कहने-सुनने में असमर्थ कुछ लोग उसे छूकर ही (मूर्छित हो उठे) (उस धनुष को) हिलाने-डुलाने में ही प्रयत्नशील कुछ लोग पसीने से तर-बतर होकर ऊँघने लगे ।

उत्थापनार्थं मणिरत्नपीठात्सम्प्रास्थताः केचिदभीकशूराः ।
तथापि राजन्यकृताट्टहासैरर्धाध्वनश्चैत्य जडीबभूवुः ॥४४॥

कुछ कामुक महाबली लोग धनुष को उठाने के लिए मणिखचित रत्नपीठों से आगे बढ़े, फिर भी अन्यान्य राजाओं के अट्टहास से (लज्जित होकर) आधे रास्ते तक जाकर ही शिथिल हो गये ।

प्रवृद्धगृध्नुर्ननु यावदेव स्वस्माच्चचालासनतो हि कश्चित् ।
कटूक्तिभिस्तावदनल्पवीरैर्नव्यैः प्रविद्धो विभयाञ्चकार ॥४४॥

(धनुष उठाने के लिए) अत्यधिक आकांक्षाशील कोई भूपति जैसे ही अपने आसन से उठा कि तभी अनेक नवयुवक राजाओं की जलीकटी बातों से क्षतविक्षत होकर, भयभीत हो उठा ।

विलोक्य विख्यातमहीपशौर्यं श्रद्धालवः केऽपि धनुस्स्तुवन्तः ।
शनैरविज्ञातमथ प्रयाता वन्दारवो भूमिसुतां नमन्तः ।।४५।।

लोकप्रख्यात नरपतियों के (कुण्ठित) शौर्य को देखकर कुछ श्रद्धालु तथा वन्दनशील राजा लोग शम्भुचाप का स्तवन करते हुए तथा भूमिसुता सीता को प्रणाम करते हुए धीरे से, विना किसी को वताये ही खिसक गये ।

ततस्समाजग्मुरनन्तवीर्याः परश्शता वीरभटास्सहैव ।
न किन्तु शेकुर्धनुरिष्टलक्ष्यं प्रोद्वेल्लितुं किञ्चिदपि प्रयत्नैः ।।४६।।

इसके अनन्तर अपरिमेय पराक्रम वाले सैकड़ों बहादुर योद्धागण एक ही साथ (धनुष उठाने) आये परन्तु मनोवाञ्छित लक्ष्यभूत उस धनुष को प्रयत्नों द्वारा तनिक भी पलट पाने में समर्थ नहीं हो सके ।

विसारि वृत्तं प्रबभूव चित्रं ततस्सभायां मिथिलाधिपस्य ।
न कोऽपि शूरोऽवनिमण्डलेऽस्मिन्महीयते ज्ञातमिदं समेषाम् ।।४७।।

ऐसी परिस्थिति में महाराज जनक की सभा में यह आश्चर्यजनक समाचार चौतरफा जोर पकड़ने लगा कि (अब) सबको यह ज्ञात हो गया है कि इस भूतल पर कोई पराक्रमी व्यक्ति शेष नहीं रह गया है ।

अथाधिरुह्योन्नतमञ्चपीठं स्फुटं बभाषे जनको विषण्णः ।
महीश्वराः ! गच्छत दृष्टवीर्याः ! ज्ञातम्मया भूरिबलं भटानाम् ।।४८।।

इसके अनन्तर, ऊँचे मञ्चपीठ पर चढ़कर विषादग्रस्त महाराज जनक ने साफ-साफ शब्दों में कहा—हे महीश्वरों ! आप लोगों का पराक्रम देख लिया (अब) जाइये । मैंने शूरवीरों की प्रभूत शक्ति जान ली है ।

समर्च्यगङ्गाधरपादपद्मप्रलीनभृङ्गो नृपदेवरातः ।
उदावसुः कीर्तिरथो मनस्वी बृहद्रथः शंसितदेवमीढः ।।४९।।

समर्चनीय भगवान् शङ्कर के चरणकमलों में निलीन मधुकरस्वरूप राजा देवरात, उदावसु, महामना कीर्तिरथ, बृहद्रथ, प्रशंसनीय चरित्र वाले देवमीढ़ ।

सीरध्वजोऽहं मम सोदरश्च कुशध्वजाख्यस्स्वयमात्मजा मे।
यच्छाङ्करं कार्मुकमर्चनायै संस्थापयामासुरितस्ततोऽलम् ॥५०॥

मैं सीरध्वज जनक और मेरा कुशध्वज नाम वाला सहोदर (यहाँ तक कि) स्वयं मेरी पुत्री सीता, जिस देवाधिदेव शङ्कर के धनुष को, उपासना के लिए, जी भर कर इधर से उधर स्थापित किया करते थे।

तत्प्रत्ययेनैव विनोदितोऽहं चकार लध्वीमयि भोः प्रतिज्ञाम्।
फलन्ति मे सम्प्रति दुर्विपाकाः कुप्यानि कस्मै प्रवणीयकोऽहम् ॥५१॥

वस, उसी विश्वास का वल पाकर समागत वन्धुओं! मैंने छोटी सी प्रतिज्ञा कर डाली। इस समय मेरे ही दुष्कर्म परिणामोन्मुख हो रहे हैं। किस को दोष दूँ! (इस समय) असहाय हूँ मैं !!

न योजितो ज्ञातमिदं विधात्रा सीताविवाहस्तदलं श्रमेण।
शठोऽहमेवास्मि सुतापकारी कृतेदृशी येन नता प्रतिज्ञा ॥५२॥

यह जान लिया मैंने कि विधाता ने वैदेही का विवाह ही नहीं रचा है, तो फिर परिश्रम करना व्यर्थ है। वेटी का अकल्याण करने वाला शठ मैं ही हूँ जिसने इस प्रकार की लचर (सन्दिग्ध) प्रतिज्ञा कर डाली।

विज्ञाप्य राजा नयनाम्बुधाराप्रभिन्नकायो नतमौलिरित्थम्।
प्रस्थातुकामोऽभवदेव यावज्जगाद तावत्खलु गाधिसूनुः ॥५३॥

सिर झुकाये हुए तथा नयनाश्रुधारा से भींगी शरीर वाले राजा जनक इस प्रकार निवेदन करके जैसे ही चलने को उद्यत हुए कि तभी गाधिनन्दन महर्षि विश्वामित्र वोल उठे।

क्लैव्यं गमः मास्म विदेहराज! प्रपूर्यते सम्प्रति तेऽभिलाषः।
व्यपोह्यते नो तमसां हि भारः खद्योतपुञ्जै रविभाऽपनेयः ॥५४॥

विदेहराज जनक! कातरता को प्राप्त न हों। आपकी इच्छा अभी पूरी हुई जाती है। देखिये, सूर्य की प्रभा से दूर करने योग्य अन्धकार-राशि जुगनुओं की टोली से नहीं हटाई जाती है।

न शारदी चन्द्रमुदी कदाचिच्छिखावलानां भवतीष्टसाध्या ।
न चापि तारापथचारुगङ्गा सम्भावयत्यानतभूमिगर्तान् ॥५५॥

राजन् ! शरत्कालीन चन्द्रमा की चाँदनी कभी भी दीपकों का अभीष्ट-लक्ष्य नहीं होती है और न ही रमणीय आकाशगंगा भूमि के गहरे गड्ढों को पूर्ण करती है ।

उत्तिष्ठ भो राघव रामभद्र ! विपद्यते न्वेष महीमहेन्द्रः ।
प्रवर्षणैः किं ज्वलिते हि शस्ये कालोचितञ्चैव विभाति यत्नः ॥५६॥

हे रघुनन्दन श्रीराम ! उठो । निश्चय ही यह महाराजाधिराज जनक विपन्न हो रहे हैं । क्योंकि फसल के झुलस जाने पर अतिशय वृष्टि से क्या लाभ होगा ? समय के अनुसार ही प्रयत्न प्रशंसनीय हीता है ।

उत्थापयेमं शिवचापमुग्रं मौर्वीं समारोपय मानवेन्द्र !
समादिशत्येष गुरुस्त्वदीयो विदेहजां ह्लादय तां विदेहम् ॥५७॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हारा यह गुरु आदेश दे रहा है । इस दुर्धर्ष शम्भु-चाप को उठा लो, इस पर डोरी चढ़ा दो । उस (बेचारी) विदेहनन्दिनी तथा विदेह को आह्लादित कर दो ।

निदेशमाकर्ण्य गुरोश्चिकीर्षुः प्रियं समेषां रघुनन्दनोऽपि ।
समुत्थितोऽतर्कितमेव पीठात्तुङ्गाद्रिसानोरिव बालसूर्यः ॥५८॥

सब लोगों का प्रिय करने के लिये इच्छुक रघुनन्दन श्रीराम भी, गुरुदेव का आदेश सुनकर, उत्तुङ्ग-पर्वत-शिखर से बालरवि के समान, ऊँचे आसन से अचानक उठ खड़े हुए ।

क्षणं नृपेषु क्षणमुन्मुखेषु प्रजाजनेषु क्षणमात्मबन्धौ ।
महर्षिराजर्षिचयेषु वीरः क्षणं प्रचस्कन्द विलोचनानि ॥५९॥

पराक्रमी श्रीराम ने क्षण भर राजाओं पर, क्षण भर अपनी ओर देखने वाले (प्रियजनों) पर, क्षण भर अनुज लक्ष्मण पर तथा क्षणभर महर्षियों तथा राजर्षियों की मण्डली पर दृष्टियाँ फेरीं ।

ततश्च नैराश्यपयोधिवेल्लद्विलोलकल्लोलदरीगृहेषु ।
निमज्जितां शम्बरशावकाक्षीं सम्मूर्छितां भूमिसुतां ददर्श ॥६०॥

इसके अनन्तर (उन्होंने) निराशा के समुद्र में लहराती हुई चञ्चल महोर्मियों के दरीगृहों में डूबती हुई, मूर्छितप्राया, मृगनयनी वैदेही को देखा ।

निभालयन्तीं करकावपातं विहङ्गबालामिव तर्षदीनाम् ।
विकर्तनाकांक्षितभूरिभाग्यां पाथोजिनीं सिन्धुरमर्दिताङ्गीम् ॥६१॥

पिपासा के कारण विह्वल (किन्तु जल के बजाय) ओलों की वर्षा सहने वाली चातककिशोरी के समान, सूर्य से आकांक्षित प्रभूत सौभाग्यवाली (किन्तु उसके विपरीत) गजराज द्वारा मर्दित अंगों वाली कमलिनी के समान ।

जातास्मि मातस्तव पूतकुक्षौ विशामि तत्रैव सृतिं प्रदेहि ।
इति त्रपाभारनताननेन्दु मीमांसमानामिव भागधेयम् ॥६२॥

'हे माता ! तुम्हारी पवित्र कोख में पैदा हुई हूँ (अब) वहीं प्रवेश करती हूँ (मुझे) मार्ग प्रदान करो' इस प्रकार लज्जा के भार से झुके हुए मुखचन्द्र वाले अपने भाग्यक्रम की मानो मीमांसा करने वाली ।

वृथैव कस्माज्जनिता पितुर्मे निकारहेतुस्तदहं क्षमे नो ।
निरन्तरालाङ्घ्रिनखोपघातैस्सञ्चूर्णयन्तीमिव जन्मदात्रीम् ॥६३॥

'अपने पिताश्री के अपमान का कारणभूत मैं व्यर्थ में ही क्यों (तुम्हारे द्वारा) पैदा की गई, इसलिये मैं (तुम्हें) क्षमा नहीं करूँगी' मानो ऐसा निश्चय करके, चरणनखों की अनवरत चोट से जन्मदात्री (पृथ्वी) को भली-भाँति चूर-चूर करती हुई ।

अथोपरक्तामिव पार्वणेन्दोर्ज्योत्स्नामिवाश्च्योतनदुर्विधां ताम् ।
निर्भर्त्सितां किन्नरलोकबालां ददर्श सीतां किल राघवेन्द्रः ॥६४॥

आह्लादनक्षमता से विरहित, राहु द्वारा ग्रस्त पूर्णचन्द्र की चन्द्रिका के समान तथा तिरस्कृत किन्नरलोक की बाला के समान उस सीता को अन्ततः राघवेन्द्र श्रीराम ने अच्छी तरह देखा ।

विदेहजाभावितचित्तवृत्तोरसौ निमेषोऽपि रघूद्वहस्य ।
अनन्तकल्पक्षयजातमानः कालो बभूवार्तिविनाशनस्य ॥६५॥

विदेहनन्दिनी सीता से आप्यायित चित्तवृत्ति वाले, विपत्तिहर्ता रघुनन्दन के लिये वह (एक) क्षण भी, अनन्त कल्पों की अवधि के बराबर परिमाण वाला काल—प्रतीत हुआ ।

अलं विलम्बेन हृदोति मत्वा ससार रामः कतिचित्पदानि ।
प्रियाप्रियं हृद्यतमं चिकीर्षुशिशवायुधस्यान्तिकमाजगाम ॥६६॥

'अब विलम्ब नहीं करना चाहिये' हृदय में ऐसा निश्चय करके राम कुछ डग आगे बढ़े तथा प्रियतमा सीता का रमणीयतम प्रिय कार्य सम्पन्न करने की आकांक्षावश देवाधिदेव शङ्कर के धनुष के समीप आये ।

मृत्युर्गतो गाधिसुतेन दिष्टे मूर्च्छा गतोत्तिष्ठति रामभद्रे ।
क्लैव्यं गतं शम्भुधनुस्समीपं रामे स्थिते सौम्यविदेहजायाः ॥६७॥

महामुनि विश्वामित्र द्वारा (धनुर्भञ्जनार्थ) आज्ञा प्रदान करते ही सौम्य स्वभाव वाली वैदेही की मरण-संभावना, श्रीराम के (धनुर्भञ्जनार्थ) उठते ही मूर्च्छा तथा श्रीराम के शम्भुचाप के समीप पहुँचते ही कातरता समाप्त हो गई ।

ततः क्षणेनैव समर्च्य शम्भुं पिनाकमन्तःकरणे गुरुञ्च ।
सकृन्मृगाक्षीमवलोक्य सीतां पस्पर्श कोदण्डमुपेत्य रामः ॥६८॥

कुछ ही क्षणों के अनन्तर श्रीराम ने मन ही मन भगवान् शिव की, पिनाक की तथा गुरु विश्वामित्र की समर्चना करके, एक बार (पुनः) मृगनयनी सीता को देखकर—समीप पहुँच कर कोदण्ड का स्पर्श किया ।

अथोल्मुकीभूतमयूखजाले विस्मापयन्भूमिभृतां सहस्रम् ।
मध्येन जग्राह शरासनं तत्सलीलमारोपयति स्म रामः ॥६९॥

और तब (धनुष के) मशाल सरीखा प्रभामण्डल बिखेरने पर, हजारों नरपतियों को विस्मित करते हुए रघुनन्दन ने धनुष को बीच से पकड़ा और ऊपर उठा लिया ।

आरोप्य मौर्वीमपि यावदेव कोदण्डदण्डे परिपूरयेत्सः ।
भग्नं धनुस्तावदहो पुराणं प्रचण्डरावैश्श्लथयत्त्रिलोकीम् ॥७०॥

धनुष की प्रत्यञ्चा को भी जब तक वह धनुर्दण्ड पर आरोपित कर (उसे) पूर्ण करते कि तब तक वह प्राचीन धनुष प्रचण्ड घोष से त्रिलोकी को कम्पित करता हुआ टूट गया ।

संस्पर्शणे संग्रहणे कराभ्यां सन्तोलने वा गुणपूरणे वा ।
चापस्य किञ्चित्करणेऽपि भूपा द्रष्टुं न शेकुः कृतभूरियत्नाः ॥७१॥

पाणिद्वय से धनुष को स्पर्श करने, पकड़ने, ऊपर उठा लेने अथवा डोरी चढ़ा देने (यहाँ तक कि) घनुष का कुछ भी करने की क्रिया को देख पाने में—प्रभूत यत्नशील होते हुए भी—राजागण समर्थ नही हो सके ।

कोदण्डमैशं रघुनन्दने द्राक् प्रभञ्जयत्येव चकम्प भूमिः ।
वैवर्ण्यदैन्योपहता महीपा अवाङ्मुखा भीतियुता निपेतुः ॥७२॥

रघुनन्दन श्रीराम द्वारा शम्भुचाप को भग्न करते ही वसुधा काँप उठी । विवर्णता तथा दीनता के मारे नृपतिगण भयभीत होकर, औंधे मुँह नीचे गिर पड़े ।

प्रशिश्रियरे दिक्षु नदन्मतङ्गा ममौ धराभारमनन्तकोऽपि ।
कुलाचलाश्शीर्णतरास्ततञ्चुव्योमापि चिच्छेद हि सन्धिबन्धान् ॥७३॥

दिगन्तों में चिग्घाड़ते हुए दिग्गज धराशायी हो गये । अनन्त भी पृथ्वी के बोझ को फेंकने लगे । अत्यधिक चरमराए हुए सातों कुलपर्वत संकुचित होने लगे तथा आकाश भी अपने सन्धिबन्धनों को तोड़ने लगा ।

क्षणं जहुश्चाप्सरसोऽपि नृत्यं न किन्नराश्चापि दयाम्बभूवुः ।
भीतोत्थिता नो सुषुपुर्दिगीशाः स्वयं शचीशोऽपि शुशाव भीत्या ॥७४॥

क्षण भर के लिये अप्सराओं ने भी नृत्य को तिलाञ्जलि दे दी और किन्नरगण भी गायन से विरत हो गये । डर के मारे उठे हुए दिक्पाल-गण (दुवारा) नहीं सो सके । स्वयं शचीश्वर इन्द्र भी भयवश पसीने से तर-बतर हो गया ।

वात्या ववौ कालघनो जगर्ज ववाम शम्पापि दहत्स्फुलिङ्गान् ।
समग्र एवाण्डकटाह इत्थं बभ्राम. सस्थास्न जजार मिम्ये ॥७५॥

आँधी सी आ गई ! कालजलद सा गरजने लगा। विद्युत् भी मानो दहकती चिनगारियाँ उगलने लगी। इस प्रकार मानो सारा का सारा ब्रह्माण्ड चक्कर काटने लगा, शोर करने लगा, बूढ़ा होने लगा, नष्ट होने लगा।

प्रसूनजातं ववृषुस्समन्ताद् वृन्दारका वीतभयाः प्रहृष्टाः ।
अवेत्य रामाच्छिवचापभङ्गं सर्वेऽपि याताः प्रकृतिं निजेष्टाम् ॥७६॥

भयविहीन तथा आह्लादित देवताओं ने चारों ओर से पुष्पसमूह की वर्षा की। श्रीराम द्वारा शम्भुचाप के भञ्जन का समाचार जान कर सभी प्राणी अपनी अभीष्ट प्रकृति (अर्थात् प्रसन्नता) को प्राप्त हुए।

अथाङ्गना मैथिलपौरवध्वो लाजाक्षतादीनि कलं वहन्त्यः ।
समाययुर्दुर्लभदर्शनार्थं विवाहगीतानि समुच्चरन्त्यः ॥७७॥

इसके अनन्तर मिथिलापुरी की नगरवधूटी महिलायें, मनोहर रीति से धान का लावा तथा अक्षतादि (मंगलद्रव्यों) का वहन करती हुई तथा विवाह-गीतिकाओं का गायन करती हुई दूल्हे (श्रीराम) के दर्शनार्थ आईं।

ततश्च सीरध्वजपट्टराज्ञी सहैव वृद्धाभिरुपेतपार्श्वा ।
ननन्द जामातरमम्बुदाभं सहोदरञ्चापि हिमावदातम् ॥७८॥

तदनन्तर बड़ी-बूढ़ी महिलाओं के साथ समीप आई हुई महाराज जनक की राजमहिषी (सुनयना) ने नीलमेघ के समान साँवले जामाता का तथा हिमधवल छोटे भाई (लक्ष्मण) का अभिनन्दन किया।

घटेन शूर्पेण पटाञ्चलेन प्रदक्षिणीकृत्य वरञ्च राज्ञी ।
वात्सल्यनिस्यन्दिविलोचनाभ्यां निपीय वेश्माभिमुखीबभूव ॥७९॥

कलश, सूप तथा आँचल के छोर से दूल्हे की परछन करके तथा वात्सल्य भाव प्रवाहित करने वाले नेत्रयुगल से लालसापूर्वक देख कर रानी सुनयना राजमहल की ओर चल पड़ीं।

अथालिभिर्दत्तबलाभिमाना प्रियाङ्कपालीषु विनोद्यमाना ।
सम्प्रस्थिता मैथिलराजकन्या प्राणेश्वराणामभिनन्दनाय ॥८०॥

इसके अनन्तर सखियों द्वारा बलाभिमान (उदग्र साहस) प्रदान की गयी तथा प्रियजनों के बाहुपाश में दुलराई जाती हुई जनकजा सीता (अपने) प्राणेश्वर के अभिनन्दनार्थ प्रस्थित हुई ।

अग्रेसरीकृत्य पदद्वयं सा बाला क्वचित्साध्वसमन्दवेगा ।
पश्चात्पदं त्वेकमुपाययौ यज्जिगाय तेनैव तु शम्बरारिः ॥८१॥

वह नवयौवना सीता (सर्वप्रथम) दो डग आगे बढ़ कर (बाद में) भय के कारण शिथिल वेग वाली, एक डग पीछे की ओर जो खिसक आई—निश्चय ही उतने भर से शम्बरारि काम की महिमा का विस्तार हो गया ।

सा मल्लिकाक्षप्रमदाङ्घ्रिचर्या नीराजना विग्रहसम्मुखीना ।
शशाङ्कलेखेव पुरस्सरन्ती सीता कथञ्चित्प्रियमाजगाम ॥८२॥

राजहंसिनी के समान पदगति वाली, मूर्ति के सम्मुख प्रज्ज्वलित आरती के समान तथा सञ्चरणशीला चन्द्रिका के समान—आगे बढ़ती हुई वह सीता यथाकथञ्चित् प्रियतम (राम) तक आई ।

दीप्त्या रविश्चन्द्रिकयेव चन्द्रो वसन्तलक्ष्म्येव हि चैत्रमासः ।
रत्या स्मरो लोकपतिः श्रिया वा रराज रामोऽपि तया तदानीम् ॥८३॥

मयूखप्रभा के साथ सूर्य, चन्द्रिका के साथ चन्द्रमा, वसन्तसुषमा के साथ मधुमास, रति के साथ कामदेव अथवा लक्ष्मी के साथ नारायण के ही समान सीता के साथ रघुनन्दन श्रीराम भी सुशोभित हुए ।

मुहुर्मुहुस्तुल्यवयस्सखीभिः प्रणोदिता भूमिसुताऽथ दीना ।
आरोप्य कण्ठे वरमाल्यमाशु प्राणेश्वरस्याश्रुमुखीबभूव ॥८४॥

समवयस्का सहचरियों द्वारा बार-बार प्रेरित की जाने पर (लज्जावश) कातर जानकी ने तदनन्तर प्राणेश्वर श्रीराम के कण्ठ में शीघ्रतापूवक वर-माला पहना दी (और) अश्रुमुखी हो उठी ।

विदेहजे ! ब्रूहि पुनस्तदुक्तं श्रुतं मया यत्किल वाटिकायाम् ।
अये दयस्वेति निशम्य नर्म प्रियोदितं सा ह्रियमाप तन्वी ॥८५॥

सीते ! एक बार पुनः उस कही गई बात को कहो न, जो मैंने फुलवारी में अच्छी तरह से सुनी थी—'मुझ पर दया कीजिये !'—इस प्रकार (विनोदी) प्रियतम द्वारा कहे गये परिहासवाक्य को सुन कर वह तन्वङ्गी लज्जित हो उठी ।

ईषत्स्मितस्थूलकटाक्षवाचा प्रसादयन्ती दयितं छविल्लम् ।
मध्येसभं बाढमये दयस्व प्राणेश्वरेति प्रतिमायिता सा ॥८६॥

(श्रीराम के परिहासवाक्य को सुनने के बाद) हल्की मुस्कान से सारगर्भित चञ्चल चितवन रूपी वाणी से, सभा के बीच में ही एक बार पुनः 'हे प्राणेश्वर ! दया करिये' कह कर छविल्ल (रसिक) प्रकृति वाले प्रिय को आह्लादित करती हुई वह सीता (अपनी प्रगल्भता का अनुभव करके) मूर्ति के समान निश्चल हो उठी ।

अर्धाङ्गिनी दाशरथेर्बभूव प्रभामयी भूमिसुता प्रियेण ।
खञ्जीकृते शम्भुशरासनेऽस्मिन् स्वयंवरेणैव जगत्समक्षम् ॥८७॥

प्रियतम श्रीराम द्वारा उस (प्रख्यात) शम्भुचाप को तोड़ते ही दीप्तिमती सीता स्वयंवर विधि के माध्यम से, संसार के समक्ष दशरथनन्दन राम की अर्धाङ्गिनी बन गई ।

नृपमुवाच तथापि मुनीश्वरो दशरथं त्वरितन्नु समाह्वय ।
भवतु येन विवाहकुतूहलं रघुपतेरुभयोरपि सौख्यदम् ॥८८॥

फिर भी (लोकाचार सम्पादनार्थ) महामुनि विश्वामित्र ने जनक से कहा कि यथाशीघ्र महाराज दशरथ को बुलवाइये ताकि दोनों ही कुलों को सुख प्रदान करने वाला श्रीराम का विवाह-कौतुक सम्पन्न किया जाय ।

इति गुरौ वदति द्रुतवाहनो ह्यनुचरो जनकस्य निदेशतः ।
दशरथं नरपालपुरन्दरं गमयितुं प्रययौ त्वरितं रघून् ॥८९॥

गुरु विश्वामित्र के इस प्रकार आदेश देते ही, महाराज जनक की प्रेरणा से एक सेवक द्रुतगामी अश्व पर सवार होकर राजराजेश्वर दशरथ को लिवा लाने के लिये त्वरित गति से कोशल जनपद की ओर चल पड़ा ।

तत्काव्यं तरुणायते नवनवोन्मेषैर्लसद्वैभवम्
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं वाण्याशिषाऽनारतम् ।
सर्गोऽयं ननु सप्तमः परिणतिं राजेन्द्रकाव्येऽभजत्
सीतारामविवाहवर्ण्यविषयः श्रीजानकीजीवने ॥९०॥

नव्यातिनव्य उन्मेषों के कारण विलसित वैभव वाला तथा अखण्डानन्द रूपी पुष्पासव के कारण रुचिर जो काव्य, माँ सरस्वती के आशीष से निरन्तर तरुण प्रतीत होता है, राजेन्द्र प्रणीत उस काव्य में सीता तथा राम के विवाह रूपी वर्ण्यविषय वाला यह सातवाँ सर्ग परिणति को प्राप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्यैकपुण्यं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥९१॥

कविश्री कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका स्कन्ध-प्रदेश (तना) है, श्रीजयदेव के संस्कृतगीत जिसके पर्णसमूह हैं, श्री विह्लण की सदुक्तियाँ जिसके फूल हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका एकमात्र पुण्यफल है, अभिराज राजेन्द्र का वह निसर्ग-जात काव्यद्रुम चिरस्थायी हो ।

इतिश्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
स्वयंवरसंज्ञकः सप्तमः सर्गः

अष्टमः सर्गः

अथाधिपः पङ्क्तिरथोऽधिगत्य प्रवृत्तिमाह्लादकरीमुपेताम् ।
तनूजसौभाग्यनिवेदयित्रीं बभूव सम्मोदविसंष्ठुलाङ्गः ॥१॥

इसके अनन्तर, पुत्र (श्रीराम) के सौभाग्य को निवेदित करने वाली, समुपस्थित आह्लादकरी प्रवृत्ति (सूचना) को प्राप्त कर महाराज दशरथ प्रसन्नतावश थिरक उठे ।

मुदो न मान्त्यो हृदि भूमिपस्यास्त्रताङ्गता नेत्रकुशेशयाभ्याम् ।
प्रसुस्रुवुर्मौक्तिकमञ्जुभासो गलावरोधानपि सन्दधानाः ॥२॥

भूपति के हृदय में न समा पाती हुई प्रसन्नतायें, प्रेमाश्रु के रूप में परिणत होकर तथा मोतियों जैसी उज्ज्वल कान्ति को धारण कर, कण्ठावरोध उत्पन्न करती हुई—नेत्रकमलों से विगलित होने लगीं ।

कुटुम्बिनः प्रीतियुजो महिष्योऽनुजीविनश्चापि सुहृत्सखायः ।
निशम्य रामेण पिनाकभङ्गं प्रगूढहार्दं नितरां वितेनुः ॥३॥

प्रीतिपगे कुटुम्बीजन, राजरानियाँ, नौकर-चाकर और शोभन हृदय वाले मित्रगण श्रीराम द्वारा पिनाक धनुष का भञ्जन सुन कर, भरपूर अव्यक्त प्रीति का अनुभव करने लगे ।

श्रितप्रतिद्वारकदीपमाला प्रकीर्णगन्धोदकरम्यवीथी ।
सुसज्जितोत्कण्ठितनायिकेव चकासयामास पुरी रघूणाम् ॥४॥

प्रत्येक द्वार पर प्रकाशित दीपमाला वाली तथा छिड़के गये सुवासित जल से रमणीय गलियों वाली रघुवंशी राजाओं की पुरी (अयोध्या) सुवसना उत्कण्ठिता नायिका के समान दीप्त हो उठी ।

गृहीतसत्कारमथो विसृज्य प्रजेशभृत्यं खलु कोसलेन्द्रः ।
गुरुं समासाद्य नमद्वचोभिश्चकार विज्ञापितपथ्यतथ्यम् ॥५॥

सत्कार-प्राप्त राजा जनक के सेवक को भलीभाँति विदाकर, कोसलनरेश दशरथ ने गुरु वसिष्ठ के पास पहुँचकर विनीत वचनों से उन्हें आह्लादकारी वृत्तान्त से अवगत कराया ।

अरुन्धतीजानिरपि प्रहृष्टो गुणव्रजं तं रघुनन्दनस्य ।
प्रकल्प्य रोमाञ्चपरीतकायः क्षणं हृषीकाशुवशं जगाम ॥६॥

देवी अरुन्धती के पति (गुरु वसिष्ठ) भी प्रहर्षित होकर, रघुनन्दन राम के प्रख्यात गुणसमूह की कल्पना करके, शरीर में रोमाञ्च का अनुभव करते हुए, क्षणभर के लिये इन्द्रियों के सहज वशीभूत हो उठे ।

दिदेश भूपं मुदितः पुरोधा द्रुतप्रयाणाय च तं शुभंयुः ।
न येन माङ्गल्यघटी व्यतीयाद् विवाहवृत्तस्य विदेहपुर्याम् ॥७॥

प्रसन्नचित्त तथा शुभाकांक्षी पुरोहित ने शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान करने के लिये उन राजा दशरथ को आदेश दिया ताकि मिथिलापुरी में परिणयमहोत्सव की मंगललग्न बीत न जाय ।

अमात्यवर्यस्तु सुमन्त्रनामा तदाज्ञया कोसलभूमिभर्तुः ।
प्रबन्धमेको विदधे समग्रं चमूचराकांक्षिततुल्ययोगम् ॥८॥

कोसलनरेश दशरथ के श्रेष्ठ अमात्य सुमन्त्र ने, उनकी आज्ञा से अकेले ही सैनिकों की आकांक्षाओं के अनुरूप सारा प्रबन्ध सम्पन्न कर दिया ।

अथाश्वहिङ्कारसहस्रभिन्ना द्विपेन्द्रचीत्कारशतप्ररूढा ।
रथाङ्गसंघर्षरवानुविद्धा चमूः प्रयाणत्वरया रराज ॥९॥

इसके अनन्तर घोड़ों की हजारों हिनहिनाहटों से युक्त, श्रेष्ठ गजराजों की सैकड़ों चिग्घाड़ों से ओतप्रोत तथा पहियों की रगड़ से उत्पन्न ध्वनियों से भरीपुरी (बरातियों की) सेना प्रस्थान करने की शीघ्रता से सुशोभित हो उठी ।

ततो वसिष्ठप्रमुखाः प्रतस्थुर्महर्षयस्ते शिविकाधिरूढाः ।
विलोलकाम्बोजहयाश्ववारौ कुमारकौ द्वौ ययतुः पुरस्तात्॥१०॥

तदनन्तर वसिष्ठ आदि वे महर्षिगण पालकियों पर बैठकर चल पड़े। दोनों राजकुमार (भरत एवं शत्रुघ्न) भी चञ्चल कम्बोजजातीय अश्वों पर बैठकर आगे-आगे चल पड़े।

मतङ्गजारूढ इयाय कश्चित् क्रमेलकोत्तुङ्गककुत्स्थितो वा ।
ययुश्च केचिद्द्रुतयाप्ययानै रथैश्शताङ्गैश्शकटादिभिर्वा ॥११॥

कोई हाथी पर बैठ कर अथवा ऊँट की ऊँची पीठ पर आसीन होकर चल पड़ा। कुछ लोग तीव्रगामी शिविकाओं अथवा सैकड़ों कलपुर्जे वाले रथों या फिर बैलगाड़ियों आदि पर सवार होकर चल पड़े।

पताकियाष्टीकधनुर्धरा वा पुरोगनैस्त्रिंशकाण्डवन्तः ।
पदातिपारश्वधिकायुधीया उरश्छदच्छन्नसमग्रकायाः ॥१२॥

ध्वजाओं का वहन करने वाले, यष्टि (लाठी) धारण करने वाले, धनुर्धारी, अग्रगामी खड्गधारी, तीरन्दाज, पदयात्री परशुधारी, शस्त्रधारी, कवचों से ढँके हुई सम्पूर्ण शरीर वाले।

कलम्बकोदण्डनिषङ्गचर्मप्रकृष्टशीर्षण्यविभूषिताङ्गाः ।
सहस्रिणस्सैन्यचराश्च जैत्राः पुरो ययुर्नर्मवचोऽनुलीनाः ॥१३॥

बाण, धनुष, तरकस, ढाल तथा मजबूत (शीर्षरक्षक) टोप से विभूषित अंगों वाले हजारों दिग्विजयी सैनिक हँसी-मजाक करते हुए आगे-आगे चल पड़े।

ततोऽनुकामीन इभेन्द्रपृष्ठे विराजमानोऽधिपचक्रवर्ती ।
स कोसलेन्द्रोऽपि समर्च्य देवान् प्रतिग्रहस्थोऽनुससार सैन्यम् ॥१४॥

इसके बाद यथारुचि गमन करने वाले, भूपाल-चक्रवर्ती वह कोसलनरेश (दशरथ) भी इष्ट देवों की अराधना करके श्रेष्ठ गजराज की पीठ पर विराजमान होकर तथा सेना के पिछले भाग में स्थित होकर उसके पीछे-पीछे चल पड़े।

चलत्यमुष्मिञ्जवने नृलोके सहस्रनादच्छुरितो बभूव ।
स्फुटप्रतिध्वानविकीर्णरूपो गभीरकोलाहलको हि कश्चित् ॥१५॥

उस वेगगामी जनसमूह के प्रस्थान करने पर, हजारों ध्वनियों से सम्मिश्रित तथा सुस्पष्ट प्रतिध्वनियों के कारण विस्तृत आकार वाला एक विचित्र धीर-गम्भीर कोलाहल उत्पन्न हो उठा ।

प्रणादसंहूतिविवादपृच्छास्तवापलापोत्तरवाचिकाद्यैः ।
विमिश्रितोऽसौ वरयात्रिणां कोऽप्यभूद्रवो व्योमविकम्पकारी ॥१६॥

प्रेममय संबोधनों, सामूहिक आह्वानों, विवादों, प्रश्नों प्रशंसाओं, रहस्यात्मक बातों तथा सन्देशवचनादिकों से मिला-जुला तथा आकाशमण्डल को (भी) कम्पित कर देने वाला, बारातियों का वह एक अद्भुत शोरगुल पैदा हो उठा ।

सुवाहनारोहणलीलयैवं पुरौकसां चित्तविनोदमिष्टम् ।
समानयन् कोसलचक्रवर्ती समाससादाथ विदेहदेशम् ॥१७॥

श्रेष्ठ वाहनों की आरोहण-लीला से, इस प्रकार, नगरवासियों का रुचिकर मनोविनोद करते हुए कोसल-नरेश दशरथ अन्ततः विदेह जनपद में पहुँच गये ।

अवाप्य सम्बन्धिजनोचिताढ्यां लसत्सपर्यां निमिवंशकेतोः ।
न मार्गशूल स्मृतवान्नृपेन्द्रः समित्रवर्गस्सगुरुस्सभृत्यः ॥१८॥

निमिवंश-भूषण (महाराज जनक) की समधी के योग्य, भरीपुरी शोभन पहुनाई को प्राप्तकर मित्रों, गुरुजनों तथा सेवकों सहित नृपश्रेष्ठ दशरथ ने मार्ग की कठिनाइयों का स्मरण तक नहीं किया ।

वचोऽधिकां कर्ममयीं प्रतिष्ठां ततोऽप्युदूर्ध्वां प्रियताभिशंसाम् ।
समर्पयामास विदेहराजो नृपाय साकेतधनाय तस्मै ॥१९॥

वाणी से भी अधिक साकार प्रतिष्ठा और उस प्रतिष्ठा से भी कहीं ऊँची प्रीतिभरी प्रशस्ति, विदेहराज जनक ने अयोध्यानरेश उन दशरथ को समर्पित की ।

लसत्तडागाजिरजातपद्मैर्वहत्समीरानुगतैश्च गन्धैः ।
पतद्द्विरेफोद्गतमञ्जुरावैस्सभाजयामास नृपं निसर्गः ॥२०॥

शोभासम्पन्न सरोवरों के आँगन में खिले कमलों, बहती हुई बयार में उड़ती हुई सुरभियों तथा उड़ते हुए भ्रमरों से उठी मीठी झङ्कारों से प्रकृति ने (भी) महाराज दशरथ की पहुनाई की।

पुराङ्गनाकण्ठजलोकगीतैः प्रकीर्णलाजाक्षतगन्धचूर्णैः ।
नटीजनोद्भावितनर्मवाक्यैर्ननन्द सीरध्वजपूश्च भूपम् ॥२१॥

नगरवधुओं के कण्ठों से उत्पन्न लोकगीतों, बिखेरे गये धान के लावों, अक्षतों और गन्धचूर्णों तथा नटियों द्वारा गाई गई गालियों द्वारा सीरध्वज राजा जनक की पुरी (मिथिला) ने राजा दशरथ की अगवानी की।

यथोचितैर्वैदिकलौकिकैर्वा क्रियोपचारैर्वरयात्रिपुञ्जम् ।
समर्चयन् प्रीतमना विदेहो न कस्य हृद्यां ममतामवाप ॥२२॥

यथायोग्य वैदिक अथवा लौकिक क्रियाओं एवं सुविधाओं द्वारा वारातियों के दल की अर्चना करते हुए मुदितमन विदेह ने किसकी सहज ममता नहीं प्राप्त कर ली ?

न तादृशी प्राघुणसत्क्रियाऽभूत्कदापि काचित्क्वचिदातिथेयैः ।
इतीव वृद्धा निभृतं लपन्तः श्रुताः पुरीवीथिषु वाचि दक्षाः॥२३॥

'उस प्रकार का पाहुनों का कोई सत्कार, कभी भी, कहीं पर घरातियों द्वारा नहीं किया गया' वार्तानिपुण बड़े-बूढ़े लोग आपस में इस प्रकार की चर्चा करते हुए मिथिला की गलियों में सुने गये।

अथाज्ञयोद्वाहविधानकार्यं पुरोधसोः प्रारभतानुरूपम् ।
मृदङ्गवेणुस्वनघुष्टभावं दधद् वधूगीतपदैर्गुरुत्वम् ॥२४॥

अब इसके बाद दोनों पुरोहितों (वसिष्ठ एवं शतानन्द) की आज्ञा से मृदङ्ग तथा वंशीध्वनि से संसूचित भाव वाला तथा वधूटियों के गीतपदों से गौरव को धारण करने वाला मनोरम विवाहोत्सव का 'कर्मठ' प्रारंभ हुआ।

दुकूलशाटीवृतचारुगात्राऽवगुण्ठिता यावकपाटलाङ्घ्रिः ।
ततोऽङ्कपाल्या शनकैरनायि क्षमासुता नापितधर्मपत्न्या ॥२५॥

तदनन्तर रेशमी साड़ी से ढंके शोभन गात्रवाली, घूंघट काढ़े हुई तथा महावर से रञ्जित चरणोंवाली सीता नाइन द्वारा धीरे-धीरे गोदी में भर कर लाई गई।

क्षणं स्थिता राघवदक्षिणांशे ततश्च वामे गुरुणोपदिष्टा ।
रराज तन्वी श्रितमल्लिकाक्षा निपानतल्पे वरटोत्तमेव ॥२६॥

कुछ समय तक श्रीराम के दाहिने भाग में और तदनन्तर गुरु (शतानन्द) की आज्ञा से वामभाग में अवस्थित तन्वङ्गी सीता—सरोवर रूपी बिछौने पर राजहंस के साथ विराजमान श्रेष्ठ हंसिनी के समान सुशोभित हुई।

अथोपपन्नेऽखिलमाङ्गलिक्ये विवाहचर्याश्रितकर्मकाण्डे ।
समं महिष्या मिथिलापुरीन्द्रः समाययौ सौम्यसुतार्पणाय॥२७॥

अब, विवाहविधि पर आश्रित कर्मकाण्ड वाले समस्त माङ्गलिक कार्यों के सम्पन्न हो जाने पर मिथिलानरेश जनक पटरानी (सुनयना) के साथ साध्वी कन्या का दान करने हेतु पधारे।

स राघवेन्द्रस्य पदे त्रिवारं मिलत्कराभ्यां परिवर्तिताभ्याम् ।
जलेन विक्षाल्य निधाय शीर्षे प्रपूरयामास पितृप्रभारम् ॥२८॥

राजा जनक ने परिवर्तित अर्थात् बाईं के ऊपर चढ़ी दाईं हथेली वाले सम्मिलित हाथों से राघवेन्द्र श्रीराम के चरणों को जल से तीन बार धोकर और माथे चढ़ाकर (कन्या के) पिता का दायित्व पूरा किया।

निशाक्षतोन्मिश्रदधिप्रपूरैः प्रदीप्तभाले विरचय्य शुभ्रम् ।
विशेषकं दाशरथेरनल्पं प्रजेश्वरोऽवाप सुखातिरेकम् ॥२९॥

हल्दी और अक्षत से मिश्रित दधिपिण्ड से दाशरथि राम के तेजोदीप्त मस्तक पर एक बड़ा सा अच्छा टीका लगाकर महाराज जनक अत्यधिक सुख को प्राप्त हुए।

पुस्तकालय
परिग्रहण सं० 23434
दि० 23.08.07
नई दिल्ली

ततश्च सम्पाद्य तदेव कृत्यं वधूटिकावेषलसत्सुतायाम् ।
स कारयामास निजानुरूपां क्रियां महिष्याऽपि शुभामनूनाम् ॥३०॥

इसके अनन्तर दुलहन की वेषभूषा से शोभायमान कन्या के प्रति भी वही सारा मंगलकृत्य सम्पन्न करके राजा जनक ने महारानी सुनयना से भी अपने ही जैसा सम्पूर्ण मङ्गलाचार सम्पन्न कराया ।

क्षणे च तस्मिन् कलकण्ठवत्यो जगुस्सुवासिन्य उलूलुमिश्रम् ।
विवाहकालोचितवल्गुगीतं चराचराश्च्योतनकं प्रसिद्धम् ॥३१॥

उस विवाह-वेला में सुरीले कण्ठवाली विवाहित महिलाओं ने 'उलूलु' ध्वनि-मिश्रित, पारम्परिक तथा चराचर जगत् को व्यामोहित कर देने वाले विवाहावसर के अनुकूल मनोहर गीत गाये ।

चलो निपोऽथावपनं चलं तत्कुशाग्रधाराऽपि विचञ्चलाऽसौ ।
चलो वधूटीजनकोऽपि कुर्वन् सुतार्पणं मण्डपके विभाति[1] ॥३२॥

(उस गीत का भाव इस प्रकार था कि—) कलश काँप रहा है, थाली काँप रही है, कुशों का यह अग्रभाग भी काँप रहा है । विवाहमण्डप में कन्या-दान करने वाला कन्या का पिता भी (कन्या के भावी वियोग वश) कम्पित हो रहा है ।

प्रदत्तवस्त्रं श्वसुरेण धर्तुं वरो न जानाति कलानभिज्ञः ।
प्रदर्शयत्येव ततो नु धृत्वा स्वयं कुमारो वधुकानुजातः[2] ॥३३॥

श्वसुर द्वारा दिये गये वस्त्र (धोती) को पहनना, वस्त्र पहनने के ढंग से अपरिचित दूल्हा नहीं जानता है, तभी तो दूल्हन का भाई कुमार स्वयं वस्त्र पहन कर दिखला रहा है ।

---

१. उत्तरप्रदेश के पूर्वाञ्चल में गाये जाने वाले विवाह-गीतों का भाव इस प्रकार है—

काँपइ लोटा औं काँपइ थारी, काँपइ कुसेह कइ धार हो ।
मँड़ए में काँपइँ बाबा हो कवने राम करथें करिनवाँ कऽदान !!

२. दिहली ई धोतिया पहिरहीं न जानैं हो !
भैया हो कवने राम पहिरि देखावैं हो !!

कुमार भो मैथिलभूपजन्मन् ! न तेऽम्बुधारा भवताद्विभिन्ना[१]।
विभिन्नधारे सति पात्रतोये भवेद्धि कौलीनमथोपहासः ॥३४॥

मिथिलानरेश के लाड़ले राजकुमार ! तुम्हारी जलधारा टूटने न पाये ! कलसे की जलधारा यदि टूट गई तो बड़ी जगहँसाई होगी, बड़ी निन्दा होगी ।

वरोत्तरीयग्रथितांशुकान्ता कृतावगुण्ठा परितोऽग्निवेदीम् ।
चचाल सप्तभ्रमिपूरणाय विदेहजान्ते सह राघवेण ॥३५॥

दूल्हे (श्रीराम) के उत्तरीय से गाँठ लगाई गई रेशमी साड़ी के छोर वाली तथा घूँघट काढ़े हुई विदेहजा सीता अन्त में रघुनन्दन श्रीराम के साथ अग्निवेदी के चारों ओर सात भँवरो को पूर्ण करने के लिये प्रस्थित हुई ।

मरन्दमाध्वीमधुरैर्वचोभिस्तदापि सख्यो नवलोकगीतम् ।
जगुर्मनोज्ञं वरयात्रिपक्षे प्रसूतसौख्याभिरुचि प्रकामम् ॥३६॥

उस अवसर पर भी सीता की सहेलियों ने पुष्परस की मिठास के समान मधुर ध्वनियों से, बारातियों के दल में आनन्द और ललक पैदा कर देने वाला मनो र नवीन लोकगीत बड़े मन से गाया ।

भ्रमिर्गतेयं प्रथमा समाप्तिं तवास्मि सम्प्रत्यपि तात!साऽहम्[२]।
भ्रमिर्द्वितीयाऽपि मम व्यतीता तवैव सम्प्रत्यपि तात!साऽहम्॥३७॥

यह पहली भँवर (अग्नि-प्रदक्षिणा) समाप्ति को प्राप्त हुई (किन्तु) पिता जी ! तुम्हारी वेटी मैं अभी भी 'तुम्हारी' हूँ । मेरी दूसरी प्रदक्षिणा भी पूर्ण हो चुकी (परन्तु) तुम्हारी वेटी मैं अभी भी 'तुम्हारी ही' हूँ ।

---

१. अरे अरे भइया कवने राम तोरी धरिया न टूटइ हो ।
धार टूटे पति जइहैं बड़ी कुजुगुति होइहैं हो !!

२. पहिली भँउरिया पूरन भई बाबा ! अजहूँ तोहारिनि हो
दुसरी भँउरिया पूरन भई बाबा ! अजहूँ तोहारिनि हो !!
तिसरी भँउरिया पूरन भई बाबा ! अजहूँ तोहारिनि हो
चउथी भँउरिया पूरन भई बाबा ! अजहूँ तोहारिनि हो !!
पँचईं भँउरिया पूरन भई बाबा ! अजहूँ तोहारिनि हो
छठईं भँउरिया पूरन भई बाबा ! अजहूँ तोहारिनि हो !!
सतईं भउँरिया के पूरत बाबा ! भइलूँ पराइनि हो !!

भ्रमिस्तृतीयाप्यधुनोपपन्ना भवामि सम्प्रत्यपि तात!तेऽहम्।
भ्रमिश्चतुर्थी विगताऽधुनाऽपि तवैव पाल्या ननु तात!मान्या!!३८॥

अब तीसरा फेरा भी पूरा हो गया (परन्तु) बाबा ! अभी भी मैं तुम्हारी ही हूँ। चौथा फेरा समाप्त हो गया (किन्तु) बाबा ! अभी भी मैं तुम्हारी ही पाली-पोसी गई बेटी मानने योग्य हूँ।

भ्रमिर्व्यतीता खलु पञ्चमीयं तवैव कुक्षौ प्रभवामि तात।
इयञ्च षष्ठी भ्रमिरप्यतीता सुतां निजामेव कुरुष्व दीनाम्॥३९॥

यह पाँचवीं भँवरी भी बीत चली (परन्तु) पिता जी (अभी भी) तुम्हारी ही गोदी पर मेरा अधिकार है और यह छठीं भँवरी भी समाप्त हुई (परन्तु) बाबा ! मुझ अकिञ्चन को (अभी भी) अपनी ही कन्या समझना।

प्रपूर्यते सम्प्रति सप्तमीयं भ्रमिर्मदीया सह दुर्लभेण।
बतास्मि तात! च्युतमातृसौख्या परस्य वित्तं त्वधुनैव जाता!!४०॥

अब दूल्हे के साथ यह मेरी साँतवीं भौंरी पूरी हो रही है। खेद है बाबा ! मायके के सुख से वञ्चित मैं अब इसी समय 'पराई-सम्पत्ति' हो गई हूँ।

निशम्य भावाञ्छितगीतगर्भान् स्मृताङ्कजाशैशवकेलिसौख्यौ।
विमुक्तनेत्राम्बुजवारिधारौ विषेदतुर्विह्वलदम्पती तौ॥४१॥

गीतों के अन्तराल में गुँथे हुए भावों को सुनकर तथा बेटी सीता के शैशवकालीन क्रीडासुखों का स्मरण करने वाले वे दोनों पति-पत्नी (राजा जनक और रानी सुनयना) नेत्राम्बुजों से अश्रुधारा बरसाते हुए व्यथित हो उठे।

विदेहनाम्नोऽपि विलोक्य रागं सुतोत्तमायां ननु लौकिकं तम्।
विवाहपीठस्थितसर्वलोको बभूव नीहारलसत्कुवेलम्॥४२॥

'विदेह' नाम वाले होते हुए भी उन (महाराज जनक) के, सुयोग्य कन्या के प्रति उस लौकिक प्रेमभाव को देखकर विवाहपीठ पर विद्यमान सारा समाज ही ओसकणिकाओं से ओतप्रोत कमलपुष्प बन गया।

विवाहसप्तभ्रमिपूरणान्ते गुरोर्निदेशः किल रामभद्रः।
पवित्रसिन्दूरभरैस्सहेलं बुभूष सीमन्तमथोर्विजायाः ॥४३॥

विवाह के सात फेरों की पूर्ति के बाद श्रीराम ने गुरु वसिष्ठ के आदेश से पवित्र सिन्दूर-समूह से विनोदपूर्वक जनकनन्दिनी की माँग को अलंकृत कर दिया।

शनैर्व्यतीते च विवाहवृत्ते प्रभूतलाजाक्षतपुष्पवर्षैः।
सभाजयामासुरुपेत्य सर्वे वरं वधूटीञ्च शुभैषणाभिः ॥४४॥

विवाहोत्सव के क्रमशः समाप्त हो जाने पर सब लोगों ने पास पहुँच कर ढेर सारी खीलों, अक्षतों और फूलों की वर्षा से तथा शुभाशंसाओं द्वारा दूल्हे और दुलहन का अभिनन्दन किया।

विराजते यावदयं नगेशो वसुन्धरायां हिमवत्किरीटः।
महीयते यामुनगाङ्गसङ्गो हृदङ्गणे तीर्थपतेश्च यावत् ॥४५॥

हिममय किरीट वाला यह नगेश (हिमालय) जब तक पृथ्वी पर विद्यमान है और जब तक तीर्थपति प्रयाग के हृदयदेश में यमुना-गङ्गा का संगम प्रतिष्ठित है।

निशाकरार्कौ किल यावदेतौ चकासतो व्योम्नि समञ्जसाय।
अखण्डसौभाग्यमुदेतु तावद्द्वयोरपीति स्वजनैर्बहूक्तम् ॥४६॥

चन्द्रमा और सूर्य, ऋत की रक्षा के लिये जब तक आकाश में सचमुच प्रकाश करते रहें, तब तक वर और वधू का अखण्ड सौभाग्य अक्षुण्ण रहे—इस प्रकार सगे सम्बन्धियों द्वारा बार-बार कहा गया।

त्रयोऽपि रामेण समं कुमारा वृताः कुमारीभिरथाधिपस्य।
वनश्रियावाप्तसुखे वसन्ते सुखं न कासां वनवल्लरीणाम् ॥४७॥

श्रीराम के साथ ही (अन्य) तीनों कुमार (लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न) भी मिथिलानरेश की कन्याओं (उर्मिला, माण्डवी तथा श्रुतकीर्ति) द्वारा वरण किये गये। वनलक्ष्मी के साहचर्य से ऋतुराज वसन्त के आह्लादित हो उठने पर भला कानन की किन लताओं को सुख नहीं प्राप्त हो जाता!

अथागते मङ्गललग्नकाले निजाङ्गजास्वामिकुलप्रयाणम् ।
व्यचिन्तयद्भूमिपतिर्महिष्या सहैव सम्मन्त्र्य कुलानुरूपम् ॥४८॥

इसके अनन्तर मङ्गलमयी लग्नवेला आने पर महाराज जनक ने राजरानी सुनयना की सहमति लेकर, कुल के अनुरूप, अपनी बेटी को ससुराल भेजने का विचार किया।

ततश्च सख्यो गृहकार्यदक्षा लसच्चतुष्षष्टिकलाप्रवीणाः ।
विदेहजां संविदधुस्सयत्नं प्रसाधनैश्चारुतरैर्वधूटीम् ॥४९॥

और तब घर-गृहस्थी के कामों में चतुर और प्रशंसनीय चौंसठ कलाओं में पारंगत सहेलियों ने अत्यधिक रमणीय अलंकरणों से, प्रयत्नपूर्वक विदेहनन्दिनी सीता को 'दुलहन' बना दिया।

गलेऽनघं मौक्तिकदाम शुभ्रं विलोलकेशेष्वपि चन्द्रहारम् ।
श्रुतिद्वये काञ्चनकुण्डले द्वे ललन्तिकां वक्षसि हृद्यरूपाम् ॥५०॥

गले में निष्कलंक, धवल मुक्ताहार, चंचल केशकुन्तलों में चन्द्रहार, दोनों कानों में दो सुवर्ण-कुण्डल और वक्षस्थल पर मनोहर रूप वाली नाभिचुम्बिनी कण्ठिका (हारलता)।

प्रकोष्ठयोर्हाटकपारिहार्यौ प्रगण्डयोरङ्गदचारुयुग्मम् ।
कटौ च काञ्चीं चरणाङ्गुलीषु ध्वनत्तुलाकोटिकदम्बकानि ॥५१॥

दोनों प्रकोष्ठों (मणिबन्ध के ऊपरी भागों) में स्वर्णनिर्मित कटक (वलय) भुजाओं में सुन्दर भुजबन्दों का जोड़ा, कटिप्रदेश में करधनी और दोनों चरणों की उँगलियों में झन्झनाते हुए बिछुओं के समूह।

प्रसूनपुञ्जं कबरीदरीषु प्रकृष्टधम्मिल्लपदे च पत्रम् ।
दुकूलचोलाप्रपदीनवस्त्रं पयोधराद्यङ्गचयेषु रम्यम् ॥५२॥

केशबन्ध-रचना के अवकाशों में पुष्पसमूह, यत्ननिर्मित जूड़े में पत्रखण्ड, तथा पयोधरादि अङ्ग-समूहों में रमणीय रेशमी कञ्चुक तथा घाँघरा।

विभूषणान्येवममूनि धृत्वा निवीतगूढा वधुकानुरूपा ।
अनन्तविच्छित्तिततिं दधाना विदेहजाऽभासत देवजेव ॥५३॥

इस प्रकार उन आभूषणों को धारण किये हुई, वधूवेष के (सर्वथा) अनुरूप आवरणवस्त्र (ओढनी) में छिपी हुई, अनन्त सौन्दर्यराशि को आत्मसात् करती हुई विदेहतनया सीता देवबाला जैसी शोभित होने लगी ।

प्रभातमार्तण्डरुचिप्रलीना हिमाचलश्रीरिव वेषरम्या ।
प्रसूनपुञ्जोपहितेव वाटी रराज रोचिष्णुरसौ वधूटी ॥५४॥

प्रातःकालीन सूर्य की किरणों में डूबी हुई हिमालय पर्वत की सुघराई जैसी तथा पुष्पसमूह से ढँकी हुई विलासवनिका के समान रमणीय वेषभूषा वाली अतिशय शोभा-सम्पन्न वह वधूटी (सीता) उद्दीप्त हो उठी ।

ततः क्षणेनैव वियोगमूला दुरन्तविश्लेषकरी समेषाम् ।
समाययौ कान्तगृहप्रयाणे घटी समर्थाऽवनिनन्दनायाः ॥५५॥

इसके अनन्तर कुछ ही क्षणों में समस्त प्रियजनों से दुखद विछोह कराने वाली, वियोगकारिणी तथा प्रियतम राम के घर (अयोध्या) सीता के प्रस्थान करने की उचित घड़ी आ पहुँची ।

चमूरुबालेव कृताभियाना वनान्तरे ज्ञातिजनान्विहाय ।
विशालमुक्ताफलसन्निभास्रा बभूव दीना कृपणा च सीता ॥५६॥

प्रियजनों को छोड़कर (एक वन से) दूसरे वन की ओर जाती हुई चमूरुजातीय बालमृगी के समान बड़े-बड़े मुक्ताफलों के समान अश्रु-विन्दुओं वाली सीता दीन और असहाय हो उठी ।

कथं न दैवेन हृताऽस्मि बाल्ये भणाम्ब ! कस्मादिह जीविताऽस्मि ।
पृथङ् न कार्या तव नन्दिनीयं गृहान्तरे जीवति नैव सीता ॥५७॥

(सीता रोकर कहने लगीं—) मैं बचपन में ही विधाता द्वारा क्यों नहीं उठा ली गई ? बताओ माँ ! इस संसार में मैं क्यों जीवित हूँ ? तुम्हारी यह बेटी (तुमसे) अलग करने योग्य नहीं है । किसी और घर में सीता नहीं जी पायेगी !

चिनोति का सम्प्रति देवपुष्पं रुणद्धि का वा भवतीं प्रयत्नैः ।
विलिम्पति द्वारभुवञ्च का वा वदाम्ब! का ते कुरुते सपर्याम्॥५८॥

(अब) पूजा के फूल कौन चुनेगी ? कौन इठलाकर तुम्हारा रास्ता रोकेगी ? (तुम्हारे) दरवाजे की देहरी भला कौन लीपेगी ? बोलो माँ ! तुम्हारी सेवा-टहल (अब) कौन करेगी ?

न चास्मि जाता तव पूतकुक्षौ यतोऽसि मातर्मयि दारुणा त्वम् ।
भुवि प्रलीनामनुभूय नूनं जहासि मां निःस्पृहलोष्टबुद्ध्या ॥५९॥

अरी माँ ! मैं तुम्हारी पवित्र कोख से पैदा नहीं हुई हूँ, जभी तो तुम मेरे प्रति (इतनी) कठोर हो गई हो ! निश्चय ही मुझे जमीन में गड़ी हुई अनुभव करके ही तुम मुझे, अनचाहे मिट्टी के ढेले के भाव त्याग रही हो !

अयि जनन्यद्य कथं स्वकीयां सुतां विदूरीकुरुषे निरीहाम् ।
विलोक्य निःस्नेहमिमं स्वभावं विखण्डितास्थैव ममास्ति जाता ॥६०॥

अरी माँ ! आज क्यों अपनी गऊ कन्या को (अपने से) दूर कर रही हो ? (तुम्हारे) इस स्नेह-विहीन स्वभाव को देखकर तो मेरी आस्था ही भलीभाँति खण्डित हो उठी है ।

वृथैव सीतेति सुतेति मातर्ममाम्बकज्योतिरिति प्रकामम् ।
पदैर्विभिन्नैः प्रतिबोधयन्ती प्रतारयस्येव दिनानि यावत् ॥६१॥

मेरी सीता, मेरी बेटी, मेरी आँखों की ज्योति—इस प्रकार नाना प्रकार के सम्बोधनों द्वारा, दिखाने भर के लिये, मुझे हर क्षण पुकारती हुई तुम इतने दिनों तक छलती रही हो !

इतीव नाना गलदश्रुमिश्रैः स्खलद्वचोभिः परिदेवमाना ।
सखीजनाम्बामपि रोदयन्ती विदेहजा प्रस्थितकातराभूत् ॥६२॥

इसी प्रकार, विगलित अश्रुओं में सने हुए टूटे-फूटे विविध वचनों से विलाप करती हुई तथा अपनी माँ एवं सहेलियों को भी रुलाती हुई सीता विदावेला में कातर हो उठी ।

क्षणं निजाम्बां पितरं पितृव्यं क्षणं स्वसारञ्च सखीजनञ्च ।
निपीड्य दोर्भ्यां हतधैर्यभावा रुरोद तन्वी शिथिलाङ्गयष्टिः ॥६३॥

एक क्षण अपनी माँ को, एक क्षण पिता, चाचा को और एक क्षण बहनों तथा सखियों को बाहों में भेंटती हुई, शिथिल अंगलतिका वाली तथा विनष्ट धैर्यवाली तन्वङ्गी सीता रोती रही ।

यथाकथञ्चिच्छिविकाधिरूढा बहिर्वनं यावदथ प्रतस्थे ।
अमन्दरागोच्छ्रितहार्दभावाः स्त्रियोऽन्वयुस्तां शनकै रुदत्यः ॥६४॥

इसके अनन्तर जैसे-तैसे पालकी पर बैठकर सीता जब तक नगर के बाहरी बगीचे तक पहुँची कि अपार स्नेह से संवर्धित प्रणयभाव वाली, रोती हुई महिलायें भी धीरे से उसके पीछे लग गईं ।

निजास्यगण्डूषजलप्रपूरैर्विलङ्घ्य कामं शिविकां भगिन्याः ।
विदेहसूनुर्महतां निदेशैरपीपलल्लोकपरम्परां ताम् ॥६५॥

विदेहराज जनक के पुत्र ने बड़े-बूढ़ों के निर्देशानुसार अपने मुँह की कुल्ली से बहन की पालकी का लंघन कराकर, चली आती हुई लोकपरम्परा का पालन किया ।

अथ प्रजेशो जनकोऽङ्कपाल्यां सुतां समाधाय मृदूपदेशैः ।
पटाञ्चलेनाश्रुजलं प्रमृज्य प्रसादयन् संस्पृहयाम्बभूव ॥६६॥

अब महाराज जनक बेटी को गोदी में लेकर, उत्तरीय के आँचल से (सीता के) आँसू पोंछकर, मीठी-मीठी बातों से प्रसन्न करते हुए दुलारने लगे ।

विमुञ्च कातर्यमयि प्रसूते ! शृणुष्व वैदेहि ! मदीयवाचम् ।
गतासि सौभाग्यविकाक्षितानां वधूचितानां ममतां फलानाम् ॥६७॥

कातरता छोड़ दो बेटी ! वैदेही ! मेरी बात (तो) सुनो । सौभाग्यों की पात्रता से सम्पन्न, वधूचित फलों की ममता को तुम प्राप्त हुई हो ।

धनं भवत्येव सुताऽन्यदीयं पिताऽविताभाद्रमसौ नु तस्याः ।
समर्प्य जातेऽधिकृतेऽद्य,तां त्वां विभाति निर्मक्षिकमेव मच्छम्॥६८॥

बेटी तो पराया धन होती ही है और बेचारा पिता तो निश्चय ही उसका रक्षकमात्र होता है। बेटी ! आज ऐसी ही तुम्हें (तुम्हारे) स्वामी को समर्पित करके मुझे निष्कण्टक सुख-शान्ति प्राप्त हो गई है।

प्रयाहि पुत्रि ! प्रथितस्वभावे ! ध्रुवं विजानीहि मृषा न भाषे ।
इतः प्रभृत्येव तवास्ति हृद्यं गृहं तदायोध्यकमेव सर्वम् ॥६९॥

प्रशंसनीय शील-स्वभाव वाली (मेरी) बेटी ! जाओ। यह अटल समझो, मैं झूठ नहीं बोलता। अब इसी क्षण से वह अयोध्या का राजमहल ही तुम्हारा मनोरम आश्रय है, तुम्हारा सब कुछ है।

पिता न तेऽहं महिषी न माता कुशध्वजश्चापि न ते पितृव्यः ।
स कोशलेन्द्रोऽस्ति पिता तदीया इतः परं मातृसमा महिष्यः ॥७०॥

न मैं तुम्हारा पिता हूँ, न राजरानी (सुनयना) तुम्हारी माँ हैं और न ही (मेरा अनुज) कुशध्वज तुम्हारा चाचा ! बस, इसके बाद वह कोशलनरेश दशरथ ही पिता हैं और उनकी राजरानियाँ (कौसल्या, कैकेयी एवं सुमित्रा) ही माँ के समान हैं।

धनुर्धरो नीलबलाहकाभः पयोदमन्द्रध्वनिमण्डितास्यः ।
कुवेलदृष्टिः प्रतिपन्नशौर्यस्तवास्ति सर्वस्वमसौ हि रामः ॥७१॥

धनुष धारण करने वाले, नील मेघ के समान देहकान्ति वाले, जलधर की गम्भीर-ध्वनि से विभूषित आनन वाले, कमलनयन तथा पराक्रम-सम्पन्न वह श्रीराम ही (अब) तुम्हारे सर्वस्व हैं।

विधेहि देवृत्रयमेव वत्से ! सहोदरान् मार्दवजातहार्दान् ।
तथावरोधस्थसखीनिकायं विपश्य शीलेन सदा स्वसॄणाम् ॥७२॥

बेटी ! तीनों देवरों (भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न) को ही सगा भाई बना लेना जो कि कोमलता-जनित प्रेमभाव से पूर्ण हैं और अन्तःपुर में विद्यमान सखियों की टोली को सदैव बहिनों की दृष्टि से देखना।

स्वसेवया वृद्धजनादराद्यैर्मधूकमाधुर्यलसद्वचोभिः ।
प्रियोचितप्रीणनया च नूनं प्रयासि सौभाग्यमथाङ्गनानाम् ॥७३॥

अपनी सेवावृत्ति, बड़े-बूढ़ों के प्रति आदरभावादि, महुवे की मिठास से पगी बातों तथा स्वामी की समुचित प्रसन्नता से निश्चय ही गृहिणियों के सौभाग्य का वरण करोगी ।

स सान्त्वयन् गाढशुचं वचोभिस्सुतां नरेशो न च वेद किञ्चित् ।
निरर्गलाश्रुप्रसरैस्तथापि प्रपार्द्रतामोयतुरस्य गण्डौ ॥७४॥

प्रगाढ़ व्यथा वाली बेटी (सीता) को सदुपदेशों से सान्त्वना प्रदान करते हुए राजा जनक (यद्यपि) कुछ नहीं जान सके, फिर भी अविरल अश्रुधारा के विस्तार से उनके कपोलमण्डल पौसाले सरीखी आर्द्रता को प्राप्त हो उठे ।

पुनः पुनर्विस्मृतसंस्मृतार्थान् निवेद्य भावान् हृदये च कृत्वा ।
नृपः पृथक्कारितलोलवत्सां स सौरभेयीमपि घोरदुःखैः ॥७५॥

बार-बार भूले-विसरे और स्मरण हो आये अभिप्रायों को समझाकर, (सीता को) हृदय से लगाकर महाराज जनक, असह्य वेदनाओं के कारण विलग कर दिये गये, तड़फड़ाते बछड़े वाली गाय को भी ।

विमानयन् वृद्धजनप्रयासैर्यथाकथञ्चित् प्रकृतिं जगाम ।
विदेहजा चापि विदेहभूमिं प्रणम्य सार्धं स्वजनैः प्रतस्थे ॥७६॥

साधारण सिद्ध करते हुए, वृद्धजनों के समझाने-बुझाने से जैसे-तैसे शान्त हो पाये और सीता भी विदेह-नगरी को प्रणाम कर स्वजनों के साथ (अयोध्या की ओर) चल पड़ीं ।

गता सीता दूरं स्वसृभिरथ सार्धं विधुमुखी
समारोहोऽप्येवं परिणयविधेः पूर्तिमभजत् ।
विदेहोऽसौ किन्तु क्षपितचितिबुद्धिव्यतिकरो
न निद्रातुं रात्रौ क्षणमपि शशाक क्वचिदपि ॥७७॥

चन्द्रमुखी सीता (अपनी तीनों) बहनों के साथ अब आँखों से ओझल हो गई। इस प्रकार विवाह-प्रक्रिया का समारोह भी पूर्णता को प्राप्त हो गया। परन्तु चेतना और बुद्धि की क्रियाशीलता से विरहित वह विदेह जनक, राजमन्दिर में वहीं पर भी, क्षणमात्र के लिये भी सोने में समर्थ न हो सके।

शुकी प्रोड्डीना स्यात्कथमपि शलाकाभवनत-
स्तथापि व्याहारा अमृतरससिक्ता न विरताः।
गतायां सीतायां स्वजनमहितायामपि तथा
न तस्याः सद्भावाः स्मृतिपथमपास्य व्युपरताः ॥७८॥

पिंजरे से शुकी यथाकथञ्चित् उड़ भले जाय परन्तु अमृत-रस से सराबोर उसके वचन नहीं नष्ट हो जाते। ठीक उसी प्रकार कुटुम्बीजनों की मुँहलगी सीता के (ससुराल) चले जाने पर भी उसके मनोहर व्यवहार लोगों के स्मृतिपथ को छोड़कर नहीं जा सके।

हसन्ती शस्यौघैस्तुहिनपतनैः कम्पिततनुः
ज्वलन्ती नैदाघैः प्रखरकिरणैर्ग्रीष्मसमये।
यथा तोषं याता विविधपरिवर्तैरपि धरा
तथेयं कन्याऽपि भ्रमति नितरां नैति विकृतिम् ॥७९॥

लहलहाती फसलों से हँसती हुई, तुषारपात से प्रकंम्पित काया वाली, ग्रीष्म ऋतु में ऊष्माजनित प्रखर किरणों से जलती हुई वसुधा जैसे नाना परिवर्तनों के बावजूद भी सन्तुष्ट ही रहती है, उसी प्रकार यह कन्या भी निरन्तर भ्रमण करती है (अर्थात् परिवर्तन-कष्ट सहती है) परन्तु विकार को नहीं प्राप्त होती (हर परिस्थिति में स्वयं को ढाल लेती है)।

सुतेयं पत्नीयं भवनवधुकेयं च भगिनी
ननान्देयं श्वश्रूस्तनयदयितेयं च जननी।
सखी नप्त्री पौत्री किमधिकमहो गौरवपदं
न किं धत्ते कन्या द्रुहिणरचनायामनुपमा ॥८०॥

यह बेटी है, यह पत्नी है, यह गृहवधू है और बहन है। यह ननद है, सास है, यह पुत्रवधू है, माँ है। सखी, नातिन, पोती—ओह! अधिक क्या कहा जाय! विधाता की सृष्टि में अतुलनीय यह कन्या (भला) कौन सा गौरव-पद नहीं धारण करती ?

यत्काव्यं तरुणायते नवनवोन्मेषैर्लसद्वैभवम्
सान्द्रानन्दमरन्दबिन्दुरुचिरं वाण्याशिषाऽनारतम् ।
सर्गोऽयं लसदष्टमः परिणतिं राजेन्द्रकाव्येऽखिले
सम्प्राप्तः श्वसुरालयाभिध इह श्रीजानकीजीवने ॥८१॥

नव्यातिनव्य उन्मेषों के कारण विलसित वैभव वाला तथा अखण्डानन्द रूपी पुष्पासव के कारण रुचिर जो काव्य माँ सरस्वती के आशीष से निरन्तर तरुण प्रतीत होता है, राजेन्द्र प्रणीत उस सम्पूर्ण काव्य में श्वसुरालय (ससुराल) नामक यह मनोहर आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीबिल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्यैकपुण्यं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजो ऽयमभिराड् राजेन्द्रकाव्यद्रुमः॥८२॥

कविश्री कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका स्कन्धप्रदेश (तना) है, श्री जयदेव के संस्कृतगीत जिसके पर्णसमूह हैं, श्री बिल्हण की सदुक्तियाँ जिसके फूल हैं तथा महामहिम पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका एकमात्र पुण्यफल है, अभिराज राजेन्द्र का वह निसर्गजात काव्यद्रुम चिरस्थायी हो ।

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजोसूनोर्गौतमगोत्रोयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
श्वसुरालयसंज्ञकोऽष्टमः सर्गः

नवमः सर्गः

अथातिवाहयत् कालं मध्येमार्गं कदम्बकम् ।
अयोध्यामाससादान्ते सत्वरं वरयात्रिणाम् ॥१॥

इसके अनन्तर यात्रापथ में समय बिताता हुआ बारातियों का दल, अन्ततः वेगपूर्वक अयोध्यापुरी पहुँच गया ।

पूर्वमेव कृतं पौरैस्संविधानकमुत्तमम् ।
तेषां समाजनायैव साग्रहं सपरिश्रमम् ॥२॥

उन बारातियों की अगवानी के लिये ही नगरवासियों द्वारा उत्तमकोटि का प्रबन्ध बड़े आग्रह और परिश्रम-पूर्वक पहले ही किया जा चुका था ।

चन्दनोशीरकस्तूरीगन्धपुष्पमयैर्जलैः ।
अभिषिक्ताः पुरीरथ्याः आमोदं शोभनं दधुः ॥३॥

चन्दन खस कस्तूरी तथा सुरभित फूलों से सुवासित जलराशियोंसे पखारी गईं नगर की गलियाँ रुचिकर गन्ध धारण कर रहीं थीं ।

चत्वरं तोरणं द्वारं गेहिवेश्म चतुष्पथम् ।
जातं दृष्टिहरं सर्वं मञ्जुमाकन्दपल्लवैः ॥४॥

चबूतरा बाहरी प्रवेशद्वार, भीतरी दरवाजा, गृहस्थों का घर तथा चौराहा—सब का सब, पवित्र आम्रपल्लवों (की बन्दनवार) से नेत्राकर्षक हो उठा था ।

आपणो विपणी रम्या सुभगा पण्यवीथिका ।
गजशालाऽश्वशाला च पक्षिशालाऽथ मन्दुरा ॥५॥
सञ्जवनं मठश्चैत्यं प्रपाऽऽवेशनमन्दिरम् ।
श्रेष्ठिहर्म्यं गवाक्षश्च राजसौधोऽवरोधनम् ॥६॥

विटङ्कवलभीवेदीप्रघणाङ्गणमण्डपाः ।
अररार्गलनिश्रेणिप्राकारपरिखादिकाः ॥७॥

सर्वमेव जनस्थानं यत्र कुत्रापि संस्थितम् ।
नगरे राघवेन्द्रस्य सज्जितं सर्वतोमुखम् ॥८॥

बाजार, भरी-पुरी दूकान, रमणीय सौदामण्डी, गजशाला, घुड़साल, पक्षिगृह, वानरगृह, चौसाल, छात्रावास, यज्ञशाला, पौसाला, शिल्पिशाला, मन्दिर, सेठों की हवेली, खिड़की, राजमहल, अन्तःपुर, कपोतपालिका, छज्जे को थामने वाली धरन, वेदी, बरामदा, आँगन, मण्डप, किवाड़, साँकल, सीढ़ी, परकोटा और खाइँ आदि—जहाँ कहीं भी अवस्थित, सारा का सारा मानवोपयोगी स्थान राघवेन्द्र श्रीराम के नगर में सजा हुआ था ।

भोगावती न नागानां द्युसदां नामरावती ।
नालका राजराजस्याप्ययोध्यातुल्यताङ्गता ॥९॥

न नागों की भोगावती पुरी, न देवताओं की अमरावती पुरी और न ही राजराज कुवेर की अलकापुरी (उस समय) महाराज रघु की पुरी की समता कर सकी ।

कर्णिकारैश्च बन्धूकैर्मल्लिकाचम्पकादिकैः ।
प्रसूनैर्विविधैश्शोभां सन्दधे माल्यसूत्रितैः ॥१०॥

मालाओं में गूँथे गये कनेर, बन्धुजीव (दुपहरिया) वेला और चम्पा आदि नाना प्रकार के फूलों से (अयोध्या) शोभा प्राप्त करने लगी ।

राजधानी रघूणां सा साक्षान्मनुविनिर्मिता ।
विच्छित्तिं न कथं दध्याद्यत्र राजाऽजनन्दनः ॥११॥

रघुवंशी नरपतियों की राजधानी तथा स्वयं (सूर्यवंश-प्रवर्तक) मनु द्वारा स्थापित की गई वह पुरी भला क्यों न सुषमामयी हो जहाँ पर कि अजनन्दन दशरथ राजा हों ?

अथ प्रविष्टमात्रे तु वरयात्रिकदम्बके
विविधध्वनिसम्भिन्नेऽयोध्यायां मोदवर्धिते ॥१२॥
पुरौकसां विरावोऽभूत्कश्चित्तारतरोऽनघः ।
साधुवादलसद्गर्भो वर्धापनपुरस्सरः ॥१३॥

इसके अनन्तर, नाना प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करने वाले तथा हर्षविह्वल वारातियों की टोली के अयोध्यापुरी में प्रवेश भर करते ही नगरवासियों का शाबाशियों से भरा हुआ तथा बधाइयों से ओतप्रोत एक उच्चस्वरीय कर्ण-सुखद कोलाहल उठने लगा ।

बालवृद्धातिवृद्धाणां यूनामथ नतभ्रुवाम् ।
हृत्सु हर्षा ममुर्नैव सम्मर्दमवलोक्य तम् ॥१४॥

बच्चों, बूढ़ों, अत्यधिक जर्जरों, नवयुवकों तथा रमणियों के हृदयों में उस जुलूस को देखकर खुशियाँ समा नहीं पाईं ।

पौरसीमन्तिनीवर्गो लाजाक्षतसुवर्षणैः ।
सुखं सभाजयामास प्रत्यागतपुरेश्वरम् ॥१५॥

नगरवासिनी महिलाओं के दल ने (बेटा व्याह कर) लौटे हुए अयोध्यानरेश दशरथ का, खील और अक्षत की वर्षा द्वारा, सुखपूर्वक अभिनन्दन किया ।

मङ्गलाशंसिगीतानि कुमार्यः कलकण्ठिकाः ।
जगुराश्च्योतनैः शब्दैः प्रीतिभाञ्जि शुभागमे ॥१६॥

सुरीले कण्ठवाली कुमारियों ने (भी) रसाप्लावित कर देने वाले शब्दों द्वारा प्रीतिपगे तथा मङ्गलभावना से भरे गीतों को (राजा के) शुभागमन की वेला में गाया ।

एवं व्यतिकरे जाते तच्छिबिकाचतुष्टयम् ।
सहसैवागतं तूर्णं राजमन्दिरसम्मुखम् ॥१७॥

ऐसे ही प्रवर्तमान वातावरण में चारों (बहुओं की) पालकियाँ अकस्मात वेगपूर्वक राजमहल के सामने आ पहुँची ।

श्रुत्वा प्रियजनैर्वृत्तं हृदयानन्दवर्धनम्।
कौशल्यादिमहिष्यस्ता आगता गृहतो बहिः ॥१८॥

हृदयानन्द को संवर्धित करने वाले (उस) समाचार को प्रियजनों से सुनकर कौशल्या प्रभृति वे तीनों रानियाँ भी राजमहल से बाहर निकल आईं।

दृष्ट्वा स्तनन्धयान् वत्सान् प्रोषितान् प्रह्वताङ्गताः।
सौरभेय्य इवातस्थुर्महिष्यो हर्षविह्वलाः ॥१९॥

बिछड़े हुए (अपने) दूधपीते बछड़ों को देखकर विह्वल हो उठने वाली धेनुओं के समान रानियाँ (भी) हर्षविह्वल हो उठीं।

तासां नयनपद्मेषु नीहारकणिकोपमम्।
अस्रजातमथालोकि नववात्सल्यमेदुरम् ॥२०॥

उन रानियों के कमलसरीखे नेत्रों में ओस की बूंदों के समान—नूतन पुत्रप्रेम के कारण उमड़ा हुआ अश्रुसमूह दृष्टिगोचर होने लगा।

एतावदन्तराले तु शिबिकाः पार्श्वमागताः।
चित्रांशुकसमाच्छन्नाः संवर्धितकुतूहलाः ॥२१॥

इसी बीच में, में, रंग-बिरंगे रेशमी आवरण से ढँकी हुईं तथा (दर्शकों की) उत्कण्ठा को बढ़ा देने वाली शिबिकायें पास आ गईं।

यावदन्तःपुरं पश्येद् दृश्यं सूक्ष्मेक्षिकन्नु तत्।
तावदग्रेसरीभूयारुन्धतीजानिरब्रवीत् ॥२२॥

बारीकी से देखने योग्य उस दृश्य को जब तक कि अन्तःपुर (भलीभाँति) देखे, तब तक कुलगुरु-वशिष्ठ आगे बढ़ कर बोले।

महिष्यो ननु भद्रन्ते शृणुध्वं मामकं वचः ।
शुभा घटीयं व्यत्येति तदलं कालयापनैः ॥२३॥

राजरानियों ! तुम्हारा कल्याण हो । मेरी बात तो सुनो ! (वधूप्रवेश की) शुभघड़ी बीती जा रही है । अतएव समय नष्ट करने में लाभ नहीं ।

यावज्जीवमिमा देव्यो वधूट्यो जनकात्मजाः ।
भवेयुरङ्कभागिन्यो भवतीनां न संशयः ॥२४॥

देवियों ! महाराज जनक की पुत्रियाँ, ये बहुएँ जीवन भर आपकी गोद में रहेंगी, इसमें संशय नहीं ।

तदस्ति दर्शनस्पर्शालापश्रवणहेतवे ।
प्रभूतहायनोन्मानः कालो मोदविवर्धनः ॥२५॥

इसलिये (इन बहुओं को) देखने, छूने, बतियाने तथा सुनने के लिये अनेक वर्षों की अवधि वाला तथा उछाह बढ़ाने वाला समय शेष है ।

साम्प्रतन्तु विधातव्या भवतीभिः प्रदक्षिणा ।
लोकवंशानुकूलैव वधूनामभयङ्करी ॥२६॥

इस समय तो आप लोगों द्वारा, वधुओं के लिये मंगलकारी तथा समाज और कुलपरम्परा के अनुकूल (उनकी) परछन की जानी चाहिए ।

श्रुत्वा गुरुजनाज्ञप्तिं पट्टराज्ञी शुचिव्रता ।
अग्रे ससार कौशल्या नवमाङ्गल्यशंसिनी ॥२७॥

गुरुवर्य वसिष्ठ की आज्ञा को सुनकर पवित्र आचरण वाली तथा नूतन मङ्गलाचार की आकांक्षा वाली पटरानी कौशल्या आगे बढ़ीं ।

वृद्धाभिरुपदिष्टार्था क्रोडीकृतपरम्परम् ।
अपूपुरन्महाराज्ञी प्रत्युद्गमलसद्विधिम् ॥२८॥

बड़ी-बूढ़ी महिलाओं द्वारा बताये गये कर्मठ वाली महारानी ने पारम्परिक अगवानी की शोभन-विधि को परिपूर्ण किया ।

प्रथमं दीपकव्रातैरानुपूर्व्याऽभिनन्दनम् ।
वधूनां किल सर्वासां विदधे स्मितमण्डिता ॥२९॥

मन्द मुस्कान वाली रानी ने सर्वप्रथम दीपमालाओं (आरतियों) द्वारा सभी बहुओं का ज्येष्ठानुक्रम से अभिनन्दन किया ।

ततः शूर्पेण कुम्भेन मुशलेनाञ्चलेन च ।
गीतानुसृतसत्कारा सम्पाद्य कुलमङ्गलम् ॥३०॥

स्नुषाः प्रावेशयद् राज्ञी सुभगे राजमन्दिरे ।
ललनाजनकण्ठोत्थगीतध्वनिभिरञ्चिते ॥३१॥

इसके अनन्तर सूप, कलश, मूसल तथा आँचल से कुलपरम्परोचित मङ्गलाचार सम्पादित कर—गीतों द्वारा अनुसरण किये जाते हुए व्यापार वाली रानी ने ललनाओं की कण्ठनिःसृत गीतध्वनियों से परिव्याप्त राजमहल में बहुओं को प्रविष्ट कराया '

वधूदर्शनसोत्कण्ठाः कौतूहलविनोदिताः ।
पुञ्जीभूताः सुवासिन्यो राजसौधमथागताः ॥३२॥

दुलहन देखने के लिये उत्कण्ठित तथा कौतूहल से भरीपुरी, सुहागिन महिलायें दल बाँधकर अब राजमहल की ओर बढ़ीं ।

क्वास्ति रामप्रिया सीता कीदृशी ननु लक्ष्यते ।
क्व सन्ति सखि वीराणामन्येषाञ्च कुलाङ्गनाः ??३३॥

राम की पत्नी सीता कहाँ है ? अच्छा, कैसी लग रही है ? सखि ! दूसरे भाइयों की पत्नियाँ कहाँ हैं ?

मृगाङ्कसुमुखी सीता रूपसौन्दर्यदेवता ।
श्रुता मया त्वया हञ्जे ! किन्तु दृग्गोचरीकृता ??३४॥

मैने सुना है कि रूप एवं सौन्दर्य की देवी सीता चन्द्रमा के समान मुख वाली है । सखि ! क्या तुमने सचमुच आँखों से देखा ?

उर्मिला कीदृशी भाति माण्डवी च कियद्वयाः ।
श्रुतकीर्तिश्च रूपेण स्वसारमनुयाति काम् ??३५॥

उर्मिला कैसी लग रही है ? माण्डवी कितने साल की होगी और श्रुतकीर्ति सुघराई की दृष्टि से किस बहन को पड़ी हैं ?

इत्येवमादिपृच्छाभिर्वर्धयन्त्यः कुतूहलम् ।
परस्परं लपन्त्यश्च पृथग्वयस्समन्विताः ॥३६॥
मार्गयन्त्यश्च पन्थानं समुत्सारणकौशलैः ।
अहमहमिकाग्रस्ता ययुरग्रे च काश्चन ॥३७॥

इस प्रकार के तरह-तरह के प्रश्नों द्वारा उत्कण्ठा बढ़ाती हुईं, एक दूसरे से बतियाती हुईं, कौशलपूर्वक औरों को खिसकाकर (अपना) रास्ता बनाती हुईं, 'मैं पहले-मैं पहले' की भावना से ग्रस्त विभिन्न अवस्थाओं वाली कुछ महिलायें आगे बढ़ीं ।

महोत्साहसमारम्भैर्यातायातविवर्धितैः ।
प्रासादः कोशलेन्द्रस्य भृङ्गाटकसमोऽभवत् ॥३८॥

आवाजाही से बढ़े हुए महान् उत्साह के संचारों से कोशलनरेश दशरथ का राजमहल चौराहे के समान हो गया ।

अथ गच्छत्सु कालेषु राजमन्दिरमङ्गलम् ।
शनैः शनैश्च सार्थक्यं सामञ्जस्यमुपागतम् ॥३९॥

इसके अनन्तर, धीरे-धीरे समय बीतने पर राजमहल का महोत्सव (अपनी) सार्थकता और समञ्जसता पर आ गया (अर्थात् पूर्ण विस्तार के साथ समाप्त हो गया) ।

पृथग्वासगृहे सीता माण्डवी च पृथग्गृहे।
उर्मिलाऽपि पृथग्गेहे श्रुतकीर्तिः पृथग्गृहे ॥४०॥

एवं खलु चतसृणां वधूनामुत्तमस्थितिः।
राजमन्दिरकक्षेषु राज्ञीभिर्विहिताऽनघा ॥४१॥

सीता अलग घर में और माण्डवी अलग घर में। उर्मिला भी अलग घर में, श्रुतकीर्ति अलग घर में....इस प्रकार रानियो (सासों) द्वारा राजमहल के कमरों में चारों ही बहुओं के रहने की उत्तम व्यवस्था की गई।

श्वश्रूणां सान्त्वनैर्मातृनिर्विशेषैश्च पावनैः।
सस्मरुर्न वधूट्यस्ता बान्धवापायवेदनाम् ॥४२॥

सर्वथा जननियों जैसे—सासों के निश्छल सान्त्वना वाक्यों से वे चार बहुएं प्रियजनों के विछोह की पीड़ा का स्मरण नहीं कर सकीं।

दयिते राघवेन्द्रेऽपि बद्धरागा विदेहजा।
साम्प्रतं यौवनारम्भसाफल्यमचिराद्गता ॥४३॥

प्रियतम राघवेन्द्र में प्रीति रखने वाली विदेहनन्दिनी सीता अब यौवनारम्भ की सार्थकता को शीघ्रतापूर्वक प्राप्त हो गई।

सा बाला कामवृत्तानां रहस्यानुभवाद्बहिः।
अप्रगल्भाऽपि जीवेशं सपर्ययाऽऽराध तम् ॥४४॥

कामव्यापारों के रहस्यों के अनुभवों से अपरिचित वह नवयौवना सीता, अनिपुण होती हुई भी, सेवाभावना से उन प्राणेश्वर (राम) को प्रसन्न करने लगी।

कदाचित्सान्ध्यवेलायां सा पश्यन्त्यात्मनश्छविम्।
आलिलिङ्ग प्रियं भीतया मणिस्तम्भेऽन्यशङ्कया ॥४५॥

कभी सन्ध्यावेला में, मणि-खचित स्तम्भ में अपनी परछाई देखती हुई वह सीता परपुरुष की आशंकावश प्रियतम राम से भयवश लिपट जाती थीं।

कदाचिदर्धसुप्ता सा स्वामिना नमरागिणा ।
वानरादिस्वनैर्मन्द्रैः क्रन्दमानैव बोधिता ।।४६।।

कभी-कभी कच्ची नींद में ही, विनोदी स्वभाव वाले स्वामी द्वारा वानर आदि (पशु-पक्षियों) के धीमे स्वरों द्वारा चीखती हुई जगा दी जाती थी ।

गच्छ मैथिलि ! माता त्वां पृच्छतीति प्रियोदिता ।
श्वश्रू ङ्कताऽग्यनाहूता कदाचिदगमत्त्रपाम् ।।४७।।

'मैथिलि ! जाओ, माँ तुम्हें बुला रही है ।' प्रियतम राम द्वारा इस प्रकार कही गई (वह सीता) कभी बिना बुलाये ही सास के पास पहुँच कर लज्जित हो उठती थी ।

अन्तःपुरप्रतोलीषु चरन्ती निभृतम्मुदा ।
स्तम्भकोणनिलीनेन प्रियेण गोपितात्मना ।।४८।।

मुञ्चमुञ्चेति सव्रीडं भणन्ती मृदुवाचिकम् ।
कदाचिच्च दृढं बद्ध्वा भुजयोराशु चुम्बिता ।।४९।।

रनिवास की अटारियों में, चुपचाप प्रसन्नमन से संचरण करती हुई वह सीता कभी-कभी, खम्भों के कोनों में छिपे हुए तथा अपने को लुकाए हुए प्रियतम राम द्वारा भुजाओं में कस कर भर ली जाने पर, 'छोड़ दो, छोड़ दो' इस प्रकार की लाजभरी मीठी याचना करती हुई....शीघ्रतापूर्वक चूम ली जाती थी ।

पश्याम्ब ! वधुकेयन्ते मां दुनोति कियच्चिरम् ।
सर्वाणि वस्तुजातानि गोपायति ममालये ।।५०।।

'माँ ! देखो, तुम्हारी यह बहू मुझे कितना अधिक परेशान करती है ? मेरी सारी चीजें घर में छिपा देती है ।'

तद्भणाम्ब ! धनुर्बाणं शीघ्रमेव ददात्वियम् ।
सुहृदो मां प्रतीक्षन्ते मृगयाव्यवसायिनः ।।५१।।

'इसलिये माँ ! कह दो न, यह (मेरा) धनुष-बाण जल्दी से दे दे । शिकार खेलने के आदी मेरे मित्रगण मेरी राह देख रहे हैं ।'

इति प्रियोपलब्धा सा मुधैवालीकभाषिणा ।
मात्रादेशवशात्सीता जानन्त्यपि प्रियश्रमम् ।।५२।।

कदाचिदुत्थिता यावच्छयनीयमुपाययौ ।
तावदेव समाश्लिष्टा निर्दयं दयितेन सा ।।५३।।

इस प्रकार निरर्थक झूठ बोलने वाले प्रियतम द्वारा, माता कौशल्या के आदेश वश उपलब्ध की गई वह सीता-प्रियतम राम के (संगमार्थ) श्रम को जानती भी हुई कभी जैसे ही उठकर शैय्या तक आती थी कि तब तक स्वामी द्वारा प्रगाढ आलिंगन में बाँध ली जाती थी ।

शरासनं गृहाणेदं यदर्थमस्मि विघ्निता ।
पुनः पुनः भणन्त्येवं कान्तं पूर्णमनोरथम् ।।५४।।

सा च सानुनयं प्रोक्ता राघवेणाल्पभाषिणा ।
अनेन धनुषा सीते ! मे किमस्ति प्रयोजनम् ।।५५।।

'यह लो (अपना) धनुष, जिसके लिए (सास की सेवा में) विघ्न उत्पन्न किया'—(अभीष्ट आलिंगनवश) परिपूर्ण लालसा वाले प्रियतम राम से बार-बार ऐसा कहती हुई विदेहनन्दिनी मितभाषी राम द्वारा बड़े अनुनय के साथ समझाई जाती थी—'सीते ! भला इस धनुष से मेरा क्या प्रयोजन है ?'

नेदं मुग्धे ! प्रयाचेऽहं किञ्चिदन्यदभीप्सितम् ।
अन्य एव नु ते बाणा अन्यदेव शरासनम् ।।५६।।

अरी भोली ! मैं इस (असली) धनुष को नहीं माँग रहा हूँ । मेरी मनचाही आकांक्षा तो और ही है ! सचमुच वे बाण कोई दूसरे ही हैं (और) धनुष भी दूसरा (ही) है ।

वचोवागुरया बद्धा प्रियेणैवं निरुत्तरा ।
यावत्स्तिमितनेत्राभ्यां द्रष्टुकामाऽभवत्प्रियम् ।।५७।।

प्रियतम श्रीराम द्वारा, इस प्रकार 'बातों की रसरी में लपेटी गई, निरुत्तर सीता जब तक विस्मय-विमुग्ध नेत्रों से स्वामी को देखने की इच्छा करती थी ।

तावद्विदेहजादृष्टिं लक्ष्यीकृत्याथ राघवः ।
साकूतवचनैः प्रीतैर्दर्पकाङ्कुरवर्धनैः ॥५८॥
दोर्भ्यां निपीड्य तामूचे सीते ! शृणु वदामि यत् ।
शरास्ते दृष्टिसम्पाता नेत्रयुग्मञ्च कार्मुकम् ॥५९॥

कि तब तक विदेहनन्दिनी की आँखों को लक्ष्य बना कर तथा उसे बाहों में भर कर रघुनन्दन राम, मदनाङ्कुर को उद्बुद्ध कर देने वाले, प्यार भरे, साभिप्राय वचनों से कहते थे—'सीते ! जो कह रहा हूँ (उसे) सुनो ! तुम्हारे दृष्टिपात (चितवन) ही तीर हैं और (तुम्हारी) दोनों आँखें ही धनुष हैं ।'

अहमेव मृगीभूय त्वया हन्येऽनिशं शुभे !
सम्भाव्ये न कथं बाले ! त्वदास्येन्दुचकोरकः ॥६०॥

'अरी पुण्यवान् ! मैं ही हिरन बन कर रात-दिन तुम्हारे द्वारा बधा जा रहा हूँ ! प्रिये ! तुम्हारे मुखचन्द्र का चकोरभूत मैं क्यों नहीं कृपान्वित किया जाता ?

कर्णामृतझरीकल्पं श्रुत्वा प्रियतमोदितम् ।
निर्व्याजमधुरं रम्यं स्मरभावविवर्धनम् ॥६१॥

बिना किसी बहाने के ही (निसर्गतः) मिठास भरे, कामभाव को जगा देने वाले तथा श्रवणेन्द्रिय के लिये अमृतवर्षा के समान प्रियतम श्रीराम के उस रमणीय वक्तव्य को सुनकर—।

प्रभातकुन्दसंकोचा लोलवत्सतरीगतिः ।
त्रपाभारनिरुद्धाऽपि कान्तानुनयचञ्चला ॥६२॥
शनैस्तदङ्कमासाद्य न किञ्चिदपि कुर्वती ।
अमन्दानन्दसन्दोहं लेभे प्रियतमोद्यमैः ॥६३॥

प्रातःकालीन कुन्दपुष्प के समान सकुचभरी तथा (कामकौतुक वश) चंचल बछिया की तरह (अस्थिर) गति वाली, लज्जाभार-वश ठिठकती हुई भी, प्रियतम के अनुनय वश संगमोत्सुक वह सीता, धीरे से स्वामी के अंक में पहुँच कर (अपनी ओर से) कुछ न करती हुई भी प्राणप्रिय राम के उद्यमों (सुरतक्रीडाओं) से अखण्ड आनन्द-भार का लाभ पाया करती थी।

एवं विविधकेलीभिर्यातयामा विदेहजा ।
नो शशाक चिरं ज्ञातं हायनानां गतागतम् ।।६४।।

इस प्रकार, नानाविध खेल-खिलवाड़ों में पहर बिताने वाली सीता चिरकाल तक वर्षों की आवाजाही को नहीं जान सकी ।

प्रातरेव समुत्थाय कृतपादाभिवन्दना ।
प्राणेश्वरस्य श्वश्रूणां श्वसुरस्यापि धीमतः ।।६५।।

कल्यवर्तं विनिर्माय भोजयामास साग्रहम् ।
सर्वान् कुटुम्बिनो बाला सर्वकल्याणशंसिनी ।।६६।।

तड़के ही उठ कर पतिदेव, सासों तथा महनीय ससुर जी की चरणवन्दना करके, जन-जन का मंगल चाहने वाली नवेली सीता समस्त कुटुम्बी जनों को कलेवा तैयार करके, बड़े चाव से खिलाया करती थी ।

स्नात्वा ततोऽञ्जलिं दत्वा कुलदेवेभ्य इत्वरी ।
राघवेन्द्रं प्रियं भेजे सुवेषा चन्द्रिरानना ।।६७।।

इसके अनन्तर स्नान करके तथा कुलदेवताओं को जलांजलि प्रदान करके संचरणशीला, मनोहर वेषभूषा वाली चन्द्रमुखी सीता, राघवेन्द्र प्रियतम राम की सेवा में प्रस्तुत होती थी ।

भगिनीनां विनोदाय सा कदाचिदुपेयुषी ।
तासां निवाससद्मानि कुरुते स्मानुरञ्जनम् ।।६८।।

कभी-कभी (माण्डवी आदि अपनी) बहनों की प्रसन्नता के लिए, उनके निवास-भवनों में पहुँचती हुई सीता (उनका) दिलबहलाव किया करती थी ।

आर्ये ! स्वदेवरं पश्य मां दुनोति कटूक्तिभिः ।
मिथिला शिथिलेत्येवं पङ्किलाऽप्युर्मिलेति च ।।६९।।

दीदी ! अपने देवर जी को देखो, मुझे जली-कटी बातों से दुखाते हैं । मिथिला को शिथिला और उर्मिला को पंकिला—इस प्रकार ऐसा कहते रहते हैं ।

किं भणामि हसत्येष आकेकरदृशाऽनिशम् ।
शिवचापप्रतिज्ञार्थं तातपादं विनिन्दति ॥७०॥

क्या कहूँ दीदी ! यह (श्रीमान्) आँखें मटका कर हरदम मेरी खिल्ली उड़ाते रहते हैं (और) शिवधनुर्भञ्जन की प्रतिज्ञा करने के लिए पिता जी की (भी) निन्दा किया करते हैं ।

एवमादिपरीवादान् श्रुत्वा स्मेरानना सती ।
कुप्यति स्म रुषा सीता लक्ष्मणाय पिकस्वरा ॥७१॥

(अपनी बहन उर्मिला के मुँह से) इसी प्रकार की बहुतेरी शिकायतों को सुनकर मुस्कराती हुई सीता कोयल सरीखी बोली में, क्रोध-पूर्वक लक्ष्मण पर कोप कर बैठती थी ।

कथं त्वया स्वसेयम्मे साधिक्षेपं विहस्यते ।
अयि भोः लक्ष्मण ! ब्रूहि कथं तातो विनिन्द्यते ??७२॥

(सीता कहती थी—) 'अरे भैया लक्ष्मण ! तुम काहे व्यंग्य-वचनों से मेरी इस बहन की हँसी उड़ाते हो ? बोलो, पिता जी की निन्दा क्यों करते हो ?'

कूष्माण्डालाबुतुल्याः किं मिथिलायाः कुमारिकाः ।
यास्तु यः कोऽपि गृह्णीयात् पक्वान्नाशनलोलुपः ॥७३॥

'क्या तिरहुत की लड़कियाँ 'लौकी-कुम्हड़ा' हैं कि जिन्हें कोई भी पकवान जीमने का लालची 'भोजनभट्ट' चट कर जाय ?'

वीर्यशुल्का भवन्त्येताः काऽत्र कार्या विचारणा ।
अयोध्यादारिका एव सन्ति दानार्पणक्षमाः ॥७४॥

'वे तो शौर्य-पराक्रम (दिखाने) की एवज में ही विवाही जाती हैं । इसमें सोचने-विचारने की क्या बात है ? (तुम्हारी) अयोध्या की ही लड़कियाँ दान देने और (जबर्दस्ती) गले लगा देने लायक होती हैं ।'

मिथिलानुग्रहेणैवादर्शयन्नपि पौरुषम् ।
भार्यां प्राप्तोऽसि भद्र ! त्वं सुरबालासमप्रभाम् ॥७५॥

'यह मिथिलापुरी की ही कृपा है देवरजी ! कि बिना बल-पौरुष का प्रमाण दिये देवकन्या सरीखे रूप-लावण्य वाली वहू पा गये हो !'

मदर्थं तेऽग्रजेनैव भग्नं शिवशरासनम् ।
भनक्षि हृदयं तस्या ईदृशोऽसि महाबलः ??७६॥

'अपने भैया को ही देखो ! मुझे पाने के लिए उन्हें शिव का धनुष तोड़ना पड़ा ! और तुम ऐसे महाबली निकले कि बेचारी उर्मिला का हृदय तोड़ रहे हो ?'

एवमार्यावचोयुक्त्या सिद्धमैथिलगौरवा ।
उर्मिलाऽपि जहासोच्चैस्तालशब्दविकस्वरा ॥७७॥

इस प्रकार, जेठानी के वाक्कौशल से सिद्ध कर दिये गये मैथिल-भूमि के माहात्म्य वाली उर्मिला भी खिल उठी और ताली बजाकर ठठाकर हँस पड़ी ।

जितम्मयेति निस्वानैर्वासगेहान्तरालकम् ।
नर्महास्यपरीताङ्गं विच्छित्तिं परमां ययौ ॥७८॥

'जीत गये-जीत गये' इस प्रकार के शोरगुल से, हँसी-मजाक से भरा-पुरा रनिवास का वह आँगन विलक्षण सुषमा को प्राप्त हो उठा ।

एवमामोदनिर्भिन्ना व्यतीयुर्वासराश्च ते ।
मैथिल्या रामभार्याया अयोध्याराजमन्दिरे ॥७९॥

इस प्रकार, रामप्रिया सीता के आमोद-प्रमोद से भरे वे (सुखमय) दिन अयोध्या के राजमहल में बीतते चले गये ।

शुकाश्च सारिका हंसाः पिकाश्चातककेकिनः ।
पालिता गायने दक्षाः शिक्षिता रक्तकण्ठकाः ।।८०।।

मरीचिमालिनः पूर्वं जगुरिक्ष्वाकुशंसनम् ।
प्रातरेव समुत्थाय मिलित्वाऽथ पृथक् पृथक् ।।८१।।

सुग्गे, मैनायें, हंस कोयलें, पपीहे तथा मोर---मधुर कण्ठ वाले, सिखाये गये तथा गायन में निपुण (ये) पालतू पक्षी, प्रभातवेला में सूर्योदय से पूर्व ही जग कर, एक साथ अथवा अलग-अलग इक्ष्वाकु-वंश का विरद गाने लगते थे ।

जातं कोकनदं भिन्नं वाति मन्दं समीरणः ।
नीहारकणिकाश्चापि नलिनीपत्रभर्त्सिताः ।।८२।।

(पक्षी गाते थे—) 'रक्तकमल विकसित हो गये, समीर मन्द गति से बह रहा है और ओस की कणिकायें भी पुरइन के पत्तों से नीचे गिर गई हैं ।'

खर्परच्छदिरन्ध्रेभ्यो धूमराशिः समुत्थितः ।
क्षामच्छायश्च वारुण्यां दृश्यते शर्वरीश्वरः ।।८३।।

'खपरैलों की छतों से छन-छन कर धुएँ का गुबार ऊपर उठ रहा है और म्लान छवि वाला चन्द्रमा पश्चिम दिशा में दीख रहा है ।'

प्रेक्षावतां समारोहे मूर्खाणां दुर्गुणा इव ।
तारका विलयं याता भाति शुभ्रं दिगन्तरम् ।।८४।।

'विद्वानों की गोष्ठी में मूर्खों के दुर्गुणों की तरह (सूर्य के प्रकाश में) तारे विलीन हो गये हैं और दिशाओं के अन्तराल प्रकाशित हो उठे हैं ।'

राघवेन्द्र ! समुत्तिष्ठ जननी त्वां प्रतीक्षते ।
इति प्रीतिमयैर्वाक्यैः सारिकाऽकृत बोधनम् ।।८५।।

'रघुवंश-मणि राम ! उठो । माता कौशल्या तुम्हारी राह देख रही हैं ।' इस प्रकार प्रीतिपगे वाक्यों द्वारा मैना श्रीराम को जगाया करती थी ।

पर्यायेण शकुन्तास्ते निजवाचमथाऽब्रुवन् ।
येन सर्वर्तुसंस्थानं राजसौधोऽभवत्किल ।।८६।।

वे (शुकादि) पक्षिगण बारी-बारी से अपनी बोली बोला करते थे जिससे कि राजमहल समस्त ऋतुओं का केन्द्र प्रतीत होता था ।

यदा जातु वसन्ततौं फाल्गुने धृतवैभवे ।
माकन्दमञ्जरीरम्ये पीतसर्षपमण्डिते ।।८७।।

होलोत्सवः समायातो महद्भिस्संविधानकैः ।
नेत्रपथ्यकरं दृश्यं तदा राजकुलेऽभवत् ।।८८।।

जब कभी, आम की बौर से गदराये, पीली सरसों से सँजे-सँवरे तथा महिमा-मण्डित वसन्त ऋतु वाले फागुन महीने में होली का त्यौहार (अपने) भारी-भरकम ताम-झाम के साथ आता था तब राजघराने में, आँखों को तृप्त कर देने वाला दृश्य उत्पन्न हो जाता था ।

गन्धचूर्णै रजोभिश्च पुष्पाणां पटवासकैः ।
तारापथाङ्गणं रम्यं सुरचापायितं बभौ ।।८९।।

सुगन्धित चूर्णों (पाउडरों) फूलों की परागधूलियों तथा (रंग-बिरंगे) अबीरों से आकाश की सुन्दर अँगनाई इन्द्रधनुषी छटा से सुशोभित हो उठती थी ।

यदा च वामनीभूय पृष्ठतो नीरवैः पदैः ।
समाक्रम्य स सौमित्रिर्भ्रातृजायां प्रगृह्य च ।।९०।।

कपोलमण्डले गौरे कज्जलं कर्दमं मसीम् ।
लिम्पति स्म भृशं नृत्यन् चर्चरीं कामिनीप्रियाम् ।।९१।।

तदान्तःपुरसीमासु महोल्लासमहोदधिः ।
रिङ्गदुन्मदकल्लोलो निर्भरं कोऽप्यजायत ।।९२।।

(उस होली में) जब लक्ष्मण वामन बन कर, शब्दहीन डग भरते हुए, पीछे से झपट्टा मार कर तथा भाभी (सीता) को बकोट कर (उनके) दोनों उजले गालों पर कालिख, कीचड़ और स्याही भरपूर चुपड़ देते थे और महिलाओं का मन-पसन्द 'भाँगड़ा' नाचने लगते थे तब रनिवास की चहारदीवारी के भीतर, लहराती हुई उन्मत्त तरंगों वाला, महान् उल्लास का कोई महासागर ही उत्पन्न हो जाता था ।

यदा च माण्डवी सुप्तं लक्ष्मणं प्रीतदेवरम् ।
श्मश्रुकूर्चादिभिर्वक्रैश्चित्रितवत्यनर्गलम् ॥६३॥

दर्शं दर्शं तदा बोधे भण्डवेषं तदीयकम् ।
अट्टहासैश्च ताः सर्वाः प्रत्युज्जग्मुस्तमञ्जसा ॥६४॥

और जब (भाभी) माण्डवी, नींद में बेखबर लाडले देवर लक्ष्मण को टेढ़ी-मेढ़ी मूँछ और दाढ़ी से बेरोक-टोक चित्रित कर देती थी तब (लक्ष्मण के) जगने पर उनकी भाँड़ों जैसी शक्ल को देख-देखकर ठठा कर हँसती हुई, वे सब (रनिवास की) महिलायें उनकी शीघ्रतापूर्वक अगवानी करती थीं ।

गच्छ लक्ष्मण! शालायां निजां पश्य मुखच्छविम् ।
दर्पणे कृतसंस्कारे लप्स्यसे परमं सुखम् ॥६५॥

भाभियाँ कहती थीं—'लक्ष्मण ! जाओ न ! कमरे में जाकर साफ़-सुथरे शीशे में अपनी सूरत तो देख लो, बड़ा आनन्द आयेगा ।'

भ्रातृजायावचोभङ्ग्या प्रेरितः प्रेक्ष्य दर्पणे ।
वैरूप्यं लज्जितस्तावत् कृत्रिमरोषमुद्रया ॥६६॥

कया कृतं तिसृणां भोः ब्रूहि शीघ्रमिति ब्रुवन् ।
विवल्गनैः कृताटोपैरवरोधञ्च नन्दयन् ॥६७॥

समुपस्थापयामास लक्ष्मणो गृहताण्डवम् ।
सर्वकार्यं परित्यज्य सर्वे यद् ददृशुश्चिरम् ॥६८॥

भाभी (सीता) की टेढ़ी-मेढ़ी बातों से सजग होकर, शीशे में (अपनी) कुरूपता देखकर लज्जित हो उठने वाले लक्ष्मण, जोश-खरोश के साथ उछल-कूद मचाते हुए—'अरे जल्दी बताओ ? तुम तीनों (सीता, माण्डवी तथा उर्मिला) में से किसने (यह सब) किया है'—इस प्रकार चीखते हुए तथा (अपनी क्रियाओं से) रनिवास को पुलकित करते हुए सारा घर सिर के ऊपर उठा लेते थे । सब लोग सारे काम-काज छोड़कर उस दृश्य को बड़ी देर तक बिसूरते रहते थे ।

विविधसौख्यरसामृतमेदुरं प्रतिदिनं समजायत सङ्गतम् ।
पतिगृहे मिथिलाधिपनन्दिनी ननु जिगाय गुणैर्जनमानसम् ।।९९।।

नाना प्रकार के गार्हस्थ्य-सुखों के रसामृत से बोझिल (सीता का) प्रत्येक दिन अनुकूल सिद्ध होता था। जनकनन्दिनी सीता ने (अपने) गुणों से ससुराल में, सचमुच सबका मन जीत लिया !

किसलयैररुणारुणकान्तिभिर्नवनवैश्च विकासमुपेयुषी ।
गृहलतेव सुखानि विदेहजा नवनवानि ददर्श प्रियाङ्गणे ।।१००।।

अतिशय रतनारी आभा वाली तथा सद्यः अंकुरित कोपलों से विकास प्राप्त करने वाली घर की लतर के समान जानकी ने, प्रिय की अँगनाई में उत्तरोत्तर नवीन सुखों का का अनुभव किया।

दिनं चान्द्रं ज्योत्स्नातुलिततपनं शीतलकरं
निशीथिन्यो नूनं प्रखररवितापप्रहरणाः ।
तमो ज्योतिर्ज्योतिस्सघनतम इत्येवमनिशं
विपर्यस्तं सर्वं जनकतनुजायास्समभवत् ।।१०१

जनकनन्दिनी सीता के लिए, प्रतिक्षण सारा वातावरण, उलटा-पलटा ही प्रतीत होता था ! चाँदनी से बराबर किये गये गये धाम वाला (अर्थात् ज्योत्स्नोपम ताप वाला) दिन (रवि के बजाय) चन्द्रमा से युक्त अतएव शीतल बनाने वाला हो गया (चन्द्रिकार्चचित) रातें निश्चय ही सूर्य की तीखी धूप को बढ़ाने वाली हो गईं। अंधकार (प्रियतम राम की उपस्थिति में) प्रकाश और प्रकाश (प्रिय के अभाव में) सघन अन्धकार बन गया।

यत्काव्यं तरुणायते नवनवोन्मेषैर्लसद्वैभवं
सान्द्रानन्दमरन्दबिन्दुरुचिरं वाण्याशिषाऽनारतम् ।
राजेन्द्रस्य कृतावगान्नवमकस्सर्गो नु निश्शेषतां
वध्वाचारसुसंज्ञको रसभरे श्रीजानकीजीवने ।।१०२।।

नव्यातिनव्य उन्मेषों के कारण विलसित वैभव वाला तथा अखण्डानन्द रूपी पुष्पासव के कारण रुचिर जो काव्य, माँ सरस्वती के आशीष से निरन्तर तरुण प्रतीत होता है, राजेन्द्र-प्रणीत उस रसमय काव्य 'श्रीजानकीजीवन' में 'वध्वाचार' विशिष्ट संज्ञा वाला नवाँ सर्ग पूर्णता को प्राप्त हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्यैकपुण्यं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥१०३॥

कविश्री कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका स्कन्ध-प्रदेश (तना) है, श्री जयदेव के संस्कृत गीत जिसके पर्णसमूह हैं, श्री विल्हण की सदुक्तियाँ जिसके फूल हैं तथा महामहिम पाण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका एकमात्र पुण्यफल है, अभिराज राजेन्द्र का वह निसर्गजात काव्य-द्रुम चिरस्थायी हो ।

इतिश्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
वध्वाचारसंज्ञको नवमः सर्गः

●

दशमः सर्गः

प्रिया वल्लभा राघवेन्द्रस्य सीता रघूणां गृहे चारुचर्या वसन्ती ।
न सस्मार तूर्णङ्गतं हायनानां व्यतीयुस्समा द्वादश स्वप्नतुल्याः ।।१।।

रघुवंशी नरपतियों के राजभवन में रहती हुई राघवेन्द्र श्रीराम की प्राण-वल्लभा, शोभन आचरण वाली सीता को क्षिप्र गति से बीतते हुए वर्षों का बोध तक नहीं हुआ। पूरे बारह वर्ष स्वप्न के समान बीत गए!

अथायोध्यको भूमिपालः कदाचिच्चिरं दर्पणे लोकयन्नाननेन्दुम् ।
स्फुरत्कर्णपालीश्रितं केशराशिं हिमश्वेतमालोक्य खिन्नो बभूव ।।२।।

इसके अनन्तर, कभी अयोध्यानरेश महाराज दशरथ दर्पण में, बड़ी देर से अपना चन्द्रमुख देखते-देखते, मनोहर कर्णप्रान्त से संसक्त (अपनी) केशराशि को हिम-श्वेत लख कर खिन्न हो उठे।

चिरव्यायतेनापि यज्जीवितेन क्षमोऽसौ न वेत्तुं विलासैर्बभूव ।
रहस्यं तदेव स्फुटं दैवगत्याऽभवत्कोसलेन्द्रस्य कल्याणकारि ।।३।।

लम्बी अवधि वाले जीवन के वैभव-विलासों के (अनवरत) भोग से भी जिस रहस्य (महासत्य) को समझने में वह समर्थ नहीं हो सके थे, संयोगवश वही कल्याण-कारी सत्य आज कोसलेन्द्र के समक्ष (स्वयं) प्रकट हो गया।

गुरुं दर्पणं मन्यमानो महीपस्तमुत्थाप्य गाढं प्रचुम्ब्यादरेण ।
गवाक्षे च संस्थाप्य हासं वितन्वन्ननिच्छन्नपि क्लेशचिन्तापरोऽभूत् ।।४।।

उस दर्पण को ही अपना (उपदेशक) सद्गुरु मानकर महाराज ने उसे आदर-पूर्वक चूम लिया। उसे गवाक्ष में स्थापित कर, हँसते हुए नरपति, न चाहते हुए भी क्लेश एवं चिन्ता से आक्रान्त हो उठे।

गतं जीवनं चारुचर्याभिरेव प्रजारक्षणैर्दानधर्मक्रियाभिः ।
न मे पुत्रलाभात्किमप्यन्यदिष्टं पुराऽऽसीन्न वा वर्तते नापि भावि ।।५।।

(वह मन ही मन सोचने लगे—) प्रजाओं के संरक्षण, दानकर्मों, धर्माचरणों एवं परोपकारों में ही मेरा जीवन बीत गया । पुत्रप्राप्ति के अतिरिक्त कोई और (भौतिक) लाभ न मुझे पहले अभीष्ट था, न अब है और न ही भविष्य में होने को है ।

ददावासनं देवराजोऽपि मह्यं जयानन्तरं शौर्यसाह्यं विलोक्य ।
न वा मर्त्यलोके न वा देवलोकेऽपरं काङ्क्षितं सत्तरं विद्यते मे ।।६।।

विजय पाने के बाद (मेरा) पराक्रम एवं साहाय्य देख कर देवराज इन्द्र ने भी मुझे अपना अर्धासन प्रदान किया ! न मृत्युलोक में और न ही देवलोक में मेरी कोई श्रेष्ठतर कामना पूर्ण होने को शेष रह गई है !

तथाप्यस्ति चिन्त्यं ममैतावदेव स्वयं मानस किन्न जातं विरक्तम् ।
निसर्गं खलीकृत्य किञ्चिन्न लोके क्षणं शोभते जीवितं वा जडं वा ।।७।।

फिर भी, मेरे लिये वस इतना ही चिन्ता का विषय है कि मेरा मन (अभी तक) स्वयं क्यों नहीं विरक्त हो पाया ? निसर्ग (प्रकृति) की अवमानना करके कोई भी वस्तु लोक में प्रतिष्ठित नहीं हो पाती है—चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन !

मृतं संविलोक्यापि नो तर्कतेऽद्धा जनो यत्स्वयं सोऽपि मृत्युग्रहेऽस्ति ।
निजं सुस्थिरं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रं विजानाति जीवः कियच्चित्रमेतत् ।।८।।

अन्य व्यक्ति को मृत देख कर भी कोई व्यक्ति यह नहीं सोचता कि सचमुच वह स्वयं भी मृत्यु की पकड़ में है । प्राणी स्वयं को (तब भी) सुस्थिर एवं सर्वतंत्र-स्वतंत्र ही समझता है—कितना विचित्र है यह !!

कृपा जागदीशीयमाभाति यन्मे हितं प्रस्तुतं सत्वरं दर्पणेन ।
इदानीं न कार्यो विलम्बो न तर्को मया चिन्तनीयं ध्रुवं वर्तमानम् ।।९।।

यह तो परमेश्वर की कृपा ही प्रतीत हो रही है जो कि दर्पण ने मुझे अपना कर्तव्यबोध करा दिया । अब न मुझे विलम्ब करना है, न तर्क-वितर्क ! बस, पूर्ण निश्चय के साथ मुझे अपने वर्तमान (तात्कालिक कर्तव्य) से निपटना है !

अयं राज्यभारोऽधुनाऽऽरोपणीयो दृढस्कन्धयो रामचन्द्रस्य शीघ्रम् ।
स एवास्ति धर्मेण पुत्रक्रमेण प्रजाऽऽकाङ्क्षितेनापि योग्यो महिम्नः ।।१०।।

साम्राज्य का भार मुझे शीघ्र ही रामचन्द्र के सुदृढ़ कन्धों पर रख देना चाहिये । धर्म की दृष्टि से, (पुत्रों की) ज्येष्ठता की दृष्टि से और प्रजावर्ग की आकांक्षा की दृष्टि से भी वही इस गरिमा के योग्य हैं ।

प्रजारञ्जने साधु रामः क्षमोऽस्ति स्वभावेन शौर्येण सोदर्यसक्तः ।
प्रशासत्यहो रामभद्रे रघूणां भवेदक्षया कीर्तिरित्येव मन्ये ।।११।।

राम, प्रजाओं के अनुरञ्जन में अच्छी तरह समर्थ हैं । स्वभाव एवं सामर्थ्य— दोनों ही दृष्टियों से वह अपने भाइयों में अनुरक्त हैं । निश्चय ही श्रीराम के शासन करते, रघुवंशियों की कीर्ति अक्षुण्ण बनी रहेगी । मैं यही अनुभव करता हूँ !

परन्त्वेकमेवास्ति दुःखं सुखघ्नं न मे पुत्रकौ द्वावयोध्यास्थितौ स्तः ।
विना कैकयीनन्दनं प्राणभूतं प्रहर्षक्षणोऽयं व्यलीको विभाति ।।१२।।

परन्तु इस महान् सुख में विघात पैदा करने वाला एक ही दुख (मुझे) है, वह यह कि मेरे दो पुत्र (भरत एवं शत्रुघ्न सम्प्रति) अयोध्या में उपस्थित नहीं हैं । प्राणप्रिय कैकयीनन्दन भरत के अभाव में हर्ष-आमोद का यह क्षण सार्थक नहीं सिद्ध हो पा रहा है ।

परं भावुका कन्त्रधीः कोमलात्मा परं मानिनी कैकयी मत्प्रियासु ।
तथाप्यात्मजाताधिकं निर्विकारं मयाऽऽलोकितं प्रेम रामे तदीयम् ।।१३।।

मेरी पत्नियों में कैकयी सर्वाधिक स्वाभिमानिनी, कोमलहृदय, सरल बुद्धिवाली तथा भावुक-प्रकृति की है । फिर भी राम के प्रति उसका अपने पुत्र भरत से भी अधिक, विकार-रहित प्रेम मैंने देखा है ।

अतस्तामुपैष्यामि पश्चादिदानीं गुरुं वंशवन्द्यं वसिष्ठं प्रपद्ये ।
रघूणां समग्रेऽपि सत्कृत्यजाते स एवास्ति मान्यस्स एव प्रमाणम् ।।१४।।

अतएव (मंत्रणा लेने के लिए) उसके पास मैं बाद में जाऊँगा । सर्वप्रथम अपने वंशकुल के वन्दनीय गुरूवर्य वशिष्ठ के पास चलता हूँ, क्योंकि रघुवंशियों के समस्त मंगल-कार्यों में एकमात्र वही प्रमाण हैं और मान्य भी ।

इति स्वान्तके साधु निश्चित्य हृष्टः सुमन्त्रं समादिश्य साकेतभूपः ।
समारुह्य जैत्रं रथं तीव्रगत्या वसिष्ठाश्रमं शीघ्रमेव प्रतस्थे ॥१५॥

अपने हृदय में सम्यक् रूप से ऐसा निश्चय करके प्रसन्नचित्त साकेतभूप दशरथ ने सुमन्त्र को आदेश दिया और विजयशील रथ पर आरूढ़ होकर वह तत्काल ही तीव्रगति से वशिष्ठाश्रम की ओर चल पड़े ।

विलोक्यागतं कोसलेन्द्रं महर्षिः स पप्रच्छ भव्यं कुलस्य प्रजानाम् ।
निशम्याशयं रामराज्याभिषेकोत्सवस्याधिकं तस्य सौख्यं बभूव ॥१६॥

कोसलेन्द्र दशरथ को आया हुआ देखकर महिमाशाली महर्षि वशिष्ठ ने उनसे रघुकुल एवं प्रजावर्ग का कुशल-मंगल पूछा । श्रीराम के राज्याभिषेक-उत्सव का समाचार सुनकर उन्हें अत्यधिक सुख मिला ।

अवादीत्स राजन्नुदारोऽतिरम्यस्त्वया चिन्तितोऽयं स्वकर्तव्यभावः ।
प्रजाक्षेमयोगोपपत्तिप्रलीनः शतायुष्यमाधत्स्व कीर्ति लभस्व ॥१७॥

उन्होंने कहा—राजन् आपने अपने जिस कर्त्तव्यभाव की चिन्ता की है वह अत्यन्त रमणीय, उदार तथा प्रजा के योगक्षेम की सिद्धि में समर्थ है । ईश्वर करे आप शतायु हों और कीर्ति प्राप्त करें ।

यथा प्राप्तकालोऽम्बुदो वृष्टिमेति प्रभो ! तावकी धर्मबुद्धिस्तथैव ।
नकार्योविलम्बोऽनभीष्टश्शुभेऽस्मिन् भवेद्रामराज्यं प्रजासौख्यकारि ॥१८॥

राजन् ! जैसे वर्षाकाल आते ही बादल बरसने लगते हैं, वैसे ही आपकी यह धर्म-बुद्धि भी (उचित अवसर पर उत्पन्न हुई है) इस शुभकार्य में अब अनपेक्षित विलम्ब नहीं होना चाहिए । प्रजा के लिए सुखकारी राम का राज्य अब (स्थापित ही) होना चाहिए ।

इतीवाशु सम्मन्त्र्य नक्षत्रराशिग्रहस्तोमयोगानुकूल्यं विचार्य ।
लिखित्वाऽभिषेकोचितं द्रव्यजातं ददौ पत्रिकां भूपहस्ते पुरोधाः ॥१९॥

कुछ ही क्षणों में भूपति को ऐसी मंत्रणा देकर,अनुकूल नक्षत्र, राशि, ग्रहमण्डल तथा शुभयोग का विचार कर, साथ ही साथ अभिषेकोचित सामग्रियों को लिखकर पुरोहित वशिष्ठ ने पत्रिका महाराज दशरथ के हाथ में दे दी ।

प्रमोदार्णवं भूरि रिङ्गत्तरङ्गं मनोव्याधिकूलङ्कषं युक्तबुद्ध्या ।
कथञ्चिन्नियम्यागतः कोसलेन्द्रः पुरीं पूर्वजानां मुदा तामयोध्याम् ।।२०।।

उमड़ती तरंगों वाले तथा मनोव्याधिरूपी तटों को छिन्न-भिन्न कर देने वाले (हृदयस्थित) हर्षरूपी समुद्र को युक्त-बुद्धि से यथाकथञ्चित् नियन्त्रित करके कोसलेन्द्र दशरथ प्रसन्नतापूर्वक अपने पूर्वजों की पुरी, राजधानी अयोध्या को पहुँचे ।

प्रसारङ्गता किन्तु कर्णाद्धिकर्णं सरन्त्याशु वार्ताऽभिषेकस्य रम्या ।
प्रभाते ततश्चान्यदेवातिभिन्नं समालक्ष्यत प्रेष्ठरूपं नगर्याः ।।२१।।

परन्तु एक कान से दूसरे कान तक पहुँचता हुआ रामराज्याभिषेक का वह सुखद समाचार क्षिप्रगति से राजधानी में फैल ही गया । फलतः अगला प्रभात आते ही पहले से भिन्न, अयोध्या नगरी का कुछ और ही रूप-लावण्य दृष्टिगोचर होने लगा ।

त एव द्रुमास्ताश्च शाखास्त एव क्षुपास्ताश्च वल्ल्यो न किञ्चिद्द्वितीयम् ।
तथाप्यागते भाति नव्या वनाली वसन्ते यथा राजधानी तथैव ।।२२।।

वही वृक्ष होते हैं, वही शाखायें होती हैं, वही पौधे होते हैं और वही लतायें ! कुछ भी दूसरा (भिन्न) नहीं होता । फिर भी वसन्त ऋतु के आने पर वनपंक्ति नूतन प्रतीत होने लगती है, राजधानी अयोध्या की भी वही दशा हुई ।

प्रयातेष्वथो पञ्चषेष्वेव पौरा दिनेष्वट्टवाटीगृहद्वारभूमीः ।
सुसंस्कारसम्मार्जनादिक्रियाभिः परं दर्शनीयत्वमानीतवन्तः ।।२३।।

इसके अनन्तर, पाँच-छः दिन बीतते ही नागरिकों ने अपनी अटारियों, वाटिकाओं तथा गृहद्वार-भूमियों को सफाई तथा जल-छिड़काव आदि क्रियाओं से अत्यधिक दर्शनीय एवं शोभासम्पन्न बना दिया ।

समग्रा पुरी कान्तकान्ता रघूणां बभौ नायिका प्रीतिबद्धप्रियेव ।
ततं यावदालोकमासीद् विभुत्वं स्फुटं रामराज्याभिषेको नगर्याम् ।।२४।।

रघुवंशी नरपतियों की अत्यन्त कमनीय वह सम्पूर्ण नगरी प्रीतिबन्धन में बँधे प्रियतम वाली नायिका के समान सुशोभित होने लगी । जहाँ तक दृष्टि जाती थी, वैभव ही वैभव बिखरा दिखायी पड़ता था । अब राजधानी में राम के राज्याभिषेक की बात स्पष्ट हो चुकी ।

इतश्श्रेयसे यत्नवान् कोसलेशस्ततश्चान्यदेवाश्रयद्भागधेयम् ।
यदर्थं सुरैः प्रार्थितं रामजन्म क्व तस्य प्रपूर्तिर्नृपत्वाभिषेकैः ??२५।।

इधर तो कोसलेन्द्र दशरथ अपने कल्याण के लिए यत्नवान् थे परन्तु दूसरी ओर उनका अदृष्ट (भाग्य) किसी और घटना पर केन्द्रित हो रहा था । जिस लक्ष्य की पूर्ति के लिए देवताओं ने राम के अवतरण की प्रार्थना की थी भला उसकी पूर्ति उनके राज्याभिषेक से कैसे सम्भव थी ?

धराचक्रमासीद् विपन्नं विषण्णं विशीर्णं विदीर्णं विकीर्णं निकामम् ।
तिरस्कृत्य विष्णुं प्रसाद्याशुतोषं जगद्रावणो रावणोऽसौ तताप ।।२६।।

सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल बुरी तरह से विपन्न, विषण्ण, विशीर्ण, विदीर्ण एवं छिन्न-भिन्न हो उठा था । क्योकि भगवान विष्णु का तिरस्कार करने वाला तथा सम्पूर्ण संसार को रुलाने वाला राक्षसराज रावण (उस समय) भगवान् शिव की कृपा से तप रहा था ।

गुहाकन्दराभ्यन्तरे भूधराणां दिनान्यायुषस्तापसा हन्त निन्युः ।
न धर्मो न यज्ञो न वा देवपूजा क्वचित्सम्मताऽऽतङ्कतो रावणस्य ।।२७।।

समस्त तपस्वी ऋषि मुनि रावण के आतङ्क से डरे-डरे पर्वतों की गुफाओं और कन्दराओं के भीतर छिप कर अपनी आयु के दिन काट रहे थे । न कहीं धर्म की प्रतिष्ठा थी, न यज्ञ की और न ही देव-समर्चना की ।

जिताः सिद्धगन्धर्वकिम्मानवाद्याः सुरा इन्द्रकीनाशयक्षेशमुख्याः ।
बलीयानलं मित्रभूतोऽथ वाली सहस्त्रार्जुनो जामदग्न्येन दीर्णः ।।२८।।

रावण ने देवराज इन्द्र, यम तथा यक्षपति कुवेर जैसे देवताओं को तथा सिद्धों, गन्धर्वों एवं किन्नरों को जीत लिया था । महाबली वानरराज वाली उसका मित्र बन चुका था और उसका एकमात्र शत्रु हैहयवंशी सहस्रार्जुन भगवान् परशुराम द्वारा नष्ट किया जा चुका था ।

न शत्रुस्त्रिलोक्यामहो रावणस्य क्वचित्कोऽपि जैत्रोऽधुना वा न तस्य ।
निशीथप्रभोऽसावतस्सत्प्रकाशं खलीकृत्य लोकत्रयेशो बभूव ।।२९।।

सचमुच अब त्रिलोकी में रावण का कोई शत्रु शेष नहीं था और न ही अब कोई उसको जीतने वाला रह गया था । अतएव अर्द्धरात्रि के घने अन्धकार के समान वह श्रेष्ठ प्रभामण्डल को भी न्यग्भूत करके लोकत्रयका सार्वभौम प्रशासक बन गया था ।

स्फुटंतद्विनाशस्य राज्याभिषेकोत्सवोऽयं महान् प्रत्यवायोऽभविष्यत् ।
अतश्शारदा देवकल्याणकामा द्रुतं मन्थराऽऽमन्त्रणेष्वाविवेश ।।३०।।

उसके महाविनाश के मार्ग में राम के राज्याभिषेक का यह उत्सव निश्चय ही एक महान बाधा बन जाता । अतएव देवताओं के कल्याण की कामना वाली भगवती शारदा ने वेगपूर्वक (कैकयी की दासी) मन्थरा के विचारों में प्रवेश किया ।

प्रकृत्यैव दुर्मर्षणा कुब्जपृष्ठा सुरप्रेरिताऽसौ पुनर्लोकयन्ती ।
स्फुरद्धर्षसम्भारसिन्धुं नगर्यां प्रविज्ञाय सर्वं ससादाशु सौधम् ।।३१।।

स्वभाव से ही असहनशील, कुबड़े पीठ वाली, देवमाया से प्रेरित, मन्थरा नामक (कैकयी की) उस दासी ने अयोध्या पुरी में उमड़े हुए हर्ष-उत्साह के सागर को देखा और सब कुछ जानने के बाद वेगपूर्वक राजमहल में जा पहुँची !

पदास्कन्दिता कालसर्पीव रोषाच्छ्वसन्ती द्रुतं लोहितप्रेक्षणाऽसौ ।
स्मितैर्नन्दिता भूपपत्न्या सहेलं विपृष्टा कथं मन्थरे ! खिद्यसे त्वम् ।।३२।।

पैर से कुचली गयी कालसर्पी के समान रोष भरे उच्छ्वास लेती हुई। (क्रोध के कारण) लोहित नेत्रों वाली अपनी दासी को देख, भूपपत्नी कैकयी ने मुस्कराकर उसकी अगवानी की और सहज भाव से पूछा—अरी मन्थरे ! तू । खिन्न क्यों है ?

पुनश्चाद्य कैश्चिदद्दहन्नर्मवाक्यैश्छविल्लैः सृतिस्थैर्विमानीकृतासि ?
व्यथा काचिदन्याऽथवा बाधते त्वां करिष्येऽभ्युपायं द्रुतं ब्रूहि तन्मे ।।३३।।

क्या वीथी में खड़े कुछ रसिक छैलछबीलों द्वारा तू आज पुनः व्यंग्यवाक्यों द्वारा अपमानित की गयी है ? अथवा कोई और व्यथा तुझे पीड़ित कर रही है ? यदि ऐसा कुछ है तो शीघ्र ही मुझे बता दे ! उसके निवारण का उपाय करूँगी !

अलं राज्ञि!मच्चिन्तया सुस्थिराऽहं निजं भव्यमीक्षस्व किन्तु प्रनष्टम् ।
यतोऽहं स्थिता देवि!त्वद्दास्यकर्मण्यतो दुःखितास्मीत्युवाचोन्मुखी सा ।।३४।।

(कैकयी की बात सुनकर) स्वामिनी की ओर उन्मुख होकर मन्थरा बोली—महारानी जी ! मेरी चिन्ता मत करिये ! मैं तो सुस्थिर हूँ ! परन्तु संकटग्रस्त अपने कल्याण पर दृष्टिपात अवश्य करें ! हे देवी ! चूंकि मैं आपकी सेविका के पद पर नियुक्त हूँ, इसीलिए (आपकी विपत्ति देखकर) दुःखित हूँ !

विलोक्येङ्गिताकारचेष्टादि तस्याः कटिभ्रामणं दृष्टिमाकेकरीञ्च ।
गता कैकयी विस्मयं भावयन्ती बलीयो भयं किञ्चिदासन्नमेव ।।३५।।

मन्थरा के संकेतों, मुखाकृतियों, आङ्गिकचेष्टाओं को देखकर, उसके कटिप्रदेश की मचकन तथा उसकी आकेकर (ऐंची) दृष्टि को निरखकर रानी कैकयी विस्मय से भर उठी ! उसे किसी बलवान् भय के आसन्न होने का भान हो गया !

मृदुस्निग्धवाक्यैस्सगाढोपगूढं यदा स्वामिनी साधु पप्रच्छ सर्वम् ।
तदा मन्थरा सिद्धहस्तप्रचारा विषोद्गारदक्षा वचो व्याजहार ।।३६।।

जब स्वामिनी (कैकयी) ने मन्थरा को प्रगाढ़ आलिङ्गन में बाँधकर, मीठे उद्गारों के सहारे भली भाँति सारा रहस्य पूछा तब हस्त-प्रचार की कला में सिद्ध तथा विषाक्त उद्गारों की अभिव्यक्ति में दक्ष मन्थरा ने मुँह खोला ।

समाचर्यते रामराज्याभिषेको धरावल्लभेन श्रुतं किं त्वयाऽपि ?
शुभे ! नागराश्चापि जानन्ति सर्वे त्वमेवैकला वञ्चितासि प्रवृत्त्या ।।३७।।

भाग्यवती ! पृथिवीवल्लभ राम का राज्याभिषेक कर रहे हैं । क्या तुमने भी सुना है ? सारे के सारे नागरिक इस तथ्य को जानते हैं । (परन्तु) अकेली तुम्हीं इस शुभ समाचार से वञ्चित हो ।

त्वदीयं सुतं प्रोषितं संविधाय प्रजेशस्सपत्नीसुतं सत्करोति ।
न वाऽपेक्षते मन्त्रणं तावकीनम् इतस्तेऽधिकं न्यक्कृतं नाहमीक्षे ।।३८।।

तुम्हारे पुत्र (भरत) को परदेश में भेजकर प्रजेश्वर दशरथ तुम्हारी सौत के पुत्र का सत्कार कर रहे हैं ! उन्हें तो तुम्हारे सलाह-मशविरे की भी अपेक्षा नहीं है ! इससे अधिक तुम्हारा और कोई अपमान मैं नहीं देखती ?

विहायान्यभार्यागृहाणि प्रजेशस्तवाराधने योऽनिशं सिद्ध आसीत् ।
स एवाधुना क्षीरमक्षीमिव त्वां क्षिपत्येव दूरे ततः स्तम्भितास्मि ।।३९।।

जो महाराज दशरथ अन्य पत्नियों के राजमन्दिरों की उपेक्षा करके, रात-दिन तुम्हारी ही आराधना में लगे रहते थे आज वही दूध की मक्खी की तरह तुम्हें दूर फेंक रहे हैं । यही सब देखकर मुझे काठ मार गया है ।

**लता शाखिशाखाच्युता कान्तभक्तिप्रगाढानुरागच्युता चापि भार्या ।
सकृद्भूशये राज्ञि ! शीर्षाधिरोहम अवाप्तुं क्षमे नैव सत्यं ब्रवीमि ।।४०।।**

स्वामिनी ! मैं सच कह रही हूँ ! वृक्ष की शाखा से नीचे गिरी हुई लता और प्रियतम की आसक्ति एवं प्रगाढ़ अनुराग से वञ्चित हुई गृहिणी, एक बार धराशायी होने पर पुनः शीर्षाधिरोहण में समर्थ नहीं हो पाती है ।

**समाकर्ण्य मर्मच्छिदं वाग्विकल्पं विवेकप्रदीपं रुषा निर्वपन्ती ।
मुधा कुर्वती दोरके सर्पबुद्धिम् अभूत्कैकयी मन्थरारूढभव्या ।।४१।।**

मर्म को छिन्न-भिन्न कर देने वाले दासी के वाग्विकल्पों को सुनकर, उत्पन्न हुए रोष द्वारा अपने विवेकरूपी दीपक को बुझाती हुई तथा (स्त्री-सुलभ) मूढ़ता के कारण रस्सी को साँप समझती हुई रानी कैकयी ने मन्थरा को ही अपने कल्याण-मङ्गल का आधार मान लिया ।

**प्रजेशोहितं स्वापमानं स्मरन्ती मुखं पाणिनाऽऽच्छाद्य राज्ञी रुरोद ।
उवाचाथ दीना प्रभो! किं करोमि प्लुता सत्यमेवाऽस्म्यहं वञ्चितास्मि ।।४२**

प्रजेश्वर दशरथ द्वारा किये गये अपने अपमान का स्मरण करती हुई रानी कैकयी हाथों से मुँह ढँककर फूट-फूटकर रोने लगी । बड़ी दीनता के साथ वह कहने लगी—हे परमेश्वर ! अब मैं क्या करूँ ? मैं तो सचमुच (अपने ही पति द्वारा) ठगी गई, दूर धकेल दी गयी !

**विना मन्मतै राजकार्याणि भूपः स्वतन्त्राण्यपि प्रीतिमान्नो चकार ।
विधूयाधुना प्रेष्ठभार्यामिदानीं तनोत्येकलोयौवराज्याभिषेकम्?? ३।।**

जिन राजकार्यों मे मेरी मन्त्रणायें कत्तई अपेक्षित नहीं थी, उन्हें भी मेरे प्रति अनुराग होने के ही कारण, भूपति ने कभी विना मुझसे पूछे नहीं किया । सर्वाधिक प्रिय लगने वाली अपनी उसी भार्या को तिरस्कृत करके आज वह अकेले,अपने ही मन से, राम का यौवराज्याभिषेक सम्पन्न कर रहे हैं ?

**न किं रामभद्रे ममास्ति प्रगाढं परं प्रेम पूतं दृढं निर्विकारम् ?
अहं प्रत्यवायोन्मुखी नाभविष्यं तदीयाभिषेको यदि ख्यापितः स्यात् ।।४४।।**

क्या रामभद्र के प्रति मेरा अत्यन्त प्रगाढ़, अतिशय पवित्र, विकार-रहित, सुदृढ़ प्रेम नहीं है ? यदि उनके राज्याभिषेक का समाचार महाराज मुझे भी बताते तो निश्चय ही मैं उसमें बाधक न बनती !!

यदीयाननेन्दुं चकोरीव नित्यं निपीयैव मे धन्यमासीत्प्रसूत्वम् ।
तमेवात्मजं जीवितं जीवितानां कथं नाभिषिक्तं मुदाऽलोकयिष्यम् ।।४५।।

जिस पुत्र राम के चन्द्रमुख को चकोरी की तरह निरन्तर निहारती हुई मैं अपने मातृत्व को धन्य समझती थी—प्राणों के भी प्राण उसी सपूत राम को युवराज के पद पर अभिषिक्त होता हुआ, भला मैं प्रसन्नतापूर्वक कैसे न देख पाती ?

सहे सर्वमेव प्रभो ! नावमानं छलं वञ्चनं नापि कूटप्रयोगम् ।
अहं कैकयी स्वप्नसौधं समेषां धराशायिनं तत्करिष्ये क्षणेन ।।४६।।

हे प्रभो ! मैं सब कुछ सह सकती हूँ । परन्तु अपनी अवमानना, छल, वञ्चना, तथा षडयन्त्र को क्षमा नहीं कर सकती । मेरा भी नाम कैकयी है; मैं सब लोगों के स्वप्नसौधों को क्षण भर में धराशायी कर दूँगी ?

गमिष्याम्यहं मन्थरे ! कोपगेहं मया चिन्तितं भाविकृत्यं यदस्ति ।
त्वमप्यद्य मे पश्य रूपप्रभावं नृपप्रेयसीत्वं गतं वर्तते वा ।।४७।।

मन्थरे ! मैं कोपभवन को जा रही हूँ, मैंने सोच लिया है जो कुछ मुझे आगे करना है । आज तू भी मेरे रूप-लावण्य के प्रभाव को देख ले ! यह भी देख ले कि भूपति की प्रेयसी होने का मेरा गौरव समाप्त हो गया अथवा अभी भी है ?

इतीवाशु सम्मन्त्र्य राज्ञी विषण्णा विहायान्नतोयाभिषेकावतंसान् ।
विरूपा स्रवन्नेत्रसन्तप्तनीरा व्यथोच्छूनदृष्टिर्गता कोपहर्म्यम् ।।४८।।

इस प्रकार मन्थरा को जल्दी-जल्दी समझा-बुझाकर स्फुटित-हृदया रानी कैकयी कोपभवन की ओर चल पड़ी । उसने अन्न-जल, अलङ्करण तथा स्नान आदि का परित्याग कर दिया । उसके नेत्र वेदना के कारण उच्छ्वसित हो उठे और उनसे सन्तप्त अश्रुधारा फूट कर बह निकली । वह विरूप सी हो उठी ।

अनुश्रुत्य कर्णाद्धि कर्णं सरन्तीं प्रवृत्तिं नृपो मानिनीमानरक्षी ।
द्रुतं कैकयीकोपहर्म्यं ससाद प्रभुर्भूभृतामिन्द्रसख्योपपन्नः ।।४९।।

एक कान से दूसरे कान तक पहुँचते हुए उस समाचार को सुनकर, मानिनी प्रियतमा के मान की रक्षा करने वाले, देवराज इन्द्र की मैत्री से गौरवान्वित चक्रवर्ती सम्राट दशरथ द्रुतगति से रानी कैकयी के कोपभवन को जा पहुँचे ।

ददर्श प्रियामश्रुसम्पातसिक्तां प्रभातेन्दुबिम्बाननां भूमिशय्याम्।
गलद्धारताटङ्कमञ्जीरभूषां च्यवन्नूपुरां क्षिप्तकेयूरयुग्माम् ॥५०॥

उन्होंने पृथिवी पर पड़ी हुई, मुक्ताहार कर्णभूषण तथा मञ्जीर (पायल) सरीखे आभूषणों से विरहित, विगलित नूपुरों वाली, दूर फेंके गये केयूरयुगल वाली, अविरल अश्रुधारा से भींगी हुई अतएव प्रभातकालीन चन्द्रविम्व के समान कान्ति-हीन मुखमण्डल वाली प्रिया को देखा।

प्रकृत्यैव साधुर्नृपः कोसलेन्द्रः सदा कैकयीबद्धचित्तानुवृत्तिः।
अजानन् रहस्यं सहेलं सहासं परामृश्य राज्ञीमुवाचादरेण ॥५१॥

कोसलेन्द्र महाराज दशरथ स्वभाव से ही कोमल थे। उनकी चित्तवृत्ति सदैव कैकयी के अनुकूल रहती थी। अतएव रहस्य को न जानते हुए, वह रानी के शरीर का स्पर्श करते हुए तथा हास-परिहास में डूबे हुए, आदर सहित विलासपूर्वक बोले।

प्रिये! स्तोकमात्रापराधस्य दण्डः कथं चीयते भीषणोऽयं मदर्थम्।
मया मन्त्रितं नो त्वया देवि! तस्माद् दुनोमि स्वयं द्विर्न दण्ड्यो भवेयम् ॥५२

प्रिये! एक नन्हें से अपराध के लिए तुम मुझे यह भीषण दण्ड क्यों दे रही हो? देवि! राम के राज्याभिषेक के सन्दर्भ में मैंने तुमसे मन्त्रणा नहीं ली, जिसके लिए मैं स्वयमेव दुःखी हूँ। (यह पश्चात्ताप ही मेरे लिए दण्ड है) अब दुहरे दण्ड का पात्र बनने योग्य मैं नहीं हूँ।

शुभे! त्वामवाप्तुं समुद्विग्न आसं स्वसङ्कल्पसन्दर्भप्रत्यायनायै।
विपर्यासमेतः क्रमः किन्तु मुग्धे! प्ररोषः पुरो मेऽभ्युपायश्च पश्चात् ॥५३॥

हे शुभे! अपने सङ्कल्प एवं अभिषेक-सन्दर्भ का अनुमोदन कराने के लिए मैं तुमसे मिलने के लिए स्वयं उद्विग्न था। परन्तु वह क्रम ही उल्टा हो गया। मुग्धे! (मुझ पर) तुम्हारा रोष पहले उत्पन्न हो गया और तुम्हें प्रसन्न करने का मेरा उपाय अब बाद में प्रस्तुत हो रहा है।

अलं राज्ञि! रोषेण केनासि रुष्टा मया? स्वाननाम्भोजभृङ्गेण? कस्मात्?
समुत्तिष्ठ सन्धत्स्व वासोऽवतंसं वदाऽऽकाङ्क्षितं देवि! तूर्णं करिष्ये ॥५४॥

हे देवि! रोष मत करो। आखिर किससे रूठी हो? मुझसे? जो तुम्हारे मुखरूपी कमल का मधुकरभूत है? आखिर क्यों रूठी हो? उठो न!! सुन्दर परि-धान एवं आभूषण धारण कर लो। अपनी आकाङ्क्षा बताओ। हे देवि! सब कुछ मैं तत्काल पूर्ण करूँगा।

यदि क्लेशहेतुर्भवेदन्य एव तमप्याशु सन्धेहि मा गाः शुचस्त्वम् ।
त्वदुद्वेजकं धर्षितुं सुक्षमोऽहं कथा का नराणां सुरं दैत्यसंघम् ।।५५।।

यदि तुम्हारे क्लेश का कारण कुछ और ही हो तो उसे भी शीघ्र ही बता दो । व्यर्थ ही वेदना मत झेलो । क्योंकि तुम्हें उद्विग्न बनाने वाले देवता और दैत्य-समूह को भी धर्षित करने में मैं समर्थ हूँ, मनुष्यों की तो बात ही क्या ?

इतीवोपलाल्याङ्कपाल्यां प्रजेशो यदा कैकयीकोपशान्त्यै जगाद ।
तदा मन्थराऽऽमन्त्रितोद्दामवेगा समुत्थाय पार्श्वेण सा व्याजहार ।।५६।।

इस प्रकार, जब कैकयी की कोपशान्ति के लिए प्रजेश्वर दशरथ ने उसे बाहु-पाश में भरकर दुलारते हुए मीठे वचन कहे तब मन्थरा की मन्त्रणाओं से उद्दाम वेग वाली रानी एक करवट के बल कुछ ऊपर उठी और राजा से बोली ।

व्यलीकोपचारैरलं कोसलेश प्रभो ! नाहमस्मि प्रिया वल्लभाऽसौ ।
गतान्येव मे तानि दीप्यद्दिनानि मदायत्तमासीद्यदा मानसं ते ।।५७।।

स्वामी ! कोसलेन्द्र !! निरर्थक झूठे उपचारों से क्या लाभ ? अब मैं आपकी पहले जैसी प्रेयसी वल्लभा नहीं रही ! मेरे वे सौभाग्य के दिन अब बीत चले जब आपका मन एकमात्र मेरे अधीन था ।

मनोध्वंसिनी बुद्धिरासीज्जरायां गता सापि हस्तद्वये पट्टराज्ञ्याः ।
यदीयस्सुतो यौवराज्यं भुनक्ति प्रभो ! क्षीरमक्षीव दूरीकृताऽहम् ।।५८।।

इस वृद्धावस्था में तो मन को विध्वस्त कर देने वाली एक बुद्धि ही बची थी । परन्तु वह भी पटरानी कौशल्या के दोनों हाँथों में नियन्त्रित है, जिनका पुत्र अब युवराज-पद का भोग करने जा रहा है । स्वामी ! मैं तो दूध में पड़ी मक्खी की तरह दूर फेंक दी गई हूँ ।

समाकर्ण्य मर्मच्छिदं दीनवाचं नतः स्वापराधेन भूपो जगाद ।
अलं कैकयि ! प्राणपाथेयभूते ! उरश्शूलमूलैर्विषाक्तैर्वचोभिः ।।५९।।

भार्या की मर्मान्तक दीन वाणी को सुनकर, अपने ही अपराध से विनत हुए राजा ने कहा—कैकयी ! तुम मेरे प्राणों की सञ्जीवनीभूता हो । उरःशूल उत्पन्न करने वाले इन विषाक्त वचनों को मत कहो ।

अथाद्यैव ते कामनां पूरयिष्ये पणीकृत्य मज्जीवितञ्चापि देवि !
प्रमाणं तदेवास्तु मे त्वत्परस्य स्वमाकाङ्क्षितं प्रस्फुटं ब्रूहि राज्ञि !!६०।।

हे देवि ! अपने प्राणों को भी गिरवी रखकर मैं तुम्हारी इच्छा आज ही पूर्ण करूँगा। मैं तुम्हें कितना मानता हूँ, इसका प्रमाण तुम्हारी आकाङ्क्षा की पूर्ति ही बनेगी। प्रिये ! अपने मन की बात निःसंकोच कहो।

रघूणां कुले सत्यसन्धोऽस्मि जातो गरीयो वचो जीवितेभ्योऽपि येषाम् ।
न मे रामचन्द्रात्प्रियं किञ्चिदन्यच्छपाम्यद्य तेनापि वाक्ये स्थितोऽस्मि ।।६१।।

जिनके लिए अपना वचन प्राणों से भी अधिक महनीय रहा है, सत्यव्रती मैं ऐसे ही रघुवंशियों के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। रामचन्द्र से अधिक प्रिय (इस भूतल में) मेरे लिए कुछ भी नहीं है, आज मैं उस पुत्र की भी शपथ लेता हूँ। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर अटल हूँ।

निरुद्धो भवेद्यौवराज्याभिषेकस्त्वदाकांक्षया कैकयि ! प्राणभूते !
भवेद्वाञ्छितं रत्नमाणिक्यभारं त्वदिच्छानुकूलं किमप्यन्यदेव !!६२।।

प्राणवल्लभे कैकयी !यदि सचमुच तुम्हारी इच्छा हो तो यह यौवराज्याभिषेक भी रुक सकता है। यदि रत्नों और माणिक्यों का भार तुम्हारे लिए वांछित हो अथवा तुम्हारी इच्छा के अनुकूल कोई और भी वस्तु अभीष्ट हो तो उसकी पूर्ति की जा सकती हैं।

प्रतिज्ञाव्रतं भूमिपालस्य दृष्ट्वाऽनुभूयान्तरे तस्य सत्याश्रयत्वम् ।
सबालस्मितं कैकयी भूपमूचे प्रभो ! स्मारयामि व्यतीतं नु किञ्चित् ।।६३।।

नरपाल दशरथ के उस (दुर्धर्ष) प्रतिज्ञाव्रत को देखकर तथा मन ही मन उनकी सत्यनिष्ठा का अनुभव करके, शिशुओं की तरह मुस्कराकर कैकयी ने राजा से कहा— स्वामी ! एक पुरानी बात का स्मरण करा रही हूँ।

पुरा नाथ ! देवासुरे भीष्मयुद्धे क्षतः कौशलैर्मे यदा रक्षितोऽसि ।
प्रसन्नस्तदा द्वौ वरौ दत्तवान् मे मयाऽयाचितौ ताविह प्रापणीयौ ।।६४।।

हे नाथ ! बहुत पहले देवताओं और असुरों के भीषण युद्ध में घायल हुए आप मेरे कौशल से सुरक्षित बचा लिये गये थे ! तब प्रसन्न होकर आप ने मुझे दो वर दिये थे। मैंने उन्हें तब नहीं माँगा था, आज उन्हें प्राप्त करना चाहती हूँ।

जहासोच्चकण्ठेन भूपो मनस्वी मुदा प्रावदत् भो न कार्यो विलम्बः ।
उभाभ्यामलं देवि ! ताभ्यां वराभ्यां वृणीष्व त्रयं साम्प्रतं वा तुरीयम् ।।६५।।

मनस्वी महीपति (कैकयी की बात सुनते ही) उच्च स्वर से अट्टहास करने लगे । उन्होंने प्रेमपूर्वक कहा—देवि ! विलम्ब न ही करो ! उन दो वरों की तो बात ही क्या ? अब तुम उनकी एवज में तीन या चार वरों का वरण कर लो ।

वचोबद्धमालोक्य भूपं प्रहृष्टं जगादाशु राज्ञी प्रभो ! कोसलेन्द्र !
अनेनैव राज्याभिषेकोत्सवेन सुतः स्थाप्यताम्मे वरोऽयं स एकः !! ६६।।

प्रसन्न चित्त वाले नरेश को अपनी ही प्रतिज्ञा में बँधा हुआ देखकर साम्राज्ञी कैकयी ने तत्काल कहा—स्वामी ! कोशलेन्द्र ! (रामचन्द्र के लिए प्रस्तावित) राज्याभिषेक के इसी उत्सव से मेरे पुत्र भरत को युवराजपद पर स्थापित करें । यह मेरा प्रथम वर है ।

वसानस्तपोबल्कलं बद्धकेशः उदासीनवृत्तिश्च रामो वनान्ते ।
दशाब्दं तुरीयाधिकं यावदास्तामयोध्यातिदूरं वरोऽयं द्वितीयः ।।६७।।

तपस्योचित बल्कल वस्त्रों को पहने हुए, जटाजूट बाँधे हुए तथा उदासीन वृत्ति वाले राम चौदह वर्षों तक, अयोध्या से अत्यन्त दूर किसी वनखण्ड में निवास करें, यह मेरा दूसरा वर है ।

निशम्यैव वाचोऽपतद्भूमितल्पे विसंज्ञो नृपश्छिन्नमूलद्रुकल्पः ।
चिरस्थायिनीं तामतिक्रम्य मूर्च्छां सनेत्राश्रुपातं स्खलद्वागुवाच ।।६८।।

कैकयी की यह वाणी सुनते ही संज्ञाविहीन भूपति, कटी हुई जड़वाले वृक्ष की तरह भूतल पर गिर पड़े । बड़ी देर तक बनी रहने वाली उस मूर्च्छा को अन्ततः पार करके, अविरल अश्रुधारा गिराते हुए, भर्राये कण्ठ से उन्होंने कहा ।

कृतं किं त्वया कैकयि ! प्राणहन्त्र्या न यच्चिन्तनीयं मया स्वप्नकेऽपि ।
प्रयुक्तं यदि प्रेयसि ! स्फीतनर्मं त्वया मच्चिदर्थं त्यजेस्तर्हि तूर्णम् ।।६९।।

प्राणघातिनि कैकयी ! यह तूने क्या किया ? इस व्यवहार की तो मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी ! प्रेयसि ! यदि तुमने जान-बूझकर यह परिहास किया है तो मुझे चैतन्य बनाने के लिए, शीघ्र ही उसे समाप्त कर दो ।

**सुतस्ते भवेत्स्थापितो यौवराज्ये करिष्ये सुखं राज्यतृष्णा न रामे ।
द्वितीयं परं जीवितं प्राणमूलं न शक्नोमि रामं पृथक्कर्तुमिष्टम् ।।७०।।**

युवराज-पद पर तुम्हारा ही पुत्र अभिषिक्त हो । यह कार्य तो मैं सुखपूर्वक करूँगा । क्योंकि राम के मन में साम्राज्य की तृष्णा नहीं है । परन्तु प्राणों के निष्यन्दभूत तथा अपने दूसरे जीवन के समान प्रिय पुत्र राम को स्वयं से पृथक् करने में मैं समर्थ नहीं हूँ ।

**विजानन्ति देवाः प्रजाः मित्रवर्गा रहस्यं स्फुटन्तेऽपि सुष्ठु प्रियेऽस्ति ।
न रामं विना जीवनाय क्षमेऽहं क्षणञ्चापि का वा कथा हायनानाम् ।।७१।।**

देवगण, प्रजावर्ग और मित्रमण्डल—सब इस तथ्य को जानते हैं । प्रिये ! यह रहस्य तो तुमसे भी छिपा नहीं है कि राम के अभाव में क्षणमात्र भी मैं जी सकने में समर्थ नहीं हूँ । चौदह वर्षों की तो बात ही क्या ?

**यदि स्याद्धवे तेऽणुमात्रं प्रमोहो यदि द्वेषलेशोऽपि पश्चाद्व्यथातः ।
प्रजारञ्जने वापि तृष्णा यदि स्याद् ध्रुवं वार्यतां तर्हि पापाङ्कुशोऽयम् ।।७२।।**

यदि अपने सुहाग (पति) के प्रति तुम्हारा अणुमात्र भी लगाव हो, यदि पश्चात्ताप से तुम्हें तनिक सी भी अरुचि हो अथवा यदि प्रजानुरञ्जन में तुम्हारी प्रवृत्ति हो तो निश्चित रूप से पाप का यह अंकुश दूर रख दो ।

**मृगप्राणपीडां क्व जानाति भिल्ली मृदुस्वादुमांसार्थिनी लोलजिह्वा ।
बभाषे स्फुटं कैकयी कोसलेन्द्रम् अलं देव ! वाचां प्रसारैरपार्थैः ।।७३।।**

अत्यन्त स्वादिष्ट मांस खाने के लिए लालायित, चपल जिह्वा वाली भीलनी, मृग के प्राणों की पीड़ा भला कहाँ जानती है ?कैकयी ने खुलकर कोशलेन्द्र दशरथ से कहा—महाराज ! निरर्थक वचनोद्गारों से क्या लाभ ?

**अभीष्टम्मया प्रस्तुतं त्वत्प्रमाणं विकल्पो न मे नापि चिन्ताऽपरेषाम् ।
ऋतं रक्ष कीर्त्यायकीर्त्यायिदानीं द्रुतं छिन्धि वा नो भवाम्यन्तरायः ।।७४।।**

मुझे जो कुछ अभीष्ट था, आपकी शपथ को प्रमाण मानकर वह मैंने कह दिया । न मेरा अन्य कोई विकल्प है और न ही किन्हीं अन्य कामनाओं की चिन्ता ! अब चाहे आप कीर्ति पाने के लिए ऋत (सत्यवचन) की रक्षा करें और चाहे अपकीर्ति पाने के लिए उसे वेगपूर्वक तोड़ डालें । मैं बीच में बाधक नहीं बनूँगी ।

समासन्नमृत्युव्यथां मन्यमानो नृपः कैकयीं कालरीभूय भूमौ ।
पपाताश्रुसिक्तो व्यथाशून्यदृष्टिः फणीवाङ्गनिर्मोककल्पप्रसक्तः ॥७५॥

कैकेयी को मँडराती हुई अपनी मृत्युव्यथा मानते हुए महाराज दशरथ कातर होकर पृथिवी पर गिर पड़े । वे आँसुओं से सराबोर हो उठे । उनकी दृष्टि वेदना के कारण शून्य हो उठी और अङ्गों की केचुली बदलने में व्यथित,सर्प के समान वह यन्त्रणा से भर उठे ।

प्रगाढं तमस्तीर्णकल्पान्तसन्ध्यं स्फुरज्ज्योतिषां चक्रवालं मिमेथ ।
पराह्णप्रवृत्तिः प्रभातेन सार्धं पुरव्यापिनी चर्चया सारिताऽभूत् ॥७६॥

कल्पान्त-सन्ध्या को भी न्यग्भूत कर देने वाले रात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार को प्रभात-वेला ने (बाल रवि की) देदीप्यमान प्रभा से समाप्त कर दिया । पिछले अपराह्‌्ण में घटी यह घटना अगले प्रभात के साथ, कर्णपरम्परा का आश्रय लेकर सम्पूर्ण नगर में व्याप्त हो गई ।

दवोद्दामदाहप्रदग्धा वनीव प्लवध्वस्तकन्दाङ्कुरा मालभूमिः ।
अयोध्या व्यलोकि क्षणेनैव दीना विपद्वारिमग्ना वमद्भूरिशोका ॥७७॥

दावाग्नि के भीषण दाह से भस्मीभूत अरण्यानी के समान तथा जलप्लावन से विध्वस्त कन्दाङ्कुरों वाली उर्वर कृषिभूमि के समान विपत्तिरूपी जल में डूबी हुई तथा अपार शोक का उद्वमन करने वाली अयोध्या नगरी क्षण भर में ही दीन-हीन दिखायी पड़ने लगी ।

अथान्येद्युरेव प्रजेशं विशीर्णं क्षितौ मूर्च्छितं मृत्युनिद्रार्धसुप्तम् ।
परित्यज्य धात्रीः प्रजापौरसंघान् अयोध्यामपि क्रीडिताभ्यासपूताम् ॥७८॥

इसके अनन्तर, दूसरे ही दिन मृत्युनिद्रा के लिए अर्द्धसुप्त, पृथिवी पर मूर्च्छा-वस्था में विशीर्ण प्रजेश्वर (पिता) महाराज दशरथ को, जन्मदात्री कौशल्या को, प्रजाजनों और नागरिकों को तथा अपनी बाल-क्रीड़ाओं से पवित्रित अयोध्या नगरी को भी छोड़कर, ।

दधद्वल्कलो बद्धकेशश्च रामः प्रियासोदराभ्यां तृतीयो मनस्वी ।
पितुः सत्यरक्षाव्रते दत्तचित्तो वनाय प्रतस्थे रथस्थोऽभिरामः ॥७९॥

वल्कल वस्त्र धारण किये हुए, जटाजूट बाँधे हुए, प्रियतमा सीता तथा सहोदर लक्ष्मण को साथ लिए हुए, पिता की सत्यरक्षा के व्रत में केन्द्रित मनोवृत्ति वाले, धैर्यशाली, सर्वजनप्रिय राम रथारुढ़ होकर वन की ओर चल पड़े ।

विहङ्गाः स्फुरच्छातकुम्भाञ्चितेषु स्फुटं क्रन्दनं सन्दधुः पञ्जरेषु ।
गलन्नेत्रपौरप्रजाऽव्यक्तवाग्भिः रुदन्निर्भरं राजसौधो व्यलोकि ।।८०।।

(वन के लिए प्रस्थित राम को देखकर) देदीप्यमान सुवर्ण से निर्मित पिंजरों में राजमहल के पालतू पक्षी चीख-चीख कर क्रन्दन करने लगे । विगलित अश्रुधारा वाले पौर एवं प्रजाजनों के अव्यक्त उद्गारों के बहाने राजप्रासाद भी मानो निर्विघ्न रूप से विलाप करने लगा ।

विशीर्णाः क्षितौ केचिदत्यन्तवृद्धाः शपन्तो विधिं कैकयीं पापहेतुम् ।
उरस्ताडनैः केचिदुन्मादवन्तो द्रुतम्मूर्च्छिताः केचिदाक्रोशयुक्ताः ।।८१।।

कुछ अतिशय वृद्धजन तो विधाता और इस महापाप की कारणभूता कैकयी को कोसते हुए भूतल पर गिर पड़े । कुछ उन्मादग्रस्त पौरजन वेगपूर्वक छाती पीटते हुए मूर्च्छित हो गये और कुछ अन्य पौरजन चीखने-चिल्लाने लगे ।

विलोक्य प्रयान्तीं वनं पौरवध्वो विदेहात्मजामीषदुत्स्थावगुण्ठाः ।
विकुञ्च्याधरं मौक्तिकस्थूलमश्रुप्लवं सन्दधू राजमार्गाट्टरूढाः ।।८२।।

विदेहनन्दिनी सीता को वन की ओर जाती देखकर अपने अवगुण्ठनों को थोड़ा ऊपर उठाये हुई तथा राजमार्ग के दोनों ओर अटारियों पर खड़ी पौरवधुएँ (मारे व्यथा के) अधरों को आकुञ्चित करके, मोतियों के समान बड़े-बड़े अश्रुविन्दु गिराने लगीं ।

सुमन्त्रेण रुद्धोऽपि कोऽप्यश्ववल्गां दृढं हन्त जग्राह दण्डं रथस्य ।
कुमाराश्च केचित् क्षितौ शेरतेस्म प्रमोहोपविद्धा द्रुतं क्रन्दमानाः ।।८३।।

महामात्य सुमन्त्र के द्वारा रोके जाने पर भी किसी नागरिक ने घोड़े की लगाम दृढ़ता के साथ पकड़ ली और किसी ने रथ के डण्डे को थाम लिया । कुछ नन्हें-मुन्ने बच्चे तो निरन्तर क्रन्दन करते हुए मूर्च्छा से उपविद्ध होकर पृथिवी पर ही सो गये ।

यथा कोकशोकं कुवेलोपतापं जगत्कर्मयोगान्तरायञ्च तन्वन् ।
अनिच्छन्नपि प्रैषतेऽस्तं नियोगाद्विधेः भास्करो रामभद्रस्तथैव ।।८४।।

जैसे चक्रवाक पक्षियों को शोक, कमल पुष्पों को उपताप और संसार के कर्मयोग को अन्तराय (बाधा) प्रदान करने वाला भास्कर विधि के विधान से, न चाहते हुए भी, आँखों से ओझल हो जाता है ठीक उसी प्रकार (सीता एवं लक्ष्मण के साथ) रामभद्र भी अयोध्या से दूर चले गये ।

प्रगाढे तमस्याशु मग्ना पुरी सा श्मसानप्रभा नीरवा प्रेतरुद्धा।
अयोध्यापतिश्चापि निःस्नेहदीपो विलुप्यच्छिखोऽप्राणवर्तिर्बभूव ॥८५॥

घनीभूत अन्धकार में देखते ही देखते डूब जाने वाली वह अयोध्या नगरी प्रेतों से व्याप्त सुनसान श्मसान के समान दीखने लगी और प्राणरूपी बाती वाले अयोध्यापति दशरथ भी उस तैलविहीन दीपक के समान प्रतीत होने लगे जिसकी शिखा डूब रही थी।

अमृतरसने वाणि! श्रोत्रं विधूय मदानने
जननि! निवस क्लेशं मा गा मनागिति याच्यते।
अवनितनुजासौख्याख्याने जहासि न लेखनीं
समधिकतरं साह्यं कृच्छ्रे विधाय विभावय ॥८६॥

अमृतमयी जिह्वा वाली हे माँ शारदे! अब कर्णकुहरों को छोड़कर मेरे मुख में निवास करो। तनिक भी क्लेश का अनुभव मत करो माँ! यही मेरा निवेदन है। तुमने अवनितनुजा देवी सीता के सुखों के वर्णन में मेरी लेखनी का साथ नहीं छोड़ा है। परन्तु अब देवी सीता की विपत्तियों के वर्णन में तुमसे अपेक्षाकृत कुछ अधिक सहायता एवं अनुकम्पा की मुझे आशा है।

स्वयमसि परं काव्यं नानाचरित्रसमन्वितं
स्वयमसि कविर्वेधाः साक्षाद् विलक्षणनिर्मितेः।
रसिकहृदयोत्कण्ठा काव्ये त्वमेव सदाशये
जगति भवतीं हित्वा किञ्चिन्न वेद्मि गतागतम् ॥८७॥

हे माँ! तुम तो स्वयमेव नाना प्रकार के चरित्रों से समन्वित श्रेष्ठ काव्य हो। हे माँ! विलक्षण काव्यरचनारूपी सृष्टि को रचने वाला कविरूपी ब्रह्मा भी स्वयं तुम्हीं हो। कविता में रसिकों के हृदय की उत्कण्ठा भी तुम्हीं हो। पवित्र अन्तःकरण वाली माँ वाणी! इस संसार में तुम्हारे अतिरिक्त कुछ भी अतीत अथवा अनागत मैं नहीं जानता !!

राज्यं चारु विहाय सौम्यमनसा यान्तं वनं वल्लभं
वैदेही वनजीवने सहचरीभूताऽन्वगात्तम्मुदा।
तद्वृत्तं ह्यवतंसयन्नवरुचिस्सर्गो महाकाव्यगः
इत्थं पूर्तिमुपैत्ययं हि दशमःश्रीजानकीजीवने ॥८८॥

सौम्य मनोवृत्ति के साथ, अभीष्ट साम्राज्य-भार को तिलाञ्जलि देकर वन की ओर प्रस्थान करते अपने वल्लभ श्रीराम के पीछे-पीछे उनकी सहचरीभूता वैदेही भी प्रसन्नतापूर्वक चल पड़ी। उस घटनाक्रम को वर्णित करने वाला, अभिनवरुचि-सम्पन्न महाकाव्य का यह दशम सर्ग जानकीजीवन में पूर्णता को प्राप्त हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।८९।।

महाकवि कालिदास की कविता ही जिसका मूल है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव के दिव्यवचन जिसके पत्र हैं, विल्हण की उक्तियाँ जिसका पुष्प हैं और पण्डितराज जगन्नाथ की काव्यगरिमा ही जिसका पवित्र फल है—अपनी ही नियति से उत्पन्न हुआ, अभिराजराजेन्द्ररूपी यह काव्यद्रुम चिरकाल तक जीवित रहे ।

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभश्याख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
वनवासाभिधो दशमः सर्गः ।

एकादशः सर्गः

चन्द्रिका विधुसङ्गतेव दधत्प्रकाशा मेघवारितवैभवा कुमुदाभिनन्द्या ।
मैथिली प्रययौ वनं रघुनाथनाथा सौधसौख्यमपास्य कान्तपदानुरागा ॥१॥

प्रकाश बिखेरने वाली, किन्तु घनघटा से विघ्नित वैभव वाली, कुमुदपुष्पों द्वारा अभिनन्दित चन्द्रमा की नियत-सहचरी चन्द्रिका के समान, प्रियतम के चरणों में अनुरक्त तथा रघुनाथ सरीखे श्रेष्ठ पुरुष की भार्या मैथिली (भी) राजमहल के सुखों को छोड़कर वन की ओर चल पड़ी ।

शर्वरीं समतीत्य ते तमसातटान्ते शृङ्गवेरपुरे प्रतीर्य च जह्नुकन्याम् ।
पूतयामुनगाङ्गसङ्गमनेऽभिषिक्ता भरद्वाजमुपाश्रिताः पदवन्दनार्थं ॥२॥

तमसा नदी के तट पर रात्रि बिताकर तथा शृङ्गवेरपुर में गङ्गा को पार कर, पवित्र गङ्गा और यमुना के सङ्गम में स्नान कर वे सब (राम, लक्ष्मण एवं सीता) चरण-वन्दना के लिए महर्षि भरद्वाज के पास पहुँचे ।

भानुजाञ्च ततोवतीर्य शनैस्सरन्तश्चित्रकूटगिरिप्रदेशमुपाययुस्ते ।
कामदे शिखरे विधाय पलाशगेहं सीतया सह राघवस्समुवास तत्र ॥३॥

तदनन्तर यमुना को पार कर धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए वे लोग चित्रकूट पर्वत के क्षेत्र में जा पहुँचे । वहाँ पर कामद पर्वत-शिखर पर पर्णकुटीर बनाकर राघव प्रिया सीता के साथ रहने लगे ।

तत्र कोलकिरातवृन्दपरीतदेहा पूजिता च वनेचरीभिरकृत्रिमाभिः ।
वन्यमूलफलोपहारचयैर्नितान्तं सेविता ननु मैथिली विभवं प्रपेदे ॥४॥

कोल-किरातों की टोलियों से निरन्तर घिरी, लगाव-बनाव से परे बनेचरियों द्वारा सत्कृत तथा वन में उपलब्ध कन्दमूल एवं फलों के प्रेमोपहारों से भरपूर सेवित मैथिली ने मानों ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया ।

दुष्प्रवेशवनं लतागृहकुञ्जरम्यं पुष्पगन्धभराञ्चितं घनसारशीतम् ।
पक्षिभिर्मृदुकूजितैः पशुभिश्च नद्धं मैथिलीं प्रकृतिप्रियां विपुलं ननन्द ॥५॥

लतागृहों एवं कुञ्जों से रमणीय, पुष्पों के गन्धभार से बोझिल, घनसार के समान शीतल, पक्षियों के मधुर कलरवों एवं चित्र-विचित्र पशुओं से भरे-पुरे चित्रकूट के दुष्प्रवेश (सघन) वन ने, प्रकृति से प्रेम रखने वाली मैथिली को प्रभूत आह्लाद प्रदान किया ।

राघवात्प्रथमं विहाय धराङ्कशय्यां जानकी दयितं प्रबोधितवत्युदारा ।
आननेन्दुमथावलोक्य कुवेलकल्पं राघवस्य परामुदं बिभराम्बभूव ॥६॥

प्रियतम राघव से पूर्व ही अपनी भूमिशय्या का परित्याग करके कोमल स्वभाव वाली सीता अपने स्वामी को जगाती थी । राघव के विकसित कमलपुष्प सरीखे चन्द्रमुख को देखकर वह अपार प्रसन्नता का अनुभव करती थी ।

सा ययौ हिमशीतलां सरितं वनान्ते प्रातरेव पयस्विनीं विशदप्रवाहाम् ।
मोदिता मृगशावकैः पथि लोलनेत्रैर्मल्लिकाक्षसुतेव धीरपदैरुपेता ॥७॥

मार्ग में चञ्चल नेत्रों वाले मृगशावकों की क्रीड़ाओं से आमोदित, बाल हंसिनी के समान धीर-गम्भीर पदन्यासों से युक्त सीता प्रभात वेला में ही हिम के समान शीतल, निर्मल प्रवाह वाली, बनखण्ड में विद्यमान पयस्विनी नदी की ओर (स्नानार्थ) जाया करती थी ।

दुर्मनायितमेक्ष्य भूरिविलम्बहेतोर्हार्दमेदुरमानसं दयितं दयालुम् ।
दृक्कटाक्षसुसाक्षिकैःप्रणयोपचारैःसाध्वसं दधतीव साऽनुनिनाय कान्तम् ॥८॥

कभी-कभी वहाँ प्रभूत विलम्ब हो जाने के कारण, प्रेमपूरित हृदय वाले अपने दयालु प्रियतम राघव को कुछ रूठा हुआ सा देखकर, भयभीत होती हुई सी सीता चञ्चल कटाक्षरूपी साक्ष्य से युक्त अपने प्रणय-व्यवहारों से उन्हें अनुकूल बनाया करती थी ।

उत्पलं, ननु देव ! पश्य मयोपनीतं त्वत्कृते मृदुसौरभं तदिदं गृहाण ।
कर्णमूलमुपेत्य तादृशवादिनी सा स्पर्शजन्यसुखैः प्रियं विनतञ्चकार ॥९॥

स्वामी ! देखिए न ! आपके लिए मैं यह कोमल सुरभि वाला कमल-पुष्प ले आयी हूँ । "इसे ले लीजिये न" इस प्रकारकी मिठासभरी वाणी बोलती हुई मैथिली पुष्प रखने के लिए प्रियतम के कर्णमूल तक पहुँच कर, अपने स्पर्शजन्य सुखों से उन्हें विनम्र बनाया करती थी ।

निर्भरं दयितोपगूढनिबद्धदेहा स्थण्डिलेऽपि सुखं व्रततिनिचये शयाना ।
देवराभिमता किरातवधूभिरिष्टा सा वनं सुखदं गृहाऽभ्यधिकं नु मेने ।।१०।।

लता-वितान से भरे, पृथिवी पर ही निर्मित चबूतरे पर सुखपूर्वक सोनेवाली, प्रियतम के प्रगाढ़ आलिङ्गन से पूर्णतः आश्लिष्ट शरीर वाली, अपने देवर लक्ष्मण की दुलारी और किरात-बधूटियों से सम्मानित सीता ने उस वन को अयोध्या के राजमहलों से भी अधिक सुखदायक मान लिया ।

राघवं मुनयो निभालयितुं य एताः कामदेऽनुदिनं स्फुटप्रगुणोपचारम् ।
सिद्धपाककलाऽमृतातिशयेन तेभ्यःसा समर्च्य ररक्ष राघवगेहिनीत्वम् ।।११।।

कामदगिरि-शिखर पर राघव के दर्शनार्थ—जो ऋषि मुनि दिन-प्रतिदिन आया करते थे, पाककला में निपुण जानकी अपने अमृतातिशायी अतिथि-सत्कार से उन्हें सन्तुष्ट कर, राघव की गृहिणी होने का अपना गौरव निभाया करती थी ।

गूढशास्त्ररहस्यभेदपरे हि कान्ते तापसैस्सह सूपदेशसुधां श्रुतिभ्याम् ।
शृण्वती वनवाससत्फलमालुलोके ज्ञानरश्मिविभासितान्तरवृत्तिका सा।।१२।।

विद्वान् तपस्वियों के साथ जब राघव शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों की व्याख्या करते होते थे तब अपने कर्णकुहरों से उपदेशामृत का पान करती हुई तथा ज्ञान-रश्मियों से प्रकाशित मनोवृत्तियों वाली वह सीता अपने वनवास को सार्थक अनुभव करती थी ।

सा कदाचिदुपेत्य पर्णगृहं सकान्ता घोरकाननमध्यगं प्रथितानसूयाम् ।
सेवया परिचर्यया बहु तर्पयन्ती आशिषं समवाप देवरकान्तमूलाम् ।।१३।।

एक बार वह प्राणवल्लभ राघव के साथ घोर कानन के अन्तराल में विद्य-मान आश्रम में यशस्विनी (महर्षि अत्रि की भार्या) देवी अनसूया के पास पहुँची । अपनी सेवा-शुश्रूषा से उन्हें प्रभूत परितोष देकर सीता ने अपने पति तथा देवर के लिए (ऋषिपत्नी का) आशीष प्राप्त किया ।

स्फाटिके हि शिलातले दयिताङ्कतल्पे सा क्वचिज्जनशून्यनीवृति चिन्तयाना ।
कान्तहस्तकृतैः प्रसाधनसंविधानैर्लालिता मुदमाप संयमिना प्रियेण ।।१४।।

जनशून्य क्षेत्र में विद्यमान स्फटिकशिलातल पर प्रियतम के अङ्कतल्प में पड़ी-पड़ी, कुछ बिसूरती हुई सीता प्रियतम के हाथों पहनाये गये अलङ्करणों द्वारा उपलालित की गई हर्षविभोर हो उठती थी ।

सा क्वचिज्जलचारिणां युगलं रिरंसु प्रेक्ष्य कातरमुद्रया दयितं पठन्ती ।
दुस्त्यजं विपिनावधेशशपथं स्मरन्ती नेत्रवारि मुमोच वारिणि निम्नगायाः ॥१५

कभी-कभी वह रमण करने के लिए उत्सुक जलचारी विहङ्गों के युगल को देखकर कातर मुखमुद्रा से पति के मनोभावों को पढ़ती थी तथा चौदह वर्षों के वनवास की कठोर प्रतिज्ञा (ब्रह्मचर्य-निर्वाह) का स्मरण करती हुई पयस्विनी नदी के जल में अपने आँसू गिराया करती थी ।

स्थण्डिले कङ्कुवन्यपर्णयुते शयाना स्वप्नदृष्टनृशंसवृत्तभयान्विता सा ।
क्रन्दनं दधती चकार पतिं प्रगाढाश्लेषबद्धमपि क्वचिद्गलदश्रुनेत्रम् ॥१६॥

खुरदुरे जङ्गली पत्तों से युक्त भूमिवेदिका पर शयन करती हुई सीता कभी-कभी स्वप्न में देखी गयी किसी नृशंस घटना के भय से आक्रान्त होकर चीखती-चिल्लाती हुई, प्रगाढ़ आलिङ्गन में आबद्ध होने पर भी, अपने प्रियतम राघव को अविरल अश्रुधारा से युक्त बना देती थी ।

उर्मिलाश्रुतकीर्तिमाण्डविकाभिरस्याः स्वप्नकौतुकवर्धितां सरसां मनोज्ञाम् ।
शर्वरीषु निशम्य सौधविविक्तवार्तां चिन्तयन् विपदं प्रियां दयतेस्म रामः ॥१७

जब कभी रात्रि-वेला में देखे गये स्वप्न-सन्दर्भ में राघव प्रियतमा सीता को (अपनी बहनों) उर्मिला, श्रुतकीर्ति तथा माण्डवी के साथ राजमहल के एकान्त में सरस और मनोज्ञ वार्तालाप करती हुई सुनते थे तब प्राणवल्लभा की विपत्ति का अनुमान करके उनका हृदय पसीज उठता था ।

मैथिलि!त्वमतो मया विनिवारिताऽसीः स्वप्नवृत्तपुरस्सरं दयिते तदित्थम् ।
मंत्रयत्यपलापयन्त्यखिलं तमूचे भाषसे किमहो मृषा कितवोऽसि जातः ॥१८॥

(सीता के जगने पर राम उसे समझाते थे—) "मैथिलि ! इन्हीं सब कारणों से मैंने तुम्हें वन प्रस्थान करने से रोका था ।" इस प्रकार प्रियतम प्राणवल्लभ राघव द्वारा स्वप्न-घटना का व्याख्यान किये जाने पर सीता सब कुछ झुठलाती हुई राघव से कहती थी—आश्चर्य है ! आप कितना झूठ बोलते हैं ? सचमुच आप वञ्चना-परायण बन गये हैं !

मानसं मम कान्त ! पादसरोजमाध्वीभृङ्गभूतमिदं क्वचिन्न गतं क्षणाय ।
वेद्मि तत्कथमेष्यति प्रविहाय रात्रौ मामिह प्रियरक्षितां क्वचिदन्यवासम् ॥

प्राणवल्लभ ! आप के चरणकमलों की मदिरा का पान करने वाला भ्रमर सरीखा मेरा यह मन तो एक क्षण के लिए भी कहीं और नहीं गया । यह मैं स्वयं जानती हूँ । तब फिर रात्रिवेला में इस पर्णकुटीर में, अपने प्रियतम की बाहों में आरक्षित मुझे छोड़कर वह किसी अन्य ठौर पर कैसे गया होगा ?

राघवः शिशुसन्निभां छलछद्मवाचं सस्मितां ननु सत्यगोपनयत्नसिद्धाम् ।
श्रोत्रयुग्मरसायनप्रवणां हि शृण्वन् मौनमेव दधे विदेहसुतामनोज्ञः ॥२०॥

विदेहनन्दिनी की मनोवृत्ति को परखने वाले राघव सचाई को छिपाने के प्रयत्नों में प्रयुक्त की गई, कुटिल मुस्कान से भरी-पुरी, कर्णकुहरों के लिए रसायनभूत निर्दोष शिशुओं के समान सीता की छल-छन्द भरी बातों को सुनकर एकदम चुप ही रह जाया करते थे ।

तां विलोक्य वनेचरीनिवहः कदाचित् पुष्पकुड्मलसन्निभां कमनीयदेहाम् ।
साश्रुपातमुवाच धिग्विधिमाधिमूलं भूर्यसाम्प्रतकारिणं ननु विप्रतीपम् ॥२१॥

पुष्पकलिका के समान कोमल काया वाली देवी सीता को देखकर कभी वन-वासिनी महिलाओं ने अश्रुपात करते हुए कहा—हाय ! मनोव्यथा सिरजने वाले, अतिशय अनुचित करने वाले तथा अघटित घटनाओं के संयोजन में पटु विधाता को धिक्कार है !!

शैवलं हि यतोत्ति हा शिशुराजहंसी मानसं प्रविहाय मौक्तिकसत्प्ररोहम् ।
स्वामिनि!प्रसभं विदीर्यत एव दृष्ट्वा त्वामिहोत्क्रमणे वने हृदयं समेषाम् ॥

क्योंकि मोतियों के कमनीय प्ररोह से श्रीमण्डित मानसरोवर को छोड़कर नवयौवना राजहंसी आज सेवार खाकर जी रही है । स्वामिनि ! इस संकटापन्न वन में आप को देखकर हम सब का हृदय वेगपूर्वक फटा जा रहा है ।

कन्दरैकगृहा वयं फलमूलभक्ष्या नागरं विभवं श्रुतं किल नान्वभूम ।
वन्यसङ्कटकण्टकैर्नितरां भवामो मूर्च्छितास्तदपीह हन्त!वृथा कथाते ॥२३॥

हम लोगों ने तो नगरों का ऐश्वर्य केवल सुना भर है । कभी उसका अनुभव नहीं किया । पर्वतकन्दरायें ही हमारा घर है, कन्दमूल फल ही हमारा भोजन है । चिर अभ्यस्त होने पर भी वन्यजीवन के संकटों और शूलों से हम लोग स्वयं मूर्च्छित होते रहते हैं । तब फिर आपकी विपत्ति का क्या कहना ? ।

देवि मैथिलि ! गाहसे गिरिनिम्नगायां स्थण्डिले स्वपिषि प्रयासि पदातिरेव ।
वल्कलं कुरुषेऽङ्गवारणमत्सि कन्दं नो तथापि विषादमेषि तदेव चित्रम् ॥२४

महारानी जी ! आप पर्वतीय सरिता में नहाती हैं, चबूतरों पर सोती हैं, पाँवपयादे चलती हैं, बल्कल वस्त्रों से अपने अङ्ग ढँकती हैं और कन्दमूल फल ही खाती हैं । फिर भी आप को कोई व्यथा नहीं है । यही तो महान आश्चर्य है !!

कैकयीं धिगहो यया कृतमेतदेनो धिग्विधिं धिगदः पुरं धिगमूंश्च पौरान् ।
हन्त! कोऽपि बभूव नो विपदां निरोद्धा द्वेषपापभुवां प्रजासु मृता न्वयोध्या !!२५

हाय ! धिक्कार है उस रानी कैकयी को जिसने यह महापाप किया । धिक्कार है विधाता को, धिक्कार है उस अयोध्यापुरी को और धिक्कार है वहाँ रहने वाले पौरजनो को !! आह ! द्वेष और पाप से उत्पन्न होने वाली इन विपत्तियों को रोकने वाला प्रजावर्ग में कोई व्यक्ति नहीं था ? क्या सारी अयोध्या नगरी निष्प्राण हो उठी थी ?

एवमादिभिरात्मचिन्तितहृद्यवाक्यैरार्जवातिशयान्वितैरनुरागगर्भैः ।
सान्त्वनां ददतिस्म कोलकिरातभार्याः श्रद्धया परयाऽभिभूतहृदो रुदत्यः ।।२६

कोल-किरातों की पत्नियाँ, जिनका हृदय (सीता के प्रति) अतिशय श्रद्धा से अभिभूत था, अश्रुपात करती हुई इसी प्रकार के आत्मचिन्तित, स्नेह-प्रेम में पगे हुए तथा निष्कपट ऋजुता से भरे मनोहर वाक्यों द्वारा देवी सीता को सान्त्वना दिया करती थीं !

मा कृथा अयि साध्वि! कोपमथ प्ररोषं सत्कृतैर्हि विधेर्वयं ननु भाग्यवत्यः ।
अन्यथा शरदिन्दुकान्तिमयी मुखश्रीःस्यात्कथं सुलभेति काचिदुवाच तन्वी ।।२७

सभी एक दूसरी बनेचर महिला ने कहा—अरी भाग्यवान ! क्रोध अथवा अतिशय रोष की बात मत कर ? सच तो यह है कि विधाता की महती कृपा से हमको यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है और नहीं तो शरच्चन्द्र की प्रभा में लसी-पगी— यह मुखच्छवि भला हमें देखने को कैसे मिलती !

चित्रकूटवनं प्रमोदवनं नु जातं जाह्नवी च पयस्विनी नृपसद्म दर्भः ।
कामदं शिखरं सुमेरुनिभं विभाति सर्वमेव शुभागमैकफलं भवत्याः ।।२८।।

आज जो चित्रकूटका बन प्रमोदवन बन गया है, पयस्विनी नदी गङ्गा बन गयी है, कुश-काँटे राजमहल बन गये हैं और यह कामद-पर्वत-शिखर सुमेरु के समान उद्दीप्त हो उठा है, यह सब एकमात्र देवी सीता के शुभागमन का ही फल है !

स्मेरगर्भमधीत्य हृद्यवचःप्रकर्षं कोलभिल्लपुलिन्दयूथपसुन्दरीणाम् ।
नागरैस्सह मैथिली ननु तोलयन्ती तास्तुतोष परं वचोऽमृतमर्पयन्ती ।।२९।।

कोल-भीलों और पुलिन्द यूथपतियों की सुन्दरियों के मुस्कान से भरे, मनोहर बचनोद्‌गारों के मर्म को समझकर, नगरवासियों के साथ उनकी तुलना करती हुई मैथिली ने उन्हें अपनी वाणी का अमृत अर्पित करते हुए (इस प्रकार) परितुष्ट किया !

अम्ब! माऽतितरां गमस्त्वमखर्वखेदं वैभवं दयिताङ्घ्रिपद्मयुगेऽस्ति पत्न्याः ।
राघवे सति कानने विजनं न चैतत् आत्मनैव शपामि सौधसुखातिशायि ।।३०

मैया ! तुम बहुत अधिक खेद का अनुभव मत करो, क्योंकि पत्नी का सारा ऐश्वर्य तो अपने पति के चरणकमल-युगल में निहित होता है ! राघव के स्वयं वन में रहते हुए यह स्थान जनशून्य वन है हो कहाँ? प्राणों की शपथ लेकर मैं तुम्हे विश्वास कराती हूँ कि यह बनवास राजमहलों के सुखों को भी तुच्छ बना देने वाला है !

वैभवं नगरस्य नैव यथा वनान्ते सर्वथा वनवैभवं न तथैव सौधे ।
मन्दिरे सुखिनी यथाऽऽसमहं रघूणां वल्लभेन सहाहमूनसुखा वने नो ।।३१।।

जैसे नगर का वैभव वनखण्ड में उपलब्ध नहीं है, सर्वथा उसी प्रकार वन का ऐश्वर्य राजमहल में भी नहीं उपलब्ध है ! मैं तो रघुवंशियों के राजप्रासाद में जितना सुखी थी, अपने प्राणवल्लभ राघव के साथ इस वन में उससे कम सुखी नहीं हूँ !

मत्कृते विजनादपि ग्रहिलाऽभविष्यद्राघवेण विना समेधितराजधानी ।
काननं ह्यमरावतीसुभगं तथैव प्राणवल्लभसाहचर्यमुपेत्य जातम् ।।३२।।

राघव के अभाव में समृद्ध राजधानी अयोध्या भी मेरे लिए गहन कान्तार से भी अधिक ग्रहयुक्त सिद्ध होती, परन्तु अब प्राणवल्लभ राघव का साहचर्य प्राप्त कर के यह वन भी मेरे लिए अमरावती के समान सुखद बन गया है !

हंसकोकिलकीरचातकगीतिकाभिर्नेत्रसौख्यकरैर्मयूरकपोतनृत्यैः ।
अद्रिशृङ्गपतज्जलाहततंत्रवाद्यैः किन्न मे सुलभं वनेऽपि सुखं त्रयाणाम् ।।३३।।

हंस, कोकिल, शुक, और चातकों की गीतिकाओं से, नेत्रसुख प्रदान करने वाले मयूरों एवं कपोतों के नृत्यों से तथा पर्वतशिखर से गिरतो जलधारा के अनुरणन से—इस बन में भी नृत्य,गीत एवं वाद्य इन तीनों का समवेत सुख क्या मुझे सुलभ नहीं है ?

शीतलोऽत्र पयस्विनीसलिलाभिषिक्तो वाति गन्धवहः फलन्ति मृदूनि वृक्षाः।
सर्वभोगमयो निरत्ययकामदोऽयं राजते हि ममाश्रमे विबुधोपभोगः ।।३४।।

इस चित्रकूट वन में पयस्विनी के जल-सीकरों से अभिषिक्त पवन (निरन्तर) बहता है ! वृक्ष मीठे फल प्रस्तुत करते हैं ! विघ्न बाधा से रहित यह कामद-पर्वत शिखर भी समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न है । मेरे आश्रम में तो देवलोक जैसा उपभोग विराजमान है !

मैथिलीवचनं निपीय कृतप्रणामाःसद्गुणान् विजनेशयाः पथि शंसमानाः ।
जन्मनश्च कृतार्थतां मनसा स्मरन्त्यः आत्मनो वसतिं ययुः पुनरागमेच्छाः ॥

गहन बन में रहने वाली कोल-किरात महिलायें देवी सीता के इन (उदात्त) वचनों को सुनकर, उन्हें प्रणाम अर्पित कर, मार्ग में उनके सद्गुणों की प्रशंसा करती हुई, मन ही मन अपने जन्म को सार्थकता का स्मरण करती हुई, पुनः आने की इच्छा सँजोए अपने-अपने घरों की ओर चल पड़ीं !

आगतो भरतस्ततो विनतोऽश्रुसिक्तः सङ्गतः गुरुपौरजानपदैश्च सर्वैः ।
प्रार्थयां स चकार वंशपरम्परायाः रक्षणाय निवेद्य तातमहाप्रयाणम् ॥३६॥

इसके अनन्तर (एक दिन) समस्त गुरुजनों, नागरिकों तथा प्रजाजनों को साथ लिए हुए, आँसुओं में भीगे विनम्र कुमार भरत (राघव को मनाने के लिए) वहाँ आये ! उन्होंने तातचरण महाराज दशरथ के महाप्रयाण का समाचार निवेदित करते हुए, वंश-परम्परा की रक्षा के लिए राघव से प्रार्थना की !

धैर्यबुद्धिमनोहृदन्तकरं नु वृत्तं राघवस्तदधीत्य पूतचरित्रभूपम् ।
संस्मरन् सुतकातरं विललाप दीनः प्राददाच्च जलाञ्जलिं ससहोदरोऽसौ ॥

धैर्य, बुद्धि, मन और हृदय को विध्वस्त कर देने वाले उस दुःखद समाचार को सुनकर तथा पुत्र-प्रेम में कातर पवित्र-चरित्र वाले कोशलेन्द्र दशरथ का स्मरण करते हुए राघव असहाय होकर विलाप करने लगे ! तदनन्तर भाई लक्ष्मण के साथ उन्होंने दिवंगत पिताश्री को जलाञ्जलि अर्पित की !

साग्रहं सदयं प्रबोध्य पितुर्महिम्ना तद्वचःपरिरक्षणेन कुलव्रतेन ।
पादुके च समीहिते भरताय दत्वा राघवो विससर्ज तं नगराय सद्यः ॥३८॥

पिताश्री की महिमा (सत्यनिष्ठा) द्वारा, उनके वचन की परिरक्षा द्वारा ओर रघुकुल की परम्परा द्वारा अनुज भरत को आग्रह-पूर्वक, बड़ी कोमलता से समझा-बुझाकर और (अन्ततः) उनके द्वारा माँगी गयी चरणपादुकाओं को उन्हें सौंपकर श्रीराम ने कुमार भरत को तत्काल अयोध्यापुरी लौटने के लिए विदा किया ।

नित्यशोऽथ विलोक्य बन्धुजनप्रवाहं बन्धनञ्च दृढीभवज्जनितान्तरायम् ।
राक्षसैः रहितां धरामपि कर्तुकामश्चित्रकूटमुपेक्ष्य राम इयाय याम्याम् ॥३९

इसके अनन्तर, नित्यप्रति बन्धुओं का प्रवाह उमड़ता देखकर (लक्ष्य की पूर्ति में) विघ्नबाधा उत्पन्न करने वाले तथा उत्तरोत्तर दृढ़ता प्राप्त करने वाले मोह-बन्धन का अनुभव करके, धरामण्डल को भी राक्षसों से रहित बना देने के लिए तत्पर राम चित्रकूट को छोड़कर दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े ।

दण्डकाभिधया वनं विदितं समेषां राक्षसैः पुरुविक्रमैर्निचितं पृथिव्याम् ।
दूषणस्त्रिशिराः खरश्च समेत्य यत्र शासनं विदधुर्दशाननभृत्यभूताः ।।४०।।

उस दिशा में महान । पराक्रम वाले राक्षसों से ओतप्रोत दण्डक नाम से सब को विज्ञात एक महाबन था ! जहाँ पर कि लंकापति रावण के सेवकभूत खर-दूषण और त्रिशिरा-सब मिलकर शासन करते थे ।

दारुणा भगिनी च शूर्पणखाऽप्यमीषामार्यधर्मनवाङ्कुरप्रलयाग्निकल्पा ।
कामरूपधरा भ्रमन्त्यनिशं वनान्ते साध्वसं विदधे मनस्सु तपोधनानाम् ।।४१।।

आर्यधर्म-रूपी नवाङ्कुरों के लिए प्रलयाग्नि के समान दाहक, उन तीनों राक्षस-बन्धुओं की एक नृशंस बहन थी—शूर्पणखा ! मनचाहा रूप धारण करने वाली वह राक्षसी दण्डक वन में अहोरात्र संचरण करती हुई तपस्वियों के हृदयों में भय उत्पन्न किया करती थी ।

रम्यनिर्झरिणीप्रपातनिपानवापीवृक्षगुल्मलताद्रिरन्ध्रविमण्डिताऽपि ।
सा वनी तपसामभून्न विशल्यमोको रक्षसां नरभक्षिणामतिचारकम्पात् ।।४२।।

रमणीय सरिताओं, प्रपातों, सरोवरों, बावलियों, वृक्षों, कुञ्जों, लताओं तथा पर्वतकन्दराओं से श्रीमण्डित होती हुई भी वह बनराजि उन नरभक्षी राक्षसों के अत्याचार एवं उत्पात के कारण तपश्चर्या के लिए निर्विघ्न स्थान नहीं रह गयी थी ।

नापरे मुनयो विहाय विभुं सुतीक्ष्णं दण्डके शरभङ्गमप्यवसन् भयार्ताः ।
श्रूयते स्म समन्ततो विपिनान्तराले घस्मरो दनुजाऽरवः ऋतधूमकेतुः ।।४३।।

प्रभावशाली महर्षि सुतीक्ष्ण एवं शरभंग के अतिरिक्त उस दण्डक बन में, भयभीत होने के कारण और कोई मुनिगण निवास नहीं करते थे ! उस वन के अन्तराल में ऋत और सत्य के लिए धूमकेतु सरीखा राक्षसों का भयोद्वेजक क्रन्दन चौतरफा सुनाई पड़ता था ।

निश्चिकाय रघूत्तमः प्रसमीक्ष्य सर्वं मानसे यदिदं वनं द्रुतमुद्धरिष्ये ।
दण्डकं समभीष्टराक्षसनाशसत्रदीक्षितस्य भवेत्स्थलं मम राघवस्य ।।४४।।

दण्डक वन की वह सारी स्थिति देखकर रघूत्तम श्रीराम ने मन ही मन निश्चय किया कि इस तपोबन का मैं शीघ्र ही उद्धार करूँगा ! अब मनोवांछित राक्षस-विनाशरूपी महायज्ञ की दीक्षा लेने वाले मुझ राघव के लिए यह दण्डक वन ही यज्ञस्थल बने !!

लक्ष्मणं स दिदेश पर्णगृहोद्यमाय कानने रुचिरे शिलोच्चयमूर्च्छनाभिः ।
वल्लकीमिव वादयन्त्यमलप्रवाहा यत्र हंसतटी तटिन्यवहन्नु गोदा ।।४५।।

(मन में ऐसा संकल्प करके) श्रीराम ने उस मनोहर वन में एक पर्णकुटी का निर्माण करने के लिए लक्ष्मण को आदेश दिया, जहाँ पर कि शिलाखण्डों की मूर्छनाओं (घात-प्रतिघात) से वीणा सी वजाती हुई, निर्मल जल-प्रवाह वाली तथा हंस-पंक्तियों से भरी-पुरी गोदावरी नदी वहती थी ।

तत्र वै प्रियया ऽनुजेन सहाभिरामो राघवस्ससुखं व्रतं द्रढयन्नुवास ।
रम्यपञ्चवटी छविश्रयिणीनिकामं मैथिलीमपि रञ्जयां द्रुतमास कामम् ।।४६।।

उस दण्डकवन में प्रिया सीता और भाई लक्ष्मण के साथ अपने वनवास-व्रत का प्रसन्नतापूर्वक निर्वाह करते हुए यशस्वी राघव रहने लगे । अखण्ड सौन्दर्य से ओत-प्रोत उस पंचवटी ने देवी सीता का भी भरपूर मनोरञ्जन किया ।

तत्र शूर्पणखा कदाचिदुपेयुषी सा वीक्ष्य दिव्यतनुं मनोजसहस्रजैत्रम् ।
राघवं रतिपीडिता प्रजहद्विवेका क्लृप्तशोभनविग्रहा सदयं ह्यवादीत् ।।४७।।

एक बार उसी पंचवटी में संचरण करती शूर्पणखा ने दिव्य शरीर वाले तथा (रूप-लावण्य से) हजारों कामदेवों को भी जीत लेने वाले राघव को देखा ! विवेकशून्य हुई रति-पीड़िता शूर्पणखा ने मनोहर स्वरूप धारण कर, बड़ी कोमलता से निवेदन किया ।

सौम्य सुन्दर! कोऽसि किं कुरुषे वनेऽस्मिन् त्वादृशं पुरुषं न पूर्वमितोन्वपश्यम् ।
मामकं हृदयं प्रलीनमहो त्वयीदं कामये रतिवल्लभं स्मरनिर्जिताऽहम् ।।४८।।

हे सौम्य ! हे सुन्दर ! आप कौन हैं ? इस वन में क्या कर रहे हैं ? इससे पूर्व आप सरीखा (सुदर्शन) पुरुष मैंने नहीं देखा ! आह ! मेरा यह हृदय आप ही के रंग में रंग गया है ! कामभावना से पीड़ित मैं आपको अपना रतिवल्लभ बनाना चाहती हूँ ।

याचनामयि कान्त! पूरय मे रतिज्ञः कामिनीहृदयार्तिनाशपरो भव त्वम् ।
पादपद्मसपर्यया सुखमर्पयन्ती त्वत्कृते भविताऽन्विता सततं समृद्ध्या ।।४९।।

हे रतिकोविद ! प्रियतम ! मेरी इस आकांक्षा को पूर्ण करिए ! आप कामिनी के हृदय की वेदना का शमन करने वाला वनिये ! आप के चरणकमलों की सेवा द्वारा आपको सुख अर्पित करती हुई मैं आपके लिए निरन्तर समृद्धिदायिनी बनूँगी ।

निस्त्रपं वचनं निशम्य हि यातुधान्या आर्जवेऽपि नृशंसतां स्फुटमीक्षमाणः ।
वैरमूलमपि स्वयं निभृतं विचिन्वन् दर्शयन् दयितामुवाच सकैतवं ताम् ।।५०।।

उस राक्षसी के निर्लज्ज बचनों को सुनकर, उसके अनुनय में भी स्पष्टतः नृशंसता का भाव देखते हुए तथा मन ही मन स्वयं (राक्षसों के साथ) वैर का कारण खोजते हुए राघव ने अपनी भार्या सीता की ओर संकेत करते हुए थोड़ी कुटिलता के साथ कहा ।

राघवोऽस्मि शुभे! पुरी मम काऽप्ययोध्या विश्रुताऽस्ति नवाततोऽस्मि वनं प्रपन्नः ।
आज्ञया पितुरेष दण्डमटामि भार्यासोदरानुगतश्चतुर्दशहायनान्तम् ।।५१।।

हे शुभे ! मेरा नाम राघव है ! मेरी पुरी का नाम है अयोध्या ! पता नहीं तुमने यह नाम सुना है कि नहीं ? मैं वहीं से इस वन तक आया हूँ और अपने पिता की आज्ञा मानकर पत्नी और सहोदर के साथ चौदह वर्षों तक इस दण्डकवन में निवास करूँगा ।

पश्य मे दयितां न तां विनतां विहाय स्वीकरोमि परामयं खलु मेऽस्ति धर्मः ।
गच्छ सुन्दरि! सोदरं वनिताविहीनं त्वामसौ रमयेत्पुरन्ध्रिमनोमनोज्ञः ।।५२।।

मेरी पत्नी की ओर देखो, उस साध्वी का परित्याग करके मैं किसी और को नहीं स्वीकार कर सकता, यही मेरा धर्म है । परन्तु मेरा सहोदर (लक्ष्मण) पत्नी-विहीन है । सुन्दरि ! उसके पास जाओ, रमणियों के मन को भाने वाला वह युवक तुम्हारा चित्तानुरञ्जन करेगा ।

लक्ष्मणं समुपेत्य शूर्पणखा ययाचे कामविह्वलमानसा नमितैर्वचोभिः ।
राघवेङ्गितमर्मगो ननु सोऽपि तस्याः स्वीचकार न कामनां दुरितैकमूलाम् ।।५३।।

(राघव की बात सुनकर) कामभावना से विह्वल मनोवृत्ति वाली शूर्पणखा लक्ष्मण के पास पहुँची और विनम्र वचनों द्वारा उनसे भी रति-याचना की ! परन्तु राघव के संकेतों का रहस्य समझने वाले लक्ष्मण ने भी उसकी पापमूलक कामना को स्वीकार नहीं किया !

क्षोभिता नु गतागतैरुभयोस्समीपं सा विदेहसुतां मनोरथविघ्नसूत्रम् ।
हिंसितुं विकरालवेषधराऽभ्यधावत् कृत्रिमां रमणीतनुं परिवर्त्य तूर्णम् ।।५४।।

इस प्रकार दोनों भइयों के समीप (बार-बार) आने-जाने से क्षुब्ध हुई शूर्पणखा अपने मनोरथ की पूर्ति में विघ्न-हेतु बनने वाली विदेहनन्दिनी सीता को ही मार डालने के लिए, कृत्रिम रमणी-शरीर को वेगपूर्वक राक्षसी-शरीर में परिवर्तित कर तथा विकराल वेश धारण कर (सीता की ओर) दौड़ी !

वीक्ष्य भैरवविक्रियां किल यातुधान्या लक्ष्मणस्त्वरितं चकर्त सकर्णनासाम् ।
सा खलीकृतविक्रमा रुधिरं वमन्ती क्रन्दनं दधती खरान्तिकमाजगाम ।।५५।।

तब उस यातुधानी की भीषण प्रतिक्रिया को देखकर कुमार लक्ष्मण ने देखते ही देखते कर्ण-कुहरों सहित उसकी नासिका को काट डाला ! पराक्रम व्यर्थ सिद्ध हो जाने पर रुधिर का वमन करती हुई, चीखती-चिल्लाती शूर्पणखा (अपने भाई) खर के समीप जा पहुँची !

वीक्ष्य शूर्पणखार्गातं प्ररुषाऽग्निदीप्तः स्वाभिमानपरः खरोऽभियौ प्रहर्तुम् ।
दूषणत्रिशिरः पुरस्सरमेत्य तूर्णं सोऽरुणद् विपिनं सहस्रशतप्रवीरैः ।।५६।।

शूर्पणखा की दुर्गति को देखकर प्ररोप की आग में जलता हुआ, स्वाभिमानी खर राघव का विनाश करने हेतु चल पड़ा ! अपने भाइयों—दूषण और त्रिशिरा को आगे करके, लाखों राक्षस योद्धाओं के द्वारा उसने दण्डक वन को वेगपूर्वक घेर लिया !

राघवोऽपि नियोज्य वेपितवल्लभाया रक्षणे प्रियलक्ष्मणं समुपात्तधन्वा ।
आययौ द्रुतमेकलः क्षणदाचराणां ध्वंसनाय रणाङ्गणं ननु पञ्चवट्याम् ।।५७।।

भयकम्पित वल्लभा सीता की रक्षा के लिए प्रिय सहोदर लक्ष्मण को नियुक्त करके, हाथ में धनुष लिए हुए राघव, अकेले ही निशाचरों का विध्वंस करने के लिए पंचवटी में विद्यमान समराङ्गण में द्रुत-गति से आगे बढ़े !

मण्डलीकृतकार्मुकरस विमुच्य मौर्वीं चण्डरावमजीजनत् भुवनप्रकम्पम् ।
राक्षसा बधिरायिताः किल येन कल्पध्वंसकालपयोदर्गाजितसन्निभेन ।।५८।।

धनुष को मण्डलाकार खींचकर तथा प्रत्यञ्चा को छोड़कर श्रीराम ने चौदहों भुवनों को प्रकम्पित कर देने वाली, भीषण टंकार उत्पन्न की, कल्पान्त-वेला में उमड़े कालमेघों की गर्जना के समान, जिस टंकार से सारे के सारे राक्षस बहरे हो उठे ।

कुम्भजाय पुरन्दरोपनतेन पूर्वं कुम्भजेन च रक्षसां शमनाय पश्चात् ।
साग्रहं निजहेतवे सुखमर्पितेन वैष्णवेन शरासनेन समन्वितोऽसौ ।।५९।।

प्राचीनकाल में जिसे देवराज इन्द्र ने महर्षि अगस्त्य को दिया था और बाद में महर्षि अगस्त्य ने राक्षसों का संहार करने के लिए, आग्रहपूर्वक जिसे सहर्ष राघव को दे दिया था, उसी वैष्णव धनुष से समन्वित होकर, ।

निर्भयं प्रविवेश राक्षससैन्यगर्भे केसरीव करालदंष्ट्र इभेन्द्रयूथे ।
तीक्ष्णसायकवर्षणैः ककुभो विरुन्धन् राक्षसान् स ददाह तूलनिभान् क्षणेन ।।६४

श्रीराम ने निर्भय होकर, राक्षसों की सेना के भीतर उसी प्रकार प्रवेश किया जैसे भयानक दाढ़ों वाला सिंह गजराजों के यूथ में प्रवेश करता है। तीखे बाणों की वर्षा से दिशाओं को आच्छादित करते हुए राम ने रूई के समान राक्षसों को क्षण भर में ही दग्ध कर डाला ।

मस्तकं कपिशप्रभं स चकर्त तूर्णम् अर्धभिन्नपलाशवृन्तनिभं खरस्य ।
दूषणञ्च जघान सैन्यपतिं त्रिशीर्षं लीलयेव मदान्धसिन्धुर उत्पलानि ।।६१

उन्होंने अर्ध-विकसित पलाश-पुष्पवृन्त के समान खर के कपिशवर्ण मस्तक को काट डाला और सेनापति दूषण और त्रिशिरा को खेल ही खेल में उसी प्रकार मार डाला जैसे मदमत्त गजराज कमलवन को छिन्न-भिन्न कर देता है ।

वीक्ष्य शूर्पणखा रघूद्वहचण्डशौर्यम् आत्मनश्च विरूपतां करुणं स्मरन्ती ।
द्वेषदैन्यपरीतखिन्नमना दशास्यं वर्त्मना नु विहायसोपजगाम तूर्णम् ।।६२

रघुवंशभूषण राम के प्रचण्ड शौर्य को देखकर तथा करुणा-पूर्वक अपनी विरूपता का स्मरण करती हुई, द्वेष तथा दैन्य से उद्भ्रान्त चित्तवृत्ति वाली शूर्पणखा अब आकाश-मार्ग से वेगपूर्वक रावण के पास पहुँची ।

तद्वचांसि मृषाप्रपञ्चसमन्वितानि क्रोधरोषकृशानुवृद्धिकराण्यवेत्य ।
आत्मशौर्यकदर्थनाऽनुभवासहिष्णुः रावणः स्वमदोष्मणैव ददाह विद्धः ।।६३

झूठे प्रपञ्चों से समन्वित तथा क्रोध एवं रोषरूपी अग्नि को उद्दीप्त करनेवाले शूर्पणखा के वचनों को सुनकर, अपने पराक्रम की निन्दा का अनुभव करने में असमर्थ, शोकविद्ध रावण अपने मद (दुरभिमान) की ऊष्मा से जल उठा ।

तिष्ठ शूर्पणखे ! शुभे ! मयि वर्तमाने नाक्षतो भविता शठो हि तवावमन्ता ।
दिक्पतीन् विबुधानपि क्रमितुं क्षमोऽहं त्वद्रिपूनथ का कथा खलु तापसानाम् ।।

(रावण बोला—) धैर्य धारण कर शूर्पणखे ! हे शुभे ! तेरा अपमान करने वाला कोई भी शठ व्यक्ति मेरे जीवित रहते अक्षत नहीं रह सकता । तुझसे शत्रुता करने वाले दिक्पालों और देवताओं को भी आक्रान्त करने में मैं समर्थ हूँ, तपस्वियों की तो बात ही क्या ?

साम्प्रतं मम पश्य कूटनयाभियानं शत्रुसंहरणाभ्युपायमपि प्रगूढम् ।
इत्थमुं परितोष्य सोऽभ्रपथैः प्रतस्थे पापनिष्कृतिदारुणः प्रविलुप्तधर्मः ॥६५

अब तू मेरी कूटनीति का अभियान देख ! अत्यन्त रहस्यमय मेरे शत्रु-संहार के उपायों को भी देख ! इस प्रकार शूर्पणखा को परितुष्ट करके पापकर्म-दारुण तथा अधर्मपरायण वह रावण आकाश-मार्ग से चल पड़ा ।

हृद्यरूपकथा विदेहनृपाङ्गजाया कर्णगोचरिता हि शूर्पणखावचोभिः ।
तं हृषीकजसौख्यलोलुपमस्तधैर्यं वाडवाग्निरिवोन्ममाथ पयोधिगर्भम् ॥६६

शूर्पणखा के वचनों से कर्णकुहरों तक पहुँचाई गई वैदेही के अनिन्द्य रूप-लावण्य की कथा, इन्द्रियसुखलोभी तथा संयमविहीन रावण को उसी प्रकार मथ रही थी जैसे समुद्र के गर्भ में विद्यमान वाडवाग्नि (जल को मथ देती है)

ताटकातनुजं ससाद स मातुलं स्वं सिन्धुनीरपरीतभूमितले वसन्तम् ।
जानकीहरणोद्यमस्य निशाम्य तस्मै योजनां स सहायतां त्वरितं ययाचे ॥६७

रावण, सागर-जल से आवेष्टित भूभाग (द्वीप) में निवास करते हुए अपने मामा, ताटकापुत्र मारीच के पास पहुँचा और जानकीहरण के कार्यक्रम की योजना को सुनाकर उसने शीघ्र ही उससे सहायता माँगी ।

वीक्ष्य दारुणमन्त्रितं दशकन्धरस्य दुर्निवारमथ प्रतर्क्य वधं विरोधे ।
मारिचो रघुवीरसायकलक्ष्यभूतं स्वावसानमपि ध्रुवं ह्यमृताय मेने ॥६८

दशानन की दारुण मन्त्रणा को देखकर तथा विरोध करने पर अपने वध को दुर्निवार समझकर मारीच ने रघुवीर के बाणों का लक्ष्य बनने वाली अपनी मृत्यु को भी, निश्चित रूप से अमरता का हेतु माना ।

हेमसन्निभरोमराजिपरीतकायः उत्प्लवैर्विदधत्सुखं वलनैस्सहेलम् ।
स्निग्धलोलविलोकनैः कुतुकं वितन्वन् मैथिलीं मृगरूपधृक् स जगाम तूर्णम् ॥

काञ्चन-सदृश रोमराजियों से आच्छादित शरीर वाला, ऊँची छलाँगों एवं क्रीड़ाभरी भङ्गिमाओं से सुख उत्पन्न करता हुआ, स्नेहभरी चञ्चल चितवन से कुतूहल को संवर्धित करता हुआ, मृगरूपधारी वह मारीच शीघ्रगति से मैथिली के पास पहुँचा ।

चञ्चलैः स्वगतागतैर्नटनैर्विलोलैर्वल्गुतिर्यगवेक्षणैः प्रकृतक्रियाभिः ।
जानकीहृदयं जहार स ताटकेयः सम्मुमूर्षुरपि प्रमोहपरोऽभिरामे ।।७०।।

अपनी चञ्चलता भरी आवाजा ही से, अस्थिर भाव-भंगिमाओं से, मनोहर तिरछी चितवनों से तथा प्राकृतिक क्रियाओं से, मृत्यु के समीप पहुँचा होने पर भी, राघव के प्रति मोहग्रस्त हुए उस मारीच ने जानकी के हृदय को चुरा लिया ।

तप्तजाम्बूनदनिभं समवेक्ष्य रङ्कुं दुर्लभं तमदृष्टपूर्वमथ प्रगाढम् ।
चर्मणे स्पृहयाञ्चकार विनोदिताऽसौ मैथिली कुतुकान्विता दयितं बभाषे ।।७१

पिघले हुए कञ्चन के समान रंग वाले उस विलक्षण तथा दुर्लभ मृग को देखकर आह्लादित हुई सीता, उसका चर्म प्राप्त करने के लिए प्रगाढ रूप से इच्छुक हो उठी और मारे कुतूहल के उन्होंने प्रियतम राम से कहा ।

पश्य कान्त! मृगं सुवर्णतनुं विचित्रं मे मनः प्रसभं हरत्ययमुत्प्लवैः स्वैः ।
चर्मणे स्पृहयामि तत्सदयं प्रयाचे एनमानय मत्कृते निहतं प्रसीद ।।७२।।

स्वामी ! सौवर्ण शरीर वाले इस विलक्षण मृग को देखिए न ! यह अपनी उछल-कूद से मेरा मन बरबस आकृष्ट कर रहा है । इसके चर्म के लिए मुझे लोभ हो रहा है, अतएव मैं आग्रहपूर्वक प्रार्थना कर रही हूँ, ! आप प्रसन्न हों, मेरे लिए इस मृग को मारकर ले आइये ।

राघवो दयितानुरोधमपेक्ष्य सद्यः प्रस्थितोऽनु मृगं प्रगृह्य धनुर्ह्यधिज्यम् ।
स्वोद्यमं सफलीभवन्तमवेक्ष्य हृष्टो मारिचोऽपि दधाव वातरयो वनान्ते ।।७३

प्रियतमा के अनुरोध का आदर करते हुए श्रीराम, आरोपित प्रत्यञ्चा वाले धनुष को लेकर तत्काल मृग के पीछे चल पड़े ! अपने प्रयत्न को सफल होता हुआ देखकर, आह्लादित मारीच भी हवा के वेग से वन-राजियों में भागने लगा !

सम्मुखं ददृशे क्षणं क्षणमेव दूरं दृष्टितोऽस्तमितः क्वचित्पुनरुद्बभूव ।
वामदक्षिणतिर्यगूर्ध्वसमानगतया भ्रामयन् स रघूद्वहं प्रपथं निनाय ।।७४।।

वह एक क्षण तो सामने दिखाई पड़ता और दूसरे ही क्षण दृष्टि से ओझल हो जाता और पुनः किसी अन्य स्थान पर प्रकट होता ! इस प्रकार रघुनन्दन श्रीराम को बायें-दायें, तिरछे-ऊँचे और समतल भागों में घुमाता-फिराता हुआ वह मारीच उन्हें बहुत दूर तक ले गया !

कैतवैर्हरिणाधमस्य विवृद्धरोषो राघवोऽपि शरम्मुमोच करालमेकम् ।
चीत्कृतिं करुणां विधाय पपात भूमौ राक्षसीं तनुमेत्य हिंसितताऽङ्केयः ।।७५।।

उस मायावी हरिण के छल-प्रपञ्च से बढ़े हुए रोष वाले राघव ने भी (अन्तत:) एक प्राणान्तक बाण छोड़ा, जिससे कि मारा गया मारीच राक्षसी शरीर को प्राप्त कर, करुण क्रन्दन करता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा !

लक्ष्मणं द्रुतमाजुहाव ततश्च सीतां राक्षसो मरणक्रमे विपुलस्वरेण ।
रावणस्य समीहितं सफलं विधातुं श्रेयसे स्मृतवान् विभुं रघुनाथमन्ते ।।७६।।

रावण की आकांक्षा को सफल बनाने के लिए उसने मृत्युवेला में, ऊँचे स्वर में पहले तो वेगपूर्वक लक्ष्मण को पुकारा और उसके अनन्तर सीता को, और अन्त में अपनी सद्गति के लिए भगवान् राम का स्मरण किया !

मैथिली घनगर्जितप्रचितं तदार्तं वाचिकं नु निशम्य नष्टविवेकधैर्या ।
राघवव्यसनार्दिता रुदती भयार्ता लक्ष्मणं वचनं जगाद सबाष्पकण्ठा ।।७७।।

मेघ-गर्जना के समान फूटी उस आर्तवाणी को सुनकर सीता का विवेक और धैर्य नष्ट हो गया ! वह राघव की विपत्ति की आशङ्का से भयार्त हो उठीं तथा रोती हुई, भर्राए कण्ठ से, देवर लक्ष्मण से बोलीं !

राघवो व्यसनार्दितो ध्रुवमेव मन्ये आजुहोति सहोदरं स्वसहायतायै ।
गच्छ लक्ष्मण! मा विलम्बमये भजेथा मज्जतीव मनो मदीयमगाधसिन्धौ ।।७८

मेरा मन कहता है कि निश्चय ही संकटग्रस्त राघव अपनी सहायता के लिए सहोदर को पुकार रहे हैं ! जाओ लक्ष्मण ! विलम्ब मत करो ! मेरा मन अगाध विपत्ति-सागर में डूबता सा जा रहा है !

लक्ष्मणो विनतैः स्वरैर्निजगाद शान्तो देवि! कीदृगयं भ्रमः क्षिणुते किल त्वाम् ।
एक एव निहन्ति यः खरदूषणादीन् सङ्गरे व्यसनं भवेत्किमु राघवस्य??७९।।

शान्त-स्वभाव वाले कुमार लक्ष्मण ने विनम्र स्वर में कहा—देवि ! यह कैसा भ्रम है जो आपको संशयापन्न बना रहा है ? जो अकेले ही खर-दूषण आदि (चौदह हजार) राक्षसों को रणभूमि में विनष्ट कर सकता है, उस राघव के लिए भला संकट कैसा ?

नूनमेव निशाचरस्य छलप्रपञ्चः साम्प्रतं निहतोऽस्ति यः किल धन्विनाऽर्ये !
याहि विक्लवतां न चाश्रय कातरत्वं शीघ्रमेति रघूत्तमस्तव सान्त्वनार्थम्।।८०।।

आर्ये ! निश्चय ही यह उस राक्षस का छल-प्रपञ्च है जो धनुर्धारी राघव द्वारा अभी-अभी मारा गया है ! आप न तो विकल हों और न ही कातरता का आश्रय लें ! आपको सान्त्वना देने के लिए (विजयी) रघूत्तम शीघ्र ही लौट रहे हैं !

देवि भूमिसुतेऽन्यथाऽलमिह प्रकल्प्य रक्षणेऽस्मि नियोजितस्तव सोऽहमार्यैः ।
दण्डके प्रचरन्ति घोरनिशाचरास्ते युक्तमस्ति न हातुमत्र विनाकृतां त्वाम् ।।८१

हे देवि भूमिसुते ! आप मन में कुछ और आशङ्का न करें ! मैं बड़े भैया राम द्वारा आपकी रक्षा के लिए नियुक्त किया गया हूँ ! दण्डकवन में नृशंस राक्षस घूमते ही रहते हैं, अतएव यहाँ आपको अकेली छोड़ना बिल्कुल उचित नहीं है !

देवरोदितसान्त्वनामृतसत्ययुक्तां जानकी न बभार कालगतिप्रमोहात् ।
साऽऽक्षिपच्चरितं स्त्रियोचितभीरुबुद्धिर्लक्ष्मणस्य मृषोहितैर्दुरितैश्च गर्ह्यैः।।८२

कालगति के प्रमोहवश जानकी ने देवर द्वारा कही गयी, सान्त्वना के अमृत एवं सचाई से भरी हुई उस वाणी का अभिनन्दन नहीं किया ! स्त्रियोचित भीरु बुद्धि वाली सीता ने निन्दनीय तथा निराधार कल्पित . किये गये पापों से लक्ष्मण के चरित्र पर आक्षेप किया !

मर्मविद्ध इवाहतो वनदेवतानां वीरुधामथ भूरुहां सरितां खगानाम् ।
आश्रये वनितां विहाय सहोदरस्य लक्ष्मणो व्यथयार्दितो विपिने विवेश ।।८३

सीता के कलङ्क वचनों से आहत तथा मर्मविद्ध हुए से कुमार लक्ष्मण वेदना से भर उठे और अन्ततः अपनी भ्रातृजाया (भाभी) सीता को वनदेवताओं, लता-वितानों, वृक्षों, सरिताओं, तथा विहङ्गों के आश्रय में छोड़कर, घने-वन में प्रविष्ट हुए !

क्षोभसंशयतापविद्धतनुं विशीर्णां चन्द्रिकामिव कालमेघविलूनशोभाम् ।
रावणोऽवसरं निभाल्य महर्षिवेषी मैथिलीं द्रुतमाजगाम विपन्नचित्ताम् ।।८४

तभी मैथिली को क्षोभ, संशय तथा पश्चात्ताप से ओतप्रोत शरीरवाली, छिन्न भिन्न, विषण्ण मनोवृत्ति वाली तथा कालमेघ द्वारा अपहृत शोभावाली चन्द्रिका के समान देखकर, उचित अवसर का निश्चय कर लङ्कापति रावण, महर्षि के वेश में, तीव्रगति से वहाँ आ पहुँचा !

दिव्यरक्तदुकूलसंवृतचारुदेहः शाम्भवञ्च दधत्त्रिपुण्डकमुत्तमाङ्गे।
पाणिनद्धपलाशदण्डकमण्डलुश्च प्रीतदारुणलोचनोऽधरमन्दहासः ।।८५।।

उसका रम्य शरीर दिव्य लाल रंग के रेशमी वस्त्रों से ढँका हुआ था ! उसके ललाट पर शम्भुभक्ति का प्रतीक त्रिपुण्ड सुशोभित था ! उसके हाथों में पलाशदण्ड एवं कमण्डलु थे, उसकी आँखें अनुरक्त एवं मदिर थीं तथा अधरों पर मन्दहास विद्यमान था !

धीरशान्तगतिस्समीपमुपेत्य मृद्व्या वाचया गुणरूपशीलनुतिं वितन्वन् ।
आतिथेयमसौ विदेहसुतां ययाचे प्रस्फुटीकृतगेहिनीजनधर्मचर्यः ।।८६।।

धीर एवं शान्त गति से समीप पहुँच कर, गृहिणीजनोचित धर्मचर्या का उपदेश देते हुए तथा मिठासभरी वाणी से सीता के गुण, रूप एवं शील की प्रशंसा करते हुए रावण ने विदेहनन्दिनी से भिक्षा की याचना की !

दुर्व्यथाऽपि गृहागतं यतिकं विशिष्टं वीक्ष्य शापभयादुपेत्य गृहे नु सीता ।
कन्दमूलफलादिकं समुपाहरन्ती पाद्यविष्टरसत्कृतं विनता जगाद ।।८७।।

(पति-विषयक चिन्ता के कारण) व्यथित होती हुई भी सीता एक विशिष्ट संन्यासी को द्वार पर आया हुआ देखकर शाप के भय से पर्णकुटी के भीतर गईं तथा पाद्य-विष्टर आदि आतिथ्य-सामग्री तथा कन्द-मूल-फल आदि भक्ष्य पदार्थ लाती हुई, विनम्र-स्वर में बोलीं !

स्वागतं यतिवर्य ! राघवगेहिनी त्वां मैथिली प्रणमाम्यहं महितं तपोभिः ।
कानने किमु लभ्यतेऽशनपेयजातं यत्तथापि समर्पितं तदिदं गृहाण ।।८८।।

हे यतिश्रेष्ठ ! आपका स्वागत है ! राघव की गृहिणी मैं सीता महातपस्वी आपको प्रणाम करती हूँ ! भला वन में खाने-पीने की कौन सामग्री मिल पाती है ? फिर भी जो कुछ मैं अर्पित कर रही हूँ (कृपया) इसे स्वीकार करें !

वल्लभो मम कोसलेशसुतो धनुष्मान् राघवो ननु देवरोऽपि स लक्ष्मणाख्यः ।
प्रेरिताः पितुराज्ञया गहने वनेऽस्मिन् आचतुर्दशहायनानि वयं वसामः ।।८९।।

मेरे प्राणवल्लभ राघव कोशलेन्द्र दशरथ के पुत्र तथा (महान्) धनुर्धर हैं ! मेरे देवर का नाम भी लक्ष्मण है ! पिता की आज्ञा से प्रेरित किये गये हम लोग, चौदह वर्षों के लिए इस गहन-वन में आये हुए हैं !

हायनं चरमं त्विदं तदतीत्य तूर्णं मत्पुरीं रुचिरामुपैमि शुभामयोध्याम् ।
स्थीयतां दयितः समेष्यति सानुजं तं वीक्ष्य ते भविता सुतृप्तिरिहागतस्य ।।९०

वनवास अवधि का यह अन्तिम वर्ष है ! इसके बीतते ही हम लोग तत्काल अपनी राजधानी, पवित्र एवं रमणीय अयोध्यापुरी को लौट जायेंगे ! आप रुकें, मेरे पतिदेव आते ही होंगे ! सहोदर सहित उन्हें देखकर, यहाँ आये हुए आपको प्रभूत परितुष्टि होगी !

मैथिलीमितिवादिनीमवरोध्य मध्ये रावणो रघुनन्दनस्तवनैरजीर्णैः ।
विद्विषन् वनवासकष्टकथाभिरस्या मानसं क्वचिदन्यभूमिमियेष नेतुम् ।।९१

इस प्रकार की वार्ता में मग्न मैथिली को रावण ने बीच में ही बाधा दी ! रघुनन्दन की प्रशंसाएँ उसके लिए अजीर्ण हो चुकी थीं और वह विद्वेष से भर उठा था । अतएव रावण वनवास की विपत्तियों द्वारा सीता का मन किसी अन्य भाव-भूमि की ओर ले जाने का प्रयत्न करने लगा !

हन्त राजसुते ! क्व ते लवलीलताभं कोमलं वपुरीदृशं क्व च भूमिशय्या ?
पल्वलेषु विचिन्वतीं किल राजहंसीं दर्दुरान् परिलक्ष्य मे हृदयं प्रभिन्नम् ।।

आह राजनन्दिनी ! कहाँ तो लवली लताओं के समान तुम्हारा यह कोमल शरीर ? कहाँ यह कठोर भूमिशय्या ? राजहंसी को कीचड़ भरे तालाबों में मेढकों का अन्वेषण करती देख मेरा हृदय छिन्न-भिन्न हो उठा है !

तापसे रघुनन्दने प्रणयं व्यलीकं मैथिलि ! च्युतवैभवे तवकं समीक्षे ।
प्रोद्धराम्बुधरावलेपनिगीर्णं इन्दुर्बालकैरविणीं सुखैरनुरञ्जयेत्किम् ?? ९३

हे मैथिली ! ऐश्वर्य-विहीन तापस रघुनन्दन के प्रति तुम्हारे प्रेम का मैं कोई औचित्य नहीं देखता ! घुमड़ते हुए बादलों की घटा से निगीर्ण किया गया (अभागा) चन्द्रमा बालकुमुदिनी को भला आह्लाद से अनुरञ्जित कर सकता है ?

साम्प्रतं प्रकृतं वदामि हिताय सीते ! मां भजस्व सुरासुरोज्जयिनं समृद्धम् ।
रावणोऽस्मि शुभे ! त्वदास्यमृगाङ्कसिन्धुः आगतस्तव दिव्यरूपसुधावकृष्टः ।।

हे सीते ! अब मैं तुम्हारी भलाई के लिए वास्तविक तथ्य प्रकट कर रहा हूँ ! तुम देवताओं एवं असुरों पर विजय प्राप्त करने वाले मुझ ऐश्वर्यशाली का वरण करो । हे शुभे ! मैं (लङ्कापति) रावण हूँ ! मैं तुम्हारे मुखचन्द्र के लिए (उत्कण्ठित) सिन्धु-सदृश हूँ और तुम्हारी दिव्य रूपसुधा से आकृष्ट होकर ही यहाँ आया हूँ !

वासवोऽपि नमत्यधीनचरस्त्रिसन्ध्यं नो कलापचयं विधुस्तनुते कदाचित्।
भास्करो न तपत्यलं पवनो न वात्यां चेष्टते प्रभविष्णुतामहमुद्वहामि ॥९५

अधीनस्थ देवराज इन्द्र भी प्रातः, मध्याह्न एवं सन्ध्यावेला में मुझे प्रणाम अर्पित करता है! (मेरे भय के कारण लङ्का में) चन्द्रमा भी कभी अपनी सोलह कलाओं में ह्रास नहीं करता! प्रचण्ड सूर्य बहुत अधिक ताप नहीं उत्पन्न करता, और न ही पवन आँधी-बवण्डर उठाता है! वस्तुतः समस्त लोकों पर मेरा अखण्ड प्रभुत्व है!

मैथिलि ! प्रमदोत्तमे ! जलधौ त्रिकूटे राजते नगरी सुवर्णमयी महार्घा।
तत्र मे हृदयेश्वरीव लभस्व सौख्यं देवभोग्यमचिन्त्यमेव धराचराणाम् ॥९६॥

हे प्रमदोत्तमे ! मैथिली ! समुद्र के बीच स्थित त्रिकूट-पर्वत-शिखर पर अत्यन्त ऐश्वर्यशालिनी, सुवर्णनिर्मित मेरी राजधानी लङ्कापुरी स्थित है! वहाँ चलकर तुम हृदयेश्वरी के रूप में, देवताओं द्वारा भोगने योग्य तथा पृथ्वी-लोक में स्थित मनुष्यों के लिए सर्वथा अचिन्त्य सुखों का उपभोग करो!

एवमादि विजल्प्य छन्नतनुञ्च हित्वा आस्थितः स्वतनुं विभूतिमयीं दशास्यः।
तद् वचांसि निशम्य रूपमवेक्ष्य मूलं मैथिलीभयविह्वला विकलाऽचलाभूत् ॥

इस प्रकार की अन्य अनेक बातें कहकर दशानन अपने प्रच्छन्न यतिवेश को छोड़कर विभूतिमयी वास्तविक शरीर में प्रकट हो गया! उसकी (पापपूर्ण) बातों को सुनकर तथा उसके वास्तविक रूप को देखकर सीता भयविह्वल, विकल एवं गति-हीन सी हो उठीं!

सा कथञ्चिदुपेत्य धैर्यमुवाच दैन्यक्रोधरोषभयार्दिता शृणु भो दशास्य !
धिक् छलं हतपौरुषं विबुधाधिपत्यं धिक् च ते मलिनायितं हृदयं निकृष्टम् ॥

दैन्य, क्रोध, रोष, एवं भय से संत्रस्त सीता फिर भी यथाकथञ्चित् धैर्य को सञ्चित कर बोलीं—हे दशानन सुनो! देवताओं पर हुए तुम्हारे आधिपत्य तथा तुम्हारे निर्वीर्य पौरुष को धिक्कार है और धिक्कार है मलिनता—भरे तुम्हारे निकृष्ट हृदय को!

इन्द्रियं न जितं किमिन्द्रजयेन तत्ते हृत्तमो न गतं ततस्तरणीशिता का ?
निष्कले त्वयि का नु चन्द्रकलासमीक्षा वर्जिता मरुता त्वयैव धृताऽस्ति वात्या

यदि तुम अपनी इन्द्रियों को ही नहीं जीत सके तो इन्द्र पर विजय प्राप्त करने का क्या लाभ? यदि तुम्हारे मन का गहन अन्धकार ही नष्ट नहीं हुआ तो सूर्य पर प्रभुता प्राप्त करने का क्या अर्थ? जब तुम स्वयं निष्कल (गुणहीन) हो तो चन्द्रकला की समीक्षा ही व्यर्थ है! आश्चर्य है कि मरुत द्वारा वर्जित की गयी वात्या (आँधी) को अब तुम्हीं उठा रहे हो!

साम्प्रतं खलु ते छलं निखिलं प्रवेद्मि राघवो मम देवरश्च यथोपनीतौ ।
आगतोऽसि निरन्तरायमवेत्य सर्वं पाप ! पापमयीमिमां विनतिं प्रयोक्तुम् ??

अब मैं तुम्हारी सारी की सारी छल-वञ्चना को भलीभाँति समझ गयी हूँ, जिस तरह से तुम मेरे प्राणवल्लभ राघव तथा देवर लक्ष्मण को यहाँ से दूर ले गये हो ! आश्रम को विघ्नबाधा से रहित देखकर हे पाप ! अब तुम अपनी पापमयी अभ्यर्थना का प्रयोग करने के लिए यहाँ आये हो ?

वल्लभा रघुवंशभानुनिभस्य चाहं राघवस्य विदेहजा च कुलप्रसूता ।
स्वप्नजाऽपि न मे रतिः पुरुषान्तरेषु स्वामिजीवितजीवितास्मि तदर्पिताऽहम् ॥

मैं सद्वंश में उत्पन्न महाराज जनक की पुत्री तथा रघुवंश-भानु राम की प्राणवल्लभा हूँ । पर-पुरुष के प्रति स्वप्न में भी मेरा अनुराग नहीं रहा है । अपने स्वामी के जीवन से ही मैं जीवित हूँ, सर्वात्मना उन्हीं पर अर्पित हूँ ।

गच्छ यावदुपैति नो ह्यनुजद्वितीयो राघवः खरदूषणादिपिशाचहन्ता ।
कार्मुके दयितस्यसे सशरे ह्यधिज्ये क्रन्दितुं क्षमसे न रावण! विक्षताङ्गः ।।

खर-दूषण आदि निशाचरों के विनाशक राघव अपने भाई के साथ जब तक यहाँ लौट नहीं आते (उसके पूर्व ही) भाग जाओ यहाँ से ! अन्यथा मेरे प्राणवल्लभ द्वारा चढ़ी प्रत्यञ्चा एवं सन्धानित शर वाले धनुष के उठा लेने पर, हे रावण ! क्षत-विक्षत अङ्ग वाले तुम चिल्ला भी नहीं पाओगे ।

एवमादिवचोभिराशु महोग्रकायं रावणं व्यवधूय साध्वसवेपिताङ्गी ।
यावदेव चचाल पर्णगृहाय सीता तावदेव पुरस्ससार शठस्सझम्पम् ।।१०३।।

इस प्रकार की जली-कटी बातों से अत्यन्त भीषण-काय रावण को डाँट-फटकार कर, भय के कारण कम्पित अङ्गवाली सीता द्रुतगति से जैसे ही पर्णकुटीर में प्रविष्ट होने को चलीं वैसे ही दुष्ट दशानन कूदकर सामने आ खड़ा हुआ ।

वामकेन निगृह्य मूर्द्धजपाशबन्धं दक्षिणेन युगोरुकञ्च दृढं नियम्य ।
मैथिलीं स जहार तां परिदेवमानां क्रन्दितामसहायिनीं कुररीसुदीनाम् ।।

बायें हाथ से (केशपाश से बने) जूड़े को पकड़ और दाहिने हाथ से दृढ़तापूर्वक ऊरुयुगल को नियन्त्रित कर लङ्कापति रावण ने असहाय, कुररी के समान दैन्यपूर्ण आक्रन्दन करने वाली, रोती-बिलखती वैदेही को अपहृत कर लिया ।

सोऽधिरुह्य रथं मनोजविनं नभोगं मायिकं सभयं ससार समीक्षमाणः।
राघवानुगतं निजं परिशंकमानः पापभारविलीनसत्त्वविवेकधर्मः ॥१०५॥

तदनन्तर मन के वेग से चलने वाले, मायामय, अकाशगामी रथ पर आरूढ़ होकर तथा भयपूर्वक चारों ओर देखता हुआ वह राक्षस चल पड़ा। स्वयं को राघव द्वारा उपद्रुत किया जाता हुआ समझकर उसका सत्त्व-विवेक और धर्म-भाव पापभार में मानों विलीन हो उठा था।

मौक्तिकाश्रुपृषन्ति नेत्रसरोरुहाभ्यां दण्डकेषु बृहन्ति पर्णचये गिरन्ती।
व्याधहस्तगतेव वत्सतरी स्वनन्ती जानकी विललाप शून्यदिशीक्षमाणा ॥०६

नेत्ररूपी कमलों से मौक्तिक के समान वड़े-बड़े अश्रुबिन्दुओं को दण्डक वन में विद्यमान द्रुमपर्णों के ऊपर गिराती हुई, शून्य दिशाओं में दृष्टिपात करती हुई, कसाई के हाथों पकड़ी गयी वत्सतरी (बछिया) के समान जानकी करुण विलाप करने लगीं।

क्वासि भो रघुनाथ ! किन्न शृणोषि वाचं क्रन्दनं मम कान्तः! सत्प्रणयावसक्तः
एष मां विवशां हरत्यधमो दशास्यो राक्षसो गतपौरुषस्त्वयि वर्तमाने ॥०७

हे रघुनाथ कहाँ हैं आप ? मेरे प्रणयरस में भीगे हुए हे मेरे प्रियतम ! मेरी वाणी, मेरा क्रन्दन आप क्यों नहीं सुन रहे हैं ? आपके विद्यमान रहते हुए भी यह अधम, पौरुष-हीन राक्षस मुझ विवश को बलपूर्वक लिये जा रहा है।

प्राणवल्लभ ! निर्विदेहसुतः क्षणार्धं नो भवानुषितोऽद्य यावदपि प्रसक्तः।
तत्कथं भवसि स्वयं विरहे विना मां त्वां विनाऽप्यहमेव वा कथमाश्रयिष्ये ॥

हे प्राणवल्लभ! आज तक (मुझमें) अनुरक्त आप जिस विदेहनन्दिनी के विना आधा क्षण भी अकेले नहीं रह सके उसी सीता के अभाव में कैसे स्वयं विरही बनकर रह सकेंगे ? अथवा आप के अभाव में मैं ही कैसे (अकेली) जी सकूँगी।

देवता विहगा लतास्तरवो नु गोदे ! जानकीविपदं प्रवक्त समेत्य यूयम्।
राघवं दयितं परं हृदयेश्वरम्मे बोधयेध्वमिदं दशास्यनृशंसकर्म ॥१०९॥

वनदेवियों ! विहगों ! लताओं ! वृक्षों ! और नदी गोदावरि ! तुम सब लोग मिलकर जानकी की इस विपत्ति को निवेदित करना। दशानन के इस नृशंस आचरण की सूचना मेरे हृदयेश्वर प्राणवल्लभ राघव को अवश्य देना।

आत्मपापप्रधर्षिताऽस्मि ममैव दोषः पूर्वजन्मकृतं भवेन्ननु पातकम्मे।
वत्स लक्ष्मण सौम्य! मूढधिया भवन्तं न्वक्षिपं यद्विदं नु तस्य फलं विषाक्तम्॥

मैं अपने ही पाप से अपमानित हुई हूँ। सब दोष मेरा ही है। निश्चय ही पूर्वजन्म में किया गया मेरा कोई पाप प्रभावी हो उठा है। हे सौम्य भइया लक्ष्मण! अपनी मूढ़ बुद्धि से मैंने जो तुम्हारा चरित्र कलंकित किया, यह उसी का विषाक्त परिणाम है।

मैथिलीकरुणस्वरं परिदेवनाढ्यम् आरुणिर्हि निशम्य गृध्रपतिर्जटायुः।
प्रेक्ष्य ताञ्च बलाद् दशाननलीयमानां चक्रमे तरसा सपक्षधराधराभः॥१११॥

कातर विलाप से ओतप्रोत जनक-नन्दिनी के करुण स्वर को सुनकर अरुण के पुत्र गृध्रपति जटायु ने उसे रावण द्वारा बलपूर्वक ले जाई जाती देखकर, पंखयुक्त पर्वत के समान वेगपूर्वक उस पर आक्रमण किया।

सान्त्वयन् स विदेहजां कुलिशप्रहारैः पादचञ्चुपुटाग्रयोर्विरथञ्च कृत्वा।
चिक्षिणे ननु रावणं रुधिरप्लुताङ्गम् ऊर्णुनाव वधूं प्रसारितपक्षतिभ्याम्॥११२

विदेहनन्दिनी को सान्त्वना देते हुए चरणों तथा नुकीले चञ्चुपुटों के वज्रोपम प्रहारों से रथविहीन करके उसने रावण के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रुधिरधारा से ओत-प्रोत कर दिया तथा प्रसारित किये गये पंखों से वधू वैदेही को(गिरने से) सँभाल लिया।

लब्धसंज्ञ इहान्तरे कुपितोऽधमोऽसौ प्राहरच्छतधा चकर्त विहङ्गपक्षौ।
सन्निपात्य च तं भुवि प्रससार तूर्णं लङ्घयन् गिरिशृङ्खलातटिनीवनानि॥११३

परन्तु इसी बीच मूर्च्छा से जगे हुए क्रोधाविष्ट उस अधम राक्षस ने (अपने खड्ग से) सैकड़ों प्रहार किये और जटायु के पंखों को काट डाला। जटायु को पृथिवी पर गिराकर भयभीत रावण गिरिशृङ्खलाओं, नदियों तथा वनराजियों को लाँघता-फाँदता तूर्णगति से लङ्का की ओर बढ़ा।

ऋष्यमूकगिरौ स्थितान् समवेक्ष्य सीता वानरान् करुणैः स्वरैः परिदेवमाना।
भूषणं वसनञ्च पातितवत्यनाथा राघवाय सलक्ष्मणाय निजप्रतीकम्॥११४

ऋष्यमूक पर्वत पर बैठे हुए वानरों को देखकर, करुण स्वरसे विलाप करती हुई सीता ने राम और लक्ष्मण के लिए, पहचान करानेवाले अपने भूषणों एवं वस्त्रों को गिरा दिया।

रोदनैर्हृतचेतनैर्हृदयव्यथाभिर्मूर्च्छिता निपपात साऽधिरथं विपन्ना ।
चेतनां पुनरेत्य सा हरिणीव बद्धालुब्धकेन तताम नेत्रपयोवृताङ्गी ॥११५॥

क्रन्दनों तथा हृदयव्यथाओं से मूर्छित हुई वैदेही विपन्न होकर, रथ के ही ऊपर निढाल होकर गिर पड़ी । जब उसकी चेतना पुनः लौटी तब आँखों की अविरल अश्रुधारा से भीगे अङ्गों वाली वह बहेलिये द्वारा जकड़ी गई हरिणी के समान तड़पने लगी ।

क इह जगति भुङ्क्ते सौख्यमत्यन्तमिद्धो
विपदनुगतसौख्यं दृश्यते लोकसिद्धम् ।
प्रभवति खलु चान्द्री कौमुदी नन्दनायै
परमुदयति भानौ साऽपि दैन्यं प्रयाति ॥११६॥

अतिशय ऐश्वर्यशाली होते हुए भी इस संसार में कौन जीवन भर सुख भोगता है ? सुख के पीछे सदव विपत्तियाँ लगी रहती हैं—बस यही संसार में देखने को मिलता है । चन्द्रमा की चाँदनी यद्यपि आह्लादन में समर्थ होती है परन्तु सूर्योदय होते ही वह भी दैन्य को प्राप्त हो जाती है ।

काव्यं यत्क्रियते विदेहतनयासत्प्रेरणाभिर्नवं
प्रस्थानं च निवेद्यते मतिमतां तोषाय मोदावहम् ।
सम्पूर्णो ननु रावणापहरणप्रख्यस्स एकादशः
सर्गोऽयं मदुपज्ञवृत्तरचितश्श्रीजानकीजीवने ॥११७॥

विदेहतनया सीता की ही सत्प्रेरणाओं से जो नूतन काव्य मैं लिख रहा हूँ और विद्वद्जनों के परितोष के लिए जो आह्लादक प्रस्थान (नया कथानक) प्रस्तुत कर रहा हूँ उस जानकीजीवन नामक महाकाव्य में, मेरे द्वारा चिन्वित इतिवृत्त वाला, रावणापहरण नामक यह ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकलिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्री जयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।

श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।११८।।

कवीन्द्र कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पर्णसमूह है, विल्हण की उक्तियाँ जिसका पुष्प हैं और पंडितराजजगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—अपनी ही नियति से उत्पन्न हुआ, वह अभिराजराजेन्द्ररूपी काव्यवृक्ष चिरंजीवी हो ।

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
रावणापहरणसंज्ञक एकादशः सर्गः

द्वादशः सर्गः

रघुनाथपदाश्रितां तथा विलपन्तीं कुररीमिवाऽनिशम् ।
अपहृत्य विदेहनन्दिनीं स्वपुरीमेत्य तुतोष रावणः ॥१॥

राघव के चरणों में विलीन तथा कुररी के समान प्रतिपल करुण क्रन्दन करती हुई अपहृता विदेहनन्दिनी को अपनी पुरी में पहुँचाकर रावण निश्चिन्त हो उठा ।

अयुतैर्नियुतैर्निशाचरैः कृतरक्षे पुरतो बहिश्चरे ।
स्फुटवारिजगन्धमेदुरे द्रुतवातप्रविकीर्णसौरभे ॥२॥

हजारों, लाखों निशाचरों द्वारा भीतर एवं बाहर से आरक्षित, अपने विलास-विहार-कानन में निर्मित मणिखचित राजप्रासाद में उसने वैदेही को स्थापित कर दिया । वह विलास-वन विकसित कमल पुष्पों की गन्ध से आप्यायित तथा द्रुतगामी पवन द्वारा विकीर्ण सौरभ वाला था ।

लसदुन्मदभृङ्गमण्डले शतरूपद्रुमवीरुदञ्चिते ।
शुकसारसकोककोकिलोरगभुक्चातकहंसमण्डिते ॥३॥

उन्मत्त भ्रमरों की टोलियाँ वहाँ चहल-कदमी कर रही थीं । सैकड़ों प्रकार के वृक्षों एवं लताओं से वह वन भरा-पुरा था और शुक, सारस, चक्रवाक, कोकिल मयूर, चातक एवं हंसों से श्रीमण्डित था ।

स्फुटपार्वणचन्द्रचन्द्रिके सुखसह्यादितिनन्दनातपे ।
सुरसौधनिपानभूषितेऽरुणकङ्केलिकदम्बनन्दिते ॥४॥

उस विलास-वन में पार्वण चन्द्र की चन्द्रिका फैली हुई थी । (दिवस वेला में) अदितिनन्दन सूर्य की ऊष्मा भी सुखपूर्वक सहने योग्य थी । वह वन देवोपम राजमहलों तथा सरोवरों से विभूषित साथ ही साथ, रक्ताशोक एवं कदम्ब वृक्षों से सुशोभित था ।

स्वविलासविहारकानने मणिहर्म्येऽक्षतभोगसङ्कुले ।
स विदेहसुतां न्यवेशयत् निभृतं पञ्जरगां शुकीमिव ॥५॥

अक्षत सुख-भोगों से सङ्कुल उसी विलास-वन के मणिहर्म्य में, पिंजरे में बन्द की गई शुकी के समान वैदेही को रावण ने चुपचाप अवरुद्ध कर दिया ।

अतिभीषणरूपवैखरीं स्फुटदंष्ट्रामरुणारुणेक्षणाम् ।
विनियोज्य च राक्षसीततिं यमहासां प्रतिबद्धरक्षणे ॥६॥

अत्यन्त भीषण आकृति एवं वाणी वाली, बाहर निकली दाढ़ों वाली, लाल-लाल आँखों वाली, तथा कृतान्त के समान अट्टहास करने वाली राक्षसियों की सेना को सीता की रखवाली के लिए नियुक्त करके ।

स जगाद निशाचरीगणं प्रतिपाल्येयमिह प्रयत्नतः ।
प्रविशेन्न च कोऽपि कर्हिचित् स्वजनो वाऽथ परः कथञ्चन ॥७॥

रावण ने राक्षसियों की टोली को आदेश दिया—पूरी चौकसी के साथ यहाँ इस पर दृष्टि रखना । किसी भी ओर से, कोई किसी प्रकार भीतर प्रवेश न करने पाये ! चाहे स्वजन हो, चाहे अपरिचित और कोई !

उपगम्य मधुद्रवोपमैर्वचनैः सान्त्वपरैर्विदेहजाम् ।
मम विक्रमशौर्यवैभवैर्हृदि लोभं जनयाशु दुस्त्यजम् ॥८॥

सान्त्वना देने योग्य मधुधारा सरीखे मीठे वचनों से विदेहनन्दिनी के पास पहुँचकर तुम लोग मेरे विक्रम, शौर्य, तथा ऐश्वर्य की कथाएँ कहकर उसके हृदय में यथाशीघ्र ऐसा लोभ पैदा करो जो कि छुड़ाये न छूटे ।

यदि सामवचोभिराश्रयेद्विनतिं नैव ततो विभूषणैः ।
मणिरत्नमयैर्विलोभय प्रतिपत्त्या प्रतिसार्य कौतुकम् ॥९॥

यदि सान्त्वना-वचनों से वह अनुकूल न बन सके तो फिर मणि-रत्ननिर्मित आभूषणों के द्वारा उसे ललचाओ और उसके मन में मेरे प्रति कुतूहल का सञ्चार करो ।

वलयाङ्गदहारहंसकैः श्रुतिताटङ्कयुगाङ्गुलीयकैः ।
कटिसूत्रदुकूलसञ्चयै रमणीदृष्टिविलोभनक्षमैः ।।१०।।

वलय (चूड़ियों) भुजबन्द, मुक्ताहार, हंसक (बिछुवा), कर्णाभूषण, अङ्गुलीयक, कटिसूत्र(करधनी) तथा रमणियों की दृष्टि को आकृष्ट कर लेने में समर्थ रेशमी वस्त्रों द्वारा ।

समपेक्षितवस्तुभिश्चिरं हृदयम्मोदय गीतनर्तनैः ।
परिहासकथेतिहासकैरितरैर्वा सुखहर्षसाधनैः ।।११।।

अथवा वैदेही द्वारा आकांक्षित अन्यान्य वस्तुओं द्वारा भी उसका हृदय आह्लादित करो । गीतों नृत्यों, हास-परिहास की कथाओं, प्राचीन इतिहासों अथवा अन्यान्य आनन्द के साधनों द्वारा (सीता को मेरे अनुकूल बनाओ ।)

त्रिजटामिति हृद्यवाचिकैः सविशेषं प्रतिबोध्य रावणः ।
स्वगृहं निजगाम शङ्कितो हृतसीताहृदयः स्मरोन्मुखः ।।१२।।

इस प्रकार रस-पगी बातों से,त्रिजटा को विशेष रूप से समझा-बुझाकर, सीता द्वारा अपहृत मनोवृत्ति वाला, कामभाव से ओत-प्रोत वह रावण सशङ्क होकर अपने भवन की ओर चल पड़ा ।

मणिरत्नमयेऽपि वेश्मनि प्रतिबद्धा हरिणीव जानकी ।
दयिताङ्घ्रिकुवेलसच्छविस्मरणं सन्दधती रुरोद सा ।।१३।।

उधर मणिरत्न-खचित राजभवन में भी हरिणी के समान नियन्त्रित देवी सीता प्रियतम राघव के चरणकमलों की सुषमा का मन ही मन स्मरण करती हुई विलाप करने लगीं ।

रघुवीर मदार्तिनाशन ! क्व नु शेषे समुपेक्ष्य वल्लभाम् ।
इयमस्मि निशाचराहृता तव सीता तव पादसेविनी ।।१४।।

मेरी विपात्तियों के नाशक हे रघुवीर ! अपनी प्राणवल्लभा वैदेही को बिसार कर तुम कहाँ सो रहे हो ? तुम्हारी चरण-सेविका यह सीता एक राक्षस द्वारा (बल पूर्वक) अपहृत कर ली गई हैं ।

क्षणमात्रमपीह जीवने न मयाऽतर्कि विना त्वया प्रभो !
श्वसितुं यदहो दिवानिशं ननु जीवामि धिगात्मवञ्चिताम् ।।१५।।

हे नाथ ! तुम्हारे बिना इस जीवन में एक क्षण भी मैं जी सकूँगी—यह मैंने सोचा तक नहीं था । परन्तु आश्चर्य है कि वही मैं रात-दिन (निरन्तर) जी रही हूँ । स्वयं को वञ्चित करने वाली मुझ सीता को धिक्कार है ।

दयया न मया निरर्थकं कुसुमञ्चापि वियोजितं क्वचित् ।
रघुनाथ ! तथाप्यनाथिता दुरितैः कैर्गमिता दशामिमाम् !!१६!!

बिना किसी प्रयोजन के, अनुकम्पाभाव से ओत-प्रोत मैंने तो कभी पुष्प को भी वृन्त से वियुक्त नहीं किया ! हे रघुनाथ ! फिर भी अनाथिनी मैं आज किन पापों के कारण इस दुर्दशा को पहुँचा दी गई हूँ ?

दुरितोच्चयमेव निर्भरं किल केषाञ्चिदतीतजन्मनाम् ।
इयमद्य बिभर्मि हा विभो ! ननु जानामि न ते पदच्युता ।।१७।।

हे स्वामी ! निश्चय ही मैं आज किन्हीं बीते जन्मों के पापभार का ही परिणाम भोग रही हूँ । परन्तु आप के चरण-कमलों से च्युत हुई मैं कुछ समझ नहीं पा रही हूँ ?

भजते न पृथक्त्ववेदनामपि राहुग्रसिते विधौ मुदी ।
उपरागमिमं न वेद्मि हा प्रविभक्तामृतचन्द्रचन्द्रिकम् ।।१८।।

चन्द्रमा के राहु द्वारा ग्रसित कर लिए जाने पर भी चन्द्रिका वियोग की वेदना को कहाँ प्राप्त करती है ? (ग्रहण के बाद चन्द्र-चन्द्रिका पुनः एक हो जाते हैं) परन्तु हाय ! अपने ऊपर लगे इस ग्रहण को मैं समझ नहीं पा रही हूँ जिसने कि अमृतवर्षीचन्द्र एवं चन्द्रिका को चिरकाल के लिए एक-दूसरे से वियुक्त कर दिया है ।

अयि नाथ ! कथं विलोचनाच्छुभदृष्टिर्विरहं समश्नुते ।
हृदयात्कथमेव विच्युतं ननु सुस्पन्दनमद्य दृश्यते ??१९।।

हे नाथ ! नेत्रों से (अर्थात् आपसे) उसकी शुभ दृष्टि (अर्थात् आपकी सीता) कैसे वियुक्त बन गई ? अथवा हृदय से ही उसका मनोहर स्पन्दन आज कैसे पृथग्भूत दिखायी पड़ रहा है ?

विभवेन बभूव यत्सुखं ननु पीडा तव पीडया ध्रुवम् ।
श्वसितैश्च तवैव जीविता तव सीताऽद्य कथं विपद्यते !!२०!!

आप के सुख-वैभव से ही जिसे सुख मिलता था, आपकी पीड़ा से ही जिसको निश्चित रूप से पीड़ा प्राप्त होती थी और आपके निःश्वासों से ही जो जीवन धारण करती थी—आपकी वही भार्या सीता आज कैसे विपन्न हो रही है ?

अवलोक्य कदाप्यणीयसीमधरग्लानिमुपैषि वैक्लवम् ।
दयिता तव सैव वल्लभ ! प्लवपूरे विपदां निमज्जति ।।२१।।

जिस सीता के अधरों पर कभी अणुमात्रकी भी ग्लानि देखकर आप विकल हो उठते थे । हे वल्लभ ! आपकी वही प्रियतमा विपत्तियों के महाप्लावन में निमग्न हो रही है ।

अधिकण्ठमिदं भुजार्पणं न सुषुप्तौ शिथिलीकृतम्मया ।
अपि यत्नवती सहे कथं परिगाढां विरहव्यथामिमाम् ।।२२।।

मैंने तो प्रगाढ़ निद्रा में भी आपके कण्ठ में विन्यस्त अपना बाहुपाश (आलिङ्गन) कभी शिथिल नहीं किया था । परन्तु आज न चाहने पर भी मैं कैसे इस दुःसह वियोगव्यथा को सह रही हूँ ?

सतिशौर्यपराक्रमोद्धुरे त्वयि सिंहे ननु सिंहिकामिमाम् ।
कुदृशा किल जम्बुकाधमः समपश्यत्तदियं विगर्हणा ।।२३।।

शौर्य एवं पराक्रम से उद्दीप्त आप जैसे सिंह के विद्यमान रहते हुए भी इस सिंहिनी को एक अधम जम्बुक ने कुदृष्टि से देखा, निश्चय ही मेरे लिए यही डूब मरने की बात है ।

करुणावरुणालय ! त्वया किमुपेक्ष्ये त्वदशेषजीविता ।
बत नाथ ! न विग्रहः क्वचित् प्रजहाति प्रतियातनां निजाम् ।।२४।।

हे करुणावरुणालय ! एकमात्र आप ही जिसके जीवनाधार हैं, ऐसी वैदेही आप द्वारा क्यों उपेक्षित की जा रही है ? भला शरीर भी कभी अपनी परछायीं को त्यागता है ?

सबला किल जीवितक्षयेऽप्यहमासं पुनरस्मि साम्प्रतम् ।
अबलेव परन्तु रावणव्यपहारेष्वभवं कदर्थिता ॥२५॥

(आप से पृथक् होकर) प्राणत्याग करने में तो मैं निश्चय ही सबला (समर्थ) थी और अभी भी हूँ। परन्तु रावण द्वारा अपहरण किये जाने के प्रसङ्ग में ही कदर्थित की गई मैं अबला (असहाय) ही बनी रही।

मुखचन्द्रदिदृक्षयैव हा व्यवसाये मरणस्य मानसम् ।
अयि वल्लभ ! कातरायते प्रणयैस्ते शिशुवद्धि लालितम् ॥२६॥

हे प्राणवल्लभ ! आप के मुखचन्द्र को पुनः देख पाने की आकाङ्क्षा के ही कारण आपके स्नेह-प्रेम से दुलराया गया, चपल शिशु के समान मेरा मन मरण का वरण करने के सन्दर्भ में कातरता का अनुभव कर रहा है।

त्वदपाङ्गविभङ्गलोकनश्रितसख्यं मम लोचनद्वयम् ।
दयितोत्तम ! काङ्क्षति ध्रुवं समवाप्तुं करकज्जलार्पणम् ॥२७॥

हे दयितोत्तम ! आप के नेत्रकोणों की भङ्गिमाभरी दृष्टि से जिसकी मित्रता हो चुकी है ऐसी मेरी दोनों आँखे, अभी भी आपके दोनों हाथों, कज्जललेखा का प्रयोग कराने को लालायित हैं।

मणिबन्धयुगं समीहते घटितं वर्तुलकङ्कणं त्वया ।
अयि नाथ ! निपानपङ्कजैः ननु भूयोऽपि मृणालमण्डितैः ॥२८॥

हे नाथ ! मेरी दोनों कलाइयाँ आपके द्वारा पहनाये गये वर्तुलाकार कङ्कणों की कामना करती हैं जो कि मृणाल-युक्त सरोवरों के पङ्कजों से विरचित किये गये हों।

अयमस्ति विलोलकुन्तलो हतभाग्यो विजनाश्रयावधौ ।
कतिधाऽनुबभूव नो त्वया विहितां पत्रविधानचातुरीम् ॥२९॥

यह वही दुर्भाग्यशाली मेरा विलोल केशकुन्तल है जिसने कि वनवास की अवधि में आप द्वारा सम्पादित की गई पत्ररचना-चातुरी का कितनी ही बार अनुभव नहीं किया ?

सकृदेव पुनस्त्वदुत्सवं प्रणयाचारविभावितात्मनाम् ।
ननु जीवति जानकी चिरं वपुषां दर्पकदर्पनाशिनाम् ।।३०।।

हे स्वामी ! प्रणय-व्यवहारों से ओतप्रोत तथा कामदेव के दर्प का भी विनाश करने वाले आपके अङ्गों का साहचर्य-सुख, आपकी प्रिया जानकी एक बार पुनः जीना चाहती है ।

रघुनन्दन ! राम ! राघव ! क्षमसे सर्वमपि त्रिविष्टपम् ।
अवलोकितुमङ्ग ! किन्न मामरिगेहे निहितां समीक्षसे !!३१।।

हे रघुनन्दन ! हे राम ! हे राघव ! आप तो सम्पूर्ण त्रिलोकी को देख लेने की क्षमता रखते हैं, तब फिर शत्रु के घर में छिपाई गई मुझ वैदेही को क्यों नहीं देख पा रहे हैं ?

इति भूरिवचोभिरात्मिकीं गणयन्ती विपदं मनोव्यथाम् ।
घनवर्षणसन्निभाश्रुभिः स्नपयन्ती विललाप जानकी ।।३२।।

इस प्रकार, प्रभूत शब्दावलियों द्वारा अपनी विपत्ति एवं मनोव्यथा का प्रकाशन करती हुई तथा मेघवर्षा के समान आँसुओं से स्वयं को स्नान कराती हुई जानकी विलाप करती रही ।

अवलोक्य तदीयदुर्विधं सदयं पार्श्वमुपेत्य सत्वरम् ।
त्रिजटा निजगाद चिन्मयी न शुचं याहि परां विदेहजे !!३३।।

सीता के दुर्भाग्य एवं कष्ट को देखकर ममता से ओतप्रोत तथा सात्त्विक वृत्ति वाली त्रिजटा—वेगपूर्वक समीप आ पहुँची और बोली—हे विदेहनन्दिनि ! बहुत अधिक शोक मत करो ।

ननु राक्षसवंशजाऽप्यहं तव दैन्यं विपदं विभावये ।
त्वमसि प्रियजीवितान्तरं शुभचारित्र्यवती प्रियार्पिता ।।३४।।

यद्यपि मैं भी राक्षसों के वंश में जन्मी हूँ, फिर भी तुम्हारे दैन्य एवं विपत्ति को (भली-भाँति) समझ रही हूँ । तुम अपने स्वामी के द्वितीय प्राण के समान हो, पवित्र चरित्र वाली हो और अपने प्रिय पर सर्वात्मना अर्पित हो ।

शयनं तव भूमिवेदिका व्रतमूर्ध्वं रजनीषु जागरः ।
अभिषेक इवाश्रुवर्षणं नियताहारविधिश्च जीवितुम् ॥३५॥

भूमि-वेदिका ही तुम्हारी शय्या है, रात्रि-जागरण ही तुम्हारा कठिन व्रत है, अश्रुवर्षा ही तुम्हारे लिए मानों स्नान है और नियमित आहार-विधि ही तुम्हारे (अब तक) जीवित रहने का कारण है ।

अयि देवि विदेहजे! त्वया बहु सोढं बहुमानलाञ्छनम् ।
दशशीर्षनृशंसकर्मणा ननु लङ्का क्षयमेष्यति ध्रुवम् ॥३६॥

हे देवि विदेहनन्दिनी ! तुमने अपनी प्रतिष्ठा का अपार लाञ्छन सहा । रावण के इस नृशंस दुष्कर्म से निश्चय ही लङ्कापुरी विनष्ट हो जायेगी ।

विवशासि हतासि मैथिलि ! प्रतिरुद्धासि वियुक्तवल्लभा ।
अवधीरणदैन्यधर्षिता पतिचिन्ताग्लपितासि भामिनि !!३७॥

हे मैथिली! (मैं जानती हूँ कि) तुम विवश हो, बन्धन में नियन्त्रित हो, निराश हो, अपने प्राणवल्लभ से वियुक्त हो, अपमान एवं दैन्य से धर्षित हो और पति-विषयक चिन्ता से सर्वथा मुरझाई हुई हो ।

न मयेति न तेऽनुभूयते निकृतिर्देवि! तथापि वच्म्यहम् ।
त्यज मा त्वरितं जिजीविषां हृदयं धारय वल्लभाशया ॥३८॥

हे देवि! ऐसी बात नहीं है कि मैं तुम्हारे अपमान का अनुभव नहीं कर रही हूँ । फिर भी मैं तुमसे यही निवेदन करती हूँ कि इतनी जल्दी अपनी जिजीविषाका परित्याग मत करो । प्राणवल्लभ के पुनर्मिलन की आशा से जीवन धारण करो ।

ध्रुवमेष्यति शोकमूर्च्छनां रघुवीरोऽपि तवाक्षतस्मृतिः ।
न दुनोति विशिष्य चन्द्रिकामुपरागो विधुमप्यमत्यलम् ॥३९॥

निश्चय ही तुम्हारी स्मृतियों में प्रतिपल खोये हुए रघुबीर भी शोक एवं मूर्च्छा का अनुभव करते होंगे । ग्रहण केवल चन्द्रिका को ही कष्ट नहीं देता है, अपितु चन्द्रमा को भी अतिशय धर्षित करता है ।

न भविष्यति राघवः सुखी विरहे नन्दिनि! तावके ध्रुवम् ।
ननु विश्वसिहि प्रवर्धितार्तिरसौ ते कुरुते गवेषणाम् ।।४०।।

हे नन्दिनी! तुम्हारे विरह-वियोग में, सच मानो, राघव भी सुखी नहीं होंगे। निश्चय ही, तुम विश्वास करो कि—बढ़ी हुई व्यथा एवं वेदना वाले वह भी तुम्हारी ही खोजबीन कर रहे होंगे।

अहमस्मि तवाङ्घ्रिचारिणी मयि विश्वस्तमनास्त्वमर्हसि ।
अभिधातुमशेषमन्त्रणां मनसो नासि शुभे! ह्यरक्षिता ।।४१।।

हे शुभे! मैं तुम्हारे चरणों की परिचारिका हूँ। विश्वस्त मन से तुम मुझसे अपने मन की सारी बात कह सकती हो। मेरे रहते तुम किसी भी प्रकार अरक्षित नहीं हो।

न बिभीहि च रावणाधमात् स्मरमूर्च्छाहृतधर्मगौरवात् ।
अयि देवि! न तेऽवमाननां क्षमते कर्तुमसौ हि भीरुकः ।।४२।।

काममद ने जिसका आचार-विवेक नष्ट कर दिया है ऐसे अधम रावण से तुम डरो नहीं। हे देवि! वह डरपोक तुम्हारी अवमानना करने की सामर्थ्य नहीं रखता।

अवबुध्यसि सत्यमेव चेत् स्वतनुं वल्लभलोभरक्षितम् ।
तदिमां फलमूलसेवनैरशनैर्वा परिवोढुमर्हसि ।।४३।।

यदि तुम सचमुच अपने को प्राणवल्लभ के लोभ से स्वस्थ रखना चाहती हो तो फिर फलों एवं कन्दमूलों के सेवन से अथवा अल्पमात्र भोजन से उसे सुरक्षित बनाये रखना तुम्हारे लिए उचित है।

नृपनन्दिनि! तावकं तपः परिणामं धृतभूरिमङ्गलम् ।
त्वरितन्नु ददाति मे मनो नितरां विश्वसितीति निर्मलम् ।।४४।।

हे राजपुत्री! मेरा निष्पाप मन सदैव यही विश्वास करता है कि तुम्हारी यह तपस्या प्रभूत मङ्गल से ओत-प्रोत परिणाम, बहुत शीघ्र ही प्रकट करेगी।

शयनं तव भूमिवेदिका व्रतमूर्ध्वं रजनीषु जागरः ।
अभिषेक इवाश्रुवर्षणं नियताहारविधिश्च जीवितुम् ।।३५।।

भूमि-वेदिका ही तुम्हारी शय्या है, रात्रि-जागरण ही तुम्हारा कठिन व्रत है, अश्रुवर्षा ही तुम्हारे लिए मानों स्नान है और नियमित आहार-विधि ही तुम्हारे (अब तक) जीवित रहने का कारण है ।

अयि देवि विदेहजे! त्वया बहु सोढं बहुमानलाञ्छनम् ।
दशशीर्षनृशंसकर्मणा ननु लङ्का क्षयमेष्यति ध्रुवम् ।।३६।।

हे देवि विदेहनन्दिनी ! तुमने अपनी प्रतिष्ठा का अपार लाञ्छन सहा । रावण के इस नृशंस दुष्कर्म से निश्चय ही लङ्कापुरी विनष्ट हो जायेगी ।

विवशासि हतासि मैथिलि ! प्रतिरुद्धासि वियुक्तवल्लभा ।
अवधीरणदैन्यधर्षिता पतिचिन्ताग्लपितासि भामिनि !!३७।।

हे मैथिली! (मैं जानती हूँ कि) तुम विवश हो, बन्धन में नियन्त्रित हो, निराश हो, अपने प्राणवल्लभ से वियुक्त हो, अपमान एवं दैन्य से धर्षित हो और पति-विषयक चिन्ता से सर्वथा मुरझाई हुई हो ।

न मयेति न तेऽनुभूयते निकृतिर्देवि! तथापि वच्म्यहम् ।
त्यज मा त्वरितं जिजीविषां हृदयं धारय वल्लभाशया ।।३८।।

हे देवि! ऐसी बात नहीं है कि मैं तुम्हारे अपमान का अनुभव नहीं कर रही हूँ । फिर भी मैं तुमसे यही निवेदन करती हूँ कि इतनी जल्दी अपनी जिजीविषाका परित्याग मत करो । प्राणवल्लभ के पुनर्मिलन की आशा से जीवन धारण करो ।

ध्रुवमेष्यति शोकमूर्च्छनां रघुवीरोऽपि तवाक्षतस्मृतिः ।
न दुनोति विशिष्य चन्द्रिकामुपरागो विधुमप्यमत्यलम् ।।३९।।

निश्चय ही तुम्हारी स्मृतियों में प्रतिपल खोये हुए रघुबीर भी शोक एवं मूर्च्छा का अनुभव करते होंगे । ग्रहण केवल चन्द्रिका को ही कष्ट नहीं देता है, अपितु चन्द्रमा को भी अतिशय धर्षित करता है ।

न भविष्यति राघवः सुखी विरहे नन्दिनि! तावके ध्रुवम् ।
ननु विश्वसिहि प्रवर्धितार्तिरसौ ते कुरुते गवेषणाम् ।।४०।।

हे नन्दिनी! तुम्हारे विरह-वियोग में, सच मानो, राघव भी सुखी नहीं होंगे। निश्चय ही, तुम विश्वास करो कि—बढ़ी हुई व्यथा एवं वेदना वाले वह भी तुम्हारी ही खोजबीन कर रहे होंगे।

अहमस्मि तवाङ्घ्रिचारिणी मयि विश्वस्तमनास्त्वमर्हसि ।
अभिधातुमशेषमन्त्वणां मनसो नासि शुभे! ह्यरक्षिता ।।४१।।

हे शुभे! मैं तुम्हारे चरणों की परिचारिका हूँ। विश्वस्त मन से तुम मुझसे अपने मन की सारी बात कह सकती हो। मेरे रहते तुम किसी भी प्रकार अरक्षित नहीं हो।

न बिभीहि च रावणाधमात् स्मरमूर्च्छाहृतधर्मगौरवात् ।
अयि देवि! न तेऽवमाननां क्षमते कर्तुमसौ हि भीरुकः ।।४२।।

काममद ने जिसका आचार-विवेक नष्ट कर दिया है ऐसे अधम रावण से तुम डरो नहीं। हे देवि! वह डरपोक तुम्हारी अवमानना करने की सामर्थ्य नहीं रखता।

अवबुध्यसि सत्यमेव चेत् स्वतनुं वल्लभलोभरक्षितम् ।
तदिमां फलमूलसेवनैरशनैर्वा परिवोढुमर्हसि ।।४३।।

यदि तुम सचमुच अपने को प्राणवल्लभ के लोभ से स्वस्थ रखना चाहती हो तो फिर फलों एवं कन्दमूलों के सेवन से अथवा अल्पमात्र भोजन से उसे सुरक्षित बनाये रखना तुम्हारे लिए उचित है।

नृपनन्दिनि! तावकं तपः परिणामं धृतभूरिमङ्गलम् ।
त्वरितन्नु ददाति मे मनो नितरां विश्वसितीति निर्मलम् ।।४४।।

हे राजपुत्री! मेरा निष्पाप मन सदैव यही विश्वास करता है कि तुम्हारी यह तपस्या प्रभूत मङ्गल से ओत-प्रोत परिणाम, बहुत शीघ्र ही प्रकट करेगी।

त्रिजटामितिवादिनीं प्रियामुपगूह्यातिजवेन जानकी ।
निजगाद सखि!त्वमेव मे हृदयज्ञा मम सम्बलं परम् ।।४५।।

इस प्रकार सान्त्वना देने वाली प्रिय त्रिजटा को अत्यन्त वेगपूर्वक बाहों में भरकर जानकी ने कहा हे सखि ! एकमात्र तुम्हीं मेरे हृदय को जानने वाली हो, तुम्हीं मेरा सर्वोत्तम आश्रय हो ।

क्षयमेति कदा विपन्निशाऽभ्युदयं याति च भाग्यभास्करः ।
नहि किञ्चिदपि प्रतीयते सखि! मध्यावधिजीविका त्वहम् ।।४६।।

मेरी विपत्ति-रजनी का अन्त कब होगा ? मेरा भाग्यभास्कर कब अभ्युदय प्राप्त करेगा ? हे सखि! मुझे तो कुछ भी स्पष्ट प्रतीत नहीं हो रहा है । मेरे प्राण तो विपत्ति और अभ्युदय के बीच लटके हुए हैं ।

इह रावणपालिते पुरे च्युतधर्मार्जवशीलसंस्कृतौ ।
मम पूर्वशुभैरथोद्गता मरणं स्याद्ध्रुवमन्यथा मम ।।४७।।

धर्माचरण, आर्जव, शील एवं संस्कार से विरहित, रावण द्वारा पालित इस लङ्कापुरी में मेरे पूर्वजन्म के पुण्यों से सहृदय एकमात्र तुम उत्पन्न हो गई हो । अन्यथा मेरी मृत्यु हो जानी निश्चित थी ।

पटहध्वनिरुत्थितोऽन्तरा दशशीर्षागमवृत्तवेदकः ।
त्रिजटाऽपससार मैथिलीमुपलाल्यातिमुदा यशस्विनी ।।४८।।

इसी बीच में दशानन के आगमन की सूचना देने वाली, नगाड़े की ध्वनि सुनायी पड़ने लगी । अतः यशस्विनी त्रिजटा प्रसन्नतापूर्वक मैथिली को समझा-बुझा-कर वहाँ से दूर हट गयी ।

रविकोटिसमप्रभैर्युतो ह्यवतंसैर्विविधाङ्गसङ्गतैः ।
घृतचारुदुकूलकञ्चुकः परिणद्धाऽमितरत्नसञ्चयः ।।४९।।

करोड़ों सूर्यों के समान प्रभा वाले, विभिन्न अङ्गों में धारण किये गये आभूषणों से युक्त, मनोहर दुकूल-कञ्चुक पहने हुए तथा असंख्य रत्न-समूहों से ओतप्रोत ।

करलम्बितचन्द्रहासकः शिवभूत्यञ्चितभालपट्टकः ।
गजमन्दगतिः स्मरेषुभिर्हृदि विद्धोऽथ ससार रावणः ।।५०।।

हाथ में चन्द्रहास नामक खड्ग थामें, भालपट्ट पर भगवान शिव की विभूति मले हुए, गजराज के समान मन्दगति वाला तथा काम के बाणों से बिद्ध हृदय वाला लङ्कापति रावण तभी आगे बढ़ा ।

स विलोक्य विदेहजां ज्वलन्मणिभूषामिव हृद्यभीषणाम् ।
भुजगस्य भिया शशाक नो सहसा स्वीयवचांसि जल्पितुम्।।५१।।

विषधर सर्प की ज्वलन्त मणिभूषा के समान रमणीय एवं भीषण वैदेही को देखकर अकस्मात् रावण अपने उद्गारों को प्रकट करने में भय के मारे समर्थ नहीं हो सका ।

शलभो नु यथा शिखार्दितो दहनात्प्राक् भयमेति पुष्कलम् ।
स ददर्श विनीतलोचनां नियमक्षामतनुं तथैव ताम् ।।५२।।

जैसे किसी दीपशिखा के मोह से विद्ध कोई शलभ, जल-मरने से पूर्व प्रभूत भय का अनुभव करता है रावण ने भी व्रत एवं नियम के कारण क्षीण शरीर वाली तथा विनत लोचनों वाली सीता को उसी प्रकार देखा ।

अवलम्ब्य विपन्नसाहसं निजगादाथ वचो यथायथम् ।
शृणु मैथिलि! यन्मयोच्यते निभृतं देहि यथोचितोत्तरम् ।।५३।।

तदनन्तर अपने बचे-खुचे साहस का सहारा लेकर उसने जैसे-तैसे अपनी बात कहनी प्रारम्भ की—हे मैथिलि मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसे चुपचाप सुनो और मुझे उसका समुचित उत्तर दो ।

हृदये मम राजतेऽनघे ! तव मूर्तिर्गुणरूपदीपिनी ।
दयसे न कथं दशानने जितदेवासुरसिद्धचारणे ।।५४।।

है अनघे! सद्गुणों एवं रूप-लावण्य से उद्दीप्त तुम्हारी मूर्ति मेरे हृदय-मन्दिर में विराजमान है । तब फिर तुम देवताओं, असुरों, सिद्धों एवं चारणों को भी जीत लेने वाले मुझ दशानन पर क्यों नहीं कृपालु हो रही हो ?

हरिणाक्षि! जिगीषुसत्तमं त्रिजगज्जिष्णुमुपेत्य रावणम् ।
वद पूर्तिमिता न का स्पृहा विभवेऽप्यद्य न येन मोदसे ।।५५।।

हे हरिणाक्षि ! विजयशील नरपतियों में सर्वश्रेष्ठ, त्रिलोकविजयी रावण को प्राप्त कर भला तुम्हारी कौन सी इच्छा पूर्ण नहीं हुई ! जिसके कारण वैभव के वातावरण में रहती हुई भी तुम प्रसन्न नहीं हो । बताओ न !

अपहाय दरिद्रराघवं हृतराज्यं गतवैभवञ्च तम् ।
अयि मानिनि! लोकवन्दितं भज मां त्वं महिषीप्रतिष्ठया ।।५६।।

ऐश्वर्य-विहीन तथा अपहृत साम्राज्य वाले उस दरिद्र राघव को छोड़कर हे मानिनि ! राजमहिषी की प्रतिष्ठा प्राप्त कर तुम त्रिलोकवन्दित मुझ रावण को स्वीकार करो ।

उपयास्यति यौवतं नु मे तव दास्यं मयजापुरस्सरम् ।
अवलोकय साम्प्रतं मुदा सकृदेवोपनतं दशाननम् ।।५७।।

मयनन्दिनी मन्दोदरी सहित मेरा सम्पूर्ण अन्तःपुर तुम्हारी सेवा-परिचर्या में निरत रहेगा । अब तो भला एक बार प्रसन्नतापूर्वक पास आये हुए दशानन को देखो ।

अयि जानकि ! ते प्रतीक्षया न मयाऽद्यावधि साहसं कृतम् ।
कतिधा न निवेदनं कृतं किमु रोषो मयि नावसीयते !!५८।।

हे जानकी ! तुम्हारे अनुमोदन की प्रतीक्षा करते-करते आज तक मैंने साहस (जोर-जबरदस्ती) नहीं किया । कितनी ही बार मैंने प्रणयनिवेदन नहीं किया ? आखिर मेरे प्रति तुम्हारा रोष समाप्त क्यों नहीं हो रहा है ?

प्रणयार्तिनिवेदनैरिति प्रकटय्य स्वमनोरथम्मुदा ।
अथ मौनमुपेयुषि श्लथे दशशीर्षे निजगाद जानकी ।।५९।।

इस प्रकार प्रणयवेदना के निवेदनों द्वारा, प्रसन्नतापूर्वक अपने मनोरथ को प्रकट कर जब निरुत्साह दशानन मौन हो उठा तथा सीता ने कहा ।

अयि रावण ! धिक् पराक्रमं विजयं धिक् तव पाण्डितीमपि ।
चरितं खलु ते प्रमाणयेत् तव शौर्यं विभवं यशस्करम् ।।६०।।

हे रावण ! धिक्कार है तेरे विजय और पराक्रम को । तेरे पाण्डित्य को भी धिक्कार है । तेरा दुश्चरित्र ही प्रमाणित कर रहा है कि तू कितना पराक्रमी, ऐश्वर्यशाली एवं यशस्वी है ।

रघुनाथपदाब्जमाधुरीं मनसाऽप्यन्यजनं न चिन्वतीम् ।
इह पञ्जरबन्धनाश्रितामबलां मां वदितुं न लज्जसे !!६१।।

रघुनाथ के चरण-कमलों की माधुरीभूता, मन से भी परपुरुष का चिन्तन न करने वाली और इस लङ्कापुरी में एक राजमहल में बलपूर्वक नियन्त्रित कर दी गई मुझ अबला से वार्ता करते तुझे लाज नहीं आ रही है ?

शिवभक्तिरियं नु कीदृशी प्रणयश्च व्यभिचारसङ्गतः ।
गरिमाणमहो न रक्षति प्रमदाया धिगिदं विलोचनम् ।।६२।।

यह तेरी कैसी शिवभक्ति है ? और कैसा है तेरा यह प्रेम जो व्यभिचार से सङ्गत है ? जो एक नारी की गरिमा की रक्षा नहीं करते आह ! धिक्कार है तेरे इन नेत्रों को ।

अयि रावण ! ते नु पौरुषं क्व गतं शम्भुपिनाकतोलने ।
परिणीय कथं न मां तथाऽनलसाक्ष्यैरुपनीतवानसि ।।६३।।

रावण ! मैं पूछती हूँ भगवान् शिव का विनाक धनुष उठाते समय तेरा पौरुष कहाँ चला गया था (यदि तुझमे सामर्थ्य थी तो) यज्ञमण्डप में ही धनुष तोड़कर, अग्नि को साक्षी मानकर तू मुझे विवाह कर क्यों नहीं ले आया ?

बहु जल्पसि मूढ ! किं मुधा ननु ते मृत्युरुपैति तेऽन्तिकम् ।
उपयास्यसि तामधोगतिं प्रगता यां खरदूषणादिकाः ।।६४।।

जडबुद्धि ! तू व्यर्थ ही इतनी बकवास क्यों करता है ? निश्चय ही तेरी मृत्यु तेरे सिर पर मँडरा रही है । तेरी वही अधोगति होने वाली है जो खर और दूषण आदि की हुई ।

कुलिशादपि घोरघस्मरो रघुनाथस्य शरोऽग्निसन्निभः ।
तव तूलतनुं रणाङ्गणे ज्वलयिष्यत्यथ नाऽत्र संशयः ।।६५।।

दहकती अग्नि के समान रघुनन्दन का बाण वज्र से भी कहीं अधिक भीषण एवं विनाशकारी है। समरभूमि में रूई जैसी तेरी शरीर को जलाकर भस्म कर देगा—इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

दनुजाधम ! मां न ते रतिः प्रणयो वाऽथ समाहरत् किल ।
नियतं भृणु जानकी त्वयाऽन्वयनाशाय बलाद्विहाहृता ।।६६।।

हे राक्षसाधम ! निश्चय ही तेरी आसक्ति अथवा तेरा प्रेम मुझे लङ्का में नहीं ले आया है। इस बात को कान खोलकर सुन ले कि अपने वंश का समूल नाश कराने के लिए ही तूने सीता का बलपूर्वक हरण किया है।

न भयं मम चन्द्रहासतः भृणु कामान्ध ! मुमूर्षुरस्म्यहम् ।
रघुनाथदिदृक्षया परं वपुरद्यावधि रक्ष्यते मया ।।६७।।

हे कामान्ध। तू यह भी सुन ले कि मुझे तेरे चन्द्रहास (खड्ग) से भय नहीं है। मैं तो स्वयं मरने को इच्छुक हूँ, परन्तु मात्र रघुनाथ के दर्शन की आकाङ्क्षा से आज तक अपने शरीर की रक्षा करती चली आ रही हूँ।

इयदेव न ते विभासितं नलिनी भास्कररागरञ्जिता ।
अमृतांशुमपि प्रभोज्ज्वलं निशि दृष्ट्वा न विकासमश्नुते ।।६८।।

इतनी छोटी सी बात तेरी समझ में नहीं आयी कि कमलिनी केवल भास्कर के अनुराग से रञ्जित होती है ? शीतल रात्रि में प्रभापटल से उज्ज्वल अमृतांशु चन्द्रमा को भी देखकर वह विकसित नहीं होती है।

अहमस्मि रघूत्तमप्रिया रघुनाथाननचन्द्रचन्द्रिका ।
इतरेषु जनेषु का स्पृहा पुरुहूतोऽस्त्वथवाऽस्तु रावणः ।।६९।।

मैं भी रघूत्तम श्रीराम की भार्या हूँ। केवल(अपने स्वामी)रघुनाथ के मुखचन्द्र की चन्द्रिका हूँ। और व्यक्तियों के प्रति मेरी स्पृहा कैसी ? चाहे वह देवराज इन्द्र हो चाहे लङ्कापति रावण !

गणय स्वदिनानि रावण ! दयितो मे न भविष्यति श्लथः ।
त्वमवाप्स्यसि निश्चितं फलं द्रुतमेवाचरितस्य सङ्गरे ।।७०।।

हे रावण ! अब तेरे जीवन के गिने-चुने दिन रह गये हैं। मेरे स्वामी निष्क्रिय नहीं बैठे होंगे। समर-भूमि में बहुत शीघ्र ही तू अपने आचरण का सुनिश्चित फल प्राप्त करेगा !

इति तप्तवचांसि मैथिली निजगाद त्वरितं पराङ्मुखी ।
रुदती ननु बाष्पगद्गदा नतशीर्षाऽवगणय्य रावणम् ।।७१।।

पराङ्मुख हुई मैथिली ने, बिना रुके इस प्रकार के जले-कटे बचन कहे। सिर नीचे झुकाकर, रावण को तिरस्कृत करती हुई वह आँसुओं से सराबोर होकर रोने लगी।

अवलोक्य विदेहजातनुं घनगर्भामिव दीप्तदामिनीम् ।
निकृतिञ्च निशम्य शल्यदां भयरोषौ युगपद्ववार सः ।।७२।।

घनघटा के अन्तराल में विद्यमान देदीप्यमान विद्युल्लता के समान वैदेही के व्यक्तित्व को देखकर तथा शल्य (घाव) उत्पन्न कर देने वाले अपने अपमान को सुनकर, रावण एक ही साथ, भय और रोष से भर उठा।

अनुभूय निजावमाननां विकरालं स हि चन्द्रहासकम् ।
अवकृष्य रुषैव कोशतो ज्वलदङ्गारनिभो जगाद ताम् ।।७३।।

अपनी अवमानना का अनुभव करके, जलते हुए अग्नि-पिण्ड के समान दशानन ने मारे क्रोध के अपना विकराल चन्द्रहास नामक खड्ग कोश से बाहर खींच लिया और वैदेही से बोला !

विषवल्लरि ! मैथिलि ! त्वया मम रागं ह्यपलप्य जल्पितम् ।
अधरोत्तरमाश्रितं बहु प्रथमञ्चापि तथैव साम्प्रतम् ।।७४।।

मैथिलि ! तू विषबल्लरी जैसी है। मेरे अनुराग को तिरस्कृत करके तू पहले भी बहुत खरी-खोटी बकवास कर चुकी है और आज भी तूने वही किया।

ननु शोकरयो न ते गतः प्रतिकूलानि मया कृतानि ते।
प्रमदासि दशास्यगौरवं न विजानासि पतिप्रवञ्चिता ।।७५।।

(इससे ज्ञात होता है कि) तेरे शोक का वेग अभी भी समाप्त नहीं हुआ है। मैंने तेरी इच्छा के विपरीत आचरण किया है। तू एक नारी है जो अपने पति से वञ्चित हो गयी है। तू दशानन के गौरव को भली-भाँति जानती भी नहीं।

इति हेतुतुरीयनिष्ठया सकृदद्यापि वचांसि मर्षये।
पुनरेवमवद्यवादिनीं नियतं हन्मि परन्तु दुर्मुखीम् ।।७६।।

इन चार कारणों के औचित्यवश मैं एक बार पुनः आज तेरी बकवास को सहे ले रहा हूँ। परन्तु यदि तूने पुनः ऐसी क्षुद्र वाणी व्यक्त की तो निश्चय ही मैं तुझ दुर्मुखी को मार डालूँगा।

इति रोषमनोव्यथाभरैः श्लथयात्रो मणिमण्डपाद्बहिः।
गतवान् विमनाः शनैः शनैर्दशकण्ठो भवनं तिरस्कृतः ।।७७।।

इस प्रकार क्रोध एवं मनोवेदना से बोझिल, शिथिल पदगति वाला, वैदेही द्वारा तिरस्कृत रावण मणिमण्डप से बाहर निकल कर, धीरे-धीरे अपने भवन की ओर चल पड़ा।

निर्भर्त्स्य दीप्तवचसा विगते दशास्ये सीता रुरोद करुणं त्रिजटामवाप्य।
हा देव राघव! विलोकय जानकीं स्वां दुर्वृत्तराक्षसमनोभवलक्ष्यभूताम् ।।७८।।

दाहक वचनों से निर्भर्त्सित दशानन के चले जाने पर त्रिजटा के गले लगकर सीता करुणा विलाप करने लगी—हे स्वामी! हे प्राणनाथ राघव! लम्पट राक्षस की कामभावना का लक्ष्य बनने वाली अपनी जानकी को तो देखो!

नेदं वपुः श्रयति मे शुचितां पुराणीं स्पर्शेण दूषितमहोऽधमरावणस्य।
अद्यैव नाथ! विदहामि चिताग्नितल्पे स्याद्येन जन्मनि नवे पुनरेव पूतम् ।।७९।।

मेरा यह शरीर पहले जैसी पवित्रता वाला नहीं रहा। आह! मैं अधम रावण के स्पर्श से दूषित हो चुकी हूँ! हे नाथ! मैं आज ही इस शरीर को चिता की अग्नि-शय्या पर भस्म कर दूँगी। ताकि अगले जन्म में यह पुनः (पूर्ववत्) पवित्र बन सके।

मद्दुःखसङ्गिनि! सखि त्रिजटे! दयस्व आनीय काष्ठदहनादि चितां विधेहि।
सह्यो न सम्प्रति मयाऽयमवद्यभारस्तज्जीवितं सपदि भस्मचयं करिष्ये ॥८२

मेरे दुःखों की सङ्गिनी! सखि त्रिजटे! मुझ पर इतनी कृपा कर। काष्ठ एवं अग्नि आदि ले आकर एक चिता बना दे। यह कलंक-भार अब मुझसे सहा नहीं जाता। अतः क्षणमात्र में ही अपने जीवन को मैं भस्म रूप में परिणत कर दूँगी।

प्राणैषणां दयितसङ्गमिनीं विहाय सीता दशाननतिरस्कृतिनष्टधैर्या।
काष्ठाग्निसञ्चयममुं बहुशो ययाचे निर्यद्विलोचनजला त्रिजटां प्रविद्धाम् ॥८१

इस प्रकार, दयित-सङ्गम के लिए लालायित अपनी जीवनेच्छा को तिलाञ्जलि देकर, रावण के तिरस्कार से विनष्ट धैर्य वाली तथा अविरल अश्रुधारा से ओत-प्रोत सीता शोकविद्ध त्रिजटा से बार-बार काष्ठ एवं अग्नि को जुटाने की याचना करने लगी।

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दबिन्दुरुचिरं सीताप्रमाणैः कृतम्।
तस्मिन् पूर्तिमुपैत्ययं करुणया सम्प्लावितो द्वादशः
सर्गोऽशोकवनाश्रयाभिध इह श्रीजानकीजीवने ॥८२॥

नवीन घटनाओं वाला, नवीन कथापरम्परा स्थापित करने वाला, घनीभूत आनन्दरूपी मरन्दबिन्दुओं से रमणीय जो मधुवर्षी काव्य देवी सीता की ही प्रेरणाओं से विरचित किया गया है उस जानकीजीवन नामक महाकाव्य में करुणा से सम्प्लावित तथा 'अशोकवनाश्रय' संज्ञा वाला यह बारहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीबिल्हणोक्तं सुमम्।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥८३॥

कवीन्द्र कालिदास की कविता ही जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पर्णसमूह है, बिल्हण की उक्तियाँ जिसका पुष्प हैं और पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—अपनी ही नियति से उत्पन्न हुआ वह अभिराजराजेन्द्ररूपी काव्य-वृक्ष चिरजीवी बने।

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्येऽ
शोकवनाश्रयसंज्ञको द्वादशः सर्गः।

त्रयोदशः सर्गः

अथ प्रभातोन्मुखरात्रिकाले विनिद्रनेत्रा विगतं स्मरन्ती ।
शुश्राव वाणीममलाऽनवद्यां कुतोऽपि सीता सहसैव दिव्याम् ।।१।।

इसके अनन्तर. जब रात्रिवेला प्रभातोन्मुख थी और उचटी हुई नींद वाली सीता, बीती हुई (दुखद) घटनाओं का स्मरण कर ही रही थीं कि तभी अकस्मात् उन्होंने कहीं से सुस्पष्ट, उत्साह का संचार करने वाली, दिव्य वाणी सुनी ।

श्रीरामगाथाऽमृतमर्पयन्ती विकस्वरा प्राञ्जलभव्यभावा ।
सा वैखरी हर्षविषादभावं ससर्ज चित्ते युगपद् विचित्रम् ।।२।।

प्राञ्जल एवं भव्य भावों से भरी, परिस्फुट रूप से श्रीराम के चरितामृत को निवेदित करने वाली उस वैखरी ने (सीता के) मन में, एक ही साथ विचित्र हर्ष एवं विषाद (दोनों) के भाव भर दिये ।

ततापं सा जातविपत्तिशङ्का क्व राक्षसानां पुरि रामचर्चा !
भवेन्नु माया किल रावणस्य प्रास्ताविकं नाम छलान्तरस्य ।।३।।

विपत्ति की आशंका उत्पन्न हो जाने के कारण वैदेही सन्तप्त हो उठीं । राक्षसों की नगरी में भला राम की चर्चा कहाँ ? निश्चय ही यह रावण की माया होगी—किसी दूसरे छल की प्रस्तावना !

गता निशीथे त्रिजटा प्रबोध्य क्व वाऽपरा रोहति मत्समीपम् ।
कथञ्चिदप्यस्ति न चेह पुंसां शक्यः प्रवेशो ननु तर्हि कोऽयम् !!४।।

(वह मन ही मन सोचने लगीं) त्रिजटा तो मुझे सान्त्वना देकर अर्धरात्रि में ही लौट गई थी ! तो फिर, दूसरा कौन मेरे पास आने को है ! इस अशोक वन में किसी भी प्रकार, अन्य लोगों का प्रवेश सम्भव नहीं ! तो फिर यह है कौन ?

निभाल्य विष्वक् विरराम सीता तथापि नो कोऽपि कुतोऽप्यलोकि ।
अश्रूयताऽनन्दपयोधिगर्भाऽक्षता कथा केवलमिद्धसौख्या ।।५।।

चारों ओर देखकर सीता शान्त हो गईं, फिर भी कहीं कोई दिखाई नहीं पड़ा। बस, आह्लाद का संवर्धन करने वाली, आनन्द के समुद्र को सँजोए; अकेली प्रभु राघव की वह कहानी ही सुनाई पड़ती रही।

जयत्यसौ दाशरथिर्मनस्वी रघूद्वहो नीलबलाहकाभः ।
निदेशतः पूज्यपितुर्वने यो भार्याऽनुजाभ्यां सह संविवेश ।।६।।

नीलमेघ के समान देहप्रभा वाले, दशरथनन्दन उन मनस्वी रघुनाथ की जय हो जो अपने पूज्य पिता के आदेशवश. पत्नी एवं अनुज के साथ, गहन-वन में प्रविष्ट हुए।

उवास वर्षाणि बहूनि कुर्वन् स तापसानां महितोपकारम् ।
नीराक्षसं शंसितचित्रकूटं चकार यः प्रोद्यतधुर्यधन्वा ।।७।।

तपोधनियों का महान् उपकार करते हुए वह राघव बहुत वर्षों तक वन में रहे ! श्रेष्ठ धनुर्धर राम ने प्रसिद्ध चित्रकूट-क्षेत्र को राक्षस-विहीन बना दिया।

स दण्डके शूर्पणखां नृशंसां विरूपयन्नाशु खरं जघान ।
सैन्यं समग्रं खलु राक्षसानां य एकलस्साधु युयूष वीरः ।।८।।

दण्डक वन में नृशंस शूर्पणखा को विरूप बना कर जिन्होंने (उसके भाई राक्षसराज) खर को पल भर में मार डाला। जिन वीर राघव ने राक्षसों की समग्र सेना को, अकेले ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

स्ववंशजानां निधनं निशम्य सञ्जातरोषो भुवि रावणाख्यः ।
छलेन सीतां दयितां तदीयां प्रणाधिकां हन्त जहार नीचः ।।९।।

अपने वंशजों का महाविनाश सुनकर बिफरा हुआ, संसार में 'रावण' नाम से विख्यात. नीच लंकापति उन राघव की प्राणवल्लभा सीता को छलपूर्वक अपहृत कर ले गया।

अथैणरूपं विपदेकमूलं मारीचमाहत्य निवृत्य गेहम् ।
प्रियामपश्यन्नितरामधीरो बभूव रामो गलदश्रुदृष्टिः ॥१०॥

तदनन्तर, सारी विपत्ति के एकमात्र कारण, मृगरूपधारी मारीच का वध करके, पर्णशाला को लौटे राम, प्रिया को वहाँ न देख कर अतिशय अधीर हो उठे। उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी।

लतावितानानि खगान् पशूंश्च गोदावरीं पञ्चवटीं विशालाम् ।
गिरिं प्रपातं वनदेवदेवीः प्रियां नु पप्रच्छ चिराय रामः ॥११॥

लतावल्लरियों, पक्षियों, पशुओं, पर्वतों, प्रपातों से—गोदावरी नदी तथा विशाल पञ्चवटी से, दण्डकवन के देवों तथा देवियों से राम चिर-काल तक प्रिया सीता के विषय में पूछते रहे।

विदेहजाशून्यवनं विलापैर्व्यलीलपद्राघव आधिविद्धः ।
स लक्ष्मणेनानुजरत्नभूतेनाकारि शान्तः शपथैः स्वकीयैः ॥१२॥

मनोव्यथा से विंधे हुए राम ने (अपने) क्रन्दनों से सीता से विरहित समूचे दण्डकवन को ही रुला दिया! अन्ततः अनुजरत्न लक्ष्मण ने शपथ दे-देकर उन्हें जैसे-तैसे शान्त किया।

प्रियां विचिन्वन् गहने वनान्ते जटायुषं तातसखं खगेन्द्रम् ।
विदेहजारक्षणभूरियत्ने निकृत्तपक्षं समवाप वीरः ॥१३॥

गहन वन-प्रदेश में भार्या का अन्वेषण करते हुए वीर राघव ने अपने पिता के मित्र, पक्षिराज जटायु को देखा जिनके पंखे, सीता को बचाने के अनवरत प्रयत्न में (रावण द्वारा) काट डाले गये थे।

सविस्तरं वृत्तमनूद्य सर्वं दिवङ्गते पक्षिपतौ समक्षम् ।
संहृत्य काष्ठानि विमथ्य चाग्निं ददाह तं धुर्यमनन्तवीर्यः ॥१४॥

अपने समक्ष ही, सारा समाचार बताकर, पक्षिराज जटायु के दिवंगत हो जाने पर अनन्तवीर्य राघव ने, काष्ठ एकत्रित कर तथा अरणियों से अग्नि उत्पन्न कर, उस श्रेष्ठ पक्षी का दाह-संस्कार सम्पन्न किया।

अवाङ्‌मुखो नीवृति वर्धमानः स ऋष्यमूकान्तिकमाजगाम ।
यदीयशृङ्गे कपिसैन्ययुक्तः सुग्रीव आसीत्खलु वानरेन्द्रः ।।१५।।

तदनन्तर उस प्रदेश में, दक्षिण की ओर आगे बढ़ते हुए राम, ऋष्यमूक पर्वत के समीप आ पहुँचे जिसके शिखर पर वानरी सेना से अधिष्ठित, वानरराज सुग्रीव निवास करते थे !

कृशानुसाक्ष्ये सह तेन मैत्री नियोजिता मारुतिना सुखाय ।
संश्रुत्य सुग्रीवविपत्तिहेतुं प्रतिश्रुतं वालिवधाय तेन ।।१६।।

अग्नि को साक्षी बनाकर, पवनपुत्र हनूमान ने वहीं सुग्रीव के साथ राम की मित्रता कराई—परस्पर सुख के लिए ! सुग्रीव की विपत्ति का कारण जान-सुनकर राम ने वालिवध की प्रतिज्ञा ली ।

जघान स द्वन्द्वरतं बलिष्ठं तदग्रजं वालिनमिद्धशौर्यम् ।
विभूतिभार्यानगराधिवासव्यपाश्रयोपात्तसुकण्ठदैन्यम् ।।१७।।

वैभव, ऐश्वर्य, नगरनिवास तथा पत्नी को छीन कर जिसने सुग्रीव को दर-दर का भिखारी बना दिया था, ऐसे समृद्ध बल-पराक्रम वाले, द्वन्द्वयुद्ध में भिड़े हुए, सुग्रीव के बड़े भाई महाबली वाली को राम ने मार डाला ।

ततश्च वर्षर्तुदिनानि रामः प्रियास्मृतिक्लेशचयोर्जितानि ।
व्रती व्यतीयाय यथाकथञ्चित् तप्ताश्रुपातप्रविभिन्नदेहः ।।१८।।

उसके बाद, सन्तप्त अश्रुधारा से भीगी देह वाले व्रती राघव ने, वल्लभा की स्मृतियों से उत्पन्न क्लेशों से आप्यायित वर्षा-ऋतु के दिनों को, जैसे-तैसे काटा ।

घनोपरुद्धार्धविधौ प्रियाया विलम्बिकेशावृतचारुवक्त्रम् ।
कलापिनां नृत्ययुतां कलापे पर्याकुलं कुन्तललोलभारम् ।।१९।।

घनघटाओं से उपरुद्ध अर्धचन्द्रबिम्ब में, केश-कुन्तलों से अंशतः ढंके मनोहर मुखमण्डल को तथा नर्तनरत मयूरों के कलापों में प्रिया वैदेही के छहराए हुए चंचल केशकुन्तलों को ।

इन्दिन्दिराव्यक्तरवेषु वाचं स्फुटोत्पले मञ्जुलवल्गुहासम् ।
स्फुटीभवच्चम्पककुड्मलाग्रे सीमन्तरागस्य ललामलेखाम् ॥२०॥

मधुकरों की अस्फुट गुनगुनाहट में (सीता की) वाणी को, विकसित (श्वेत) कमलपुष्प में पवित्र एवं रमणीय हँसी को, विकसित होते हुए चम्पकपुष्प के अग्रभाग में (सीता के) माँग के सिन्दूर की ललाम लेखा को ।

निदर्शनैः किं बहुभिर्मयोक्तैरितस्ततस्तां प्रकृतिं समग्राम् ।
प्रियामयीमेव समीक्षमाणो जिजीव सः प्रस्रवणे मुमूर्षुः ॥२१॥

मेरे द्वारा कहे गए ढेर सारे उदाहरणों से क्या लाभ ? इधर-उधर (अपने चारों ओर) विद्यमान समूची प्रकृति को ही वैदेहीमय देखते हुए, चेतनाविहीन राघव प्रस्रवण-गिरि पर यथाकथंचित् जीवित रहे ।

निर्माय रूपं क्वचिदश्मपट्टे मनश्शिलाभिर्न तुतोष कामम् ।
च्युताश्रुभिः प्रोञ्छितशैलतल्पे प्राणेश्वरीं स्वामसकृल्लिलेख ॥२२॥

कभी-कभी तो पाषाणशिला पर मैनसिल के रंग से प्रिया वैदेही की आकृति बनाकर भी उन्हें परितोष न होता ! तब गिरती अश्रुधारा से शिलाखण्ड को धो-पोंछकर वह बार-बार अपनी प्राणेश्वरी का रूपांकन करते !

शिलाशयः क्वापि च गाढनिद्रः प्रियामवाप्याशु चुचुम्ब रामः ।
गाढोपगूढे ननु मध्यभग्ने प्रमत्तभावेन रुरोद मुक्तम् ॥२३॥

कभी-कभी शिला पर शयन करते राम, प्रगाढ़ निद्रा में ही प्रियतमा सीता को प्राप्त कर, वेगपूर्वक चूमने लगने । परन्तु प्रगाढ़ आलिङ्गन के (जागरणवश) बीच में ही भग्न हो जाने पर, प्रमत्तभाव से मुक्तकण्ठ क्रन्दन करने लगते ।

व्यथाकथेयं कथनैरसाध्या विदेहजाभर्तुरिति स्फुटम्मे ।
वियोगदुःखं स्वयमेव रामो जानाति सीता द्रुहिणोऽथवाऽसौ ॥२४॥

सीतापति राम की यह व्यथा की कथा बताने मात्र से समाप्त होने वाली नहीं है—यह मेरा निश्चय है । प्रिया-बिछोह की वह वेदना या तो स्वयं राम जानते हैं अथवा देवी सीता, या फिर स्वयमेव विधाता !

अथ व्यतीते जलदागमेऽसौ सुग्रीव आत्मीयचरान् दिदेश ।
विदेहजाऽन्वेषणदत्तचित्ताः प्रतस्थिरे कोटिमिताः कपीन्द्राः ।।२५।।

इसके पश्चात् पावस ऋतु बीत जाने पर वानरराज सुग्रीव ने अपने सेवकों को आदेश दिया । वैदेही के अन्वेषण में दत्तचित्त करोड़ों वानर-वीर (विभिन्न दिशाओं में) प्रस्थित हुए ।

यूथः प्रतस्थे दिशि दक्षिणस्यां कृतात्मनामन्यतमः कपीनाम् ।
विमार्गयन्तो वनराजिकूटान् समुद्रवेलां ददृशुश्च सर्वे ।।२६।।

सौभाग्यशाली वानरों का एक दल दक्षिण दिशा में (भी) प्रस्थित हुआ । वनपंक्तियों एवं पर्वतशिखरों में सीता की खोज-बीन करते उन सब ने (दक्षिण) समुद्र की लहरों का दर्शन किया ।

निशम्य सम्पातिमुखेन देव्याश्छलेन लङ्कापतिनाऽपहारम् ।
प्रबोधितो जाम्बवता हनूमान् ललङ्घ सिन्धुं स्मृतकोसलेन्द्रः ।।२७।।

(गृद्धराज) सम्पाती के मुँह से लंकापति रावण द्वारा छलपूर्वक किये गये सीता-हरण का वृत्तान्त सुनकर, ऋक्षपति जाम्बवान् द्वारा ललकारे गये (पवनपुत्र) हनूमान् कोसलेन्द्र राघव का नाम लेकर, (अथाह) सागर लाँघ गये ।

स लङ्किनीं मुष्टिरयप्रहारैः प्रत्यूहभूतां निभृतं निहत्य ।
प्रदोषकाले प्रविवेश पुर्यां लघिष्ठरुपोऽप्यनिरीक्ष्यमूर्तिः ।।२८।।

विघ्नबाधा उत्पन्न करने वाली राक्षसी लंकिनी को उन्होंने घूंसों के जोरदार प्रहारों से मार कर, कठिनाई से दीख पड़ने वाली लघुतम आकृति धारणकर, सन्ध्या-वेला में लंकापुरी में प्रवेश किया ।

गृहे-गृहे साधु निरीक्षमाणः प्रतोलिकाट्टेषु च तां वलभ्याम् ।
समाससादाथ गतेऽर्धरात्रे प्राभञ्जनिर्नीपवनं तदेतत् ।।२९।।

देवी वैदेही को घर-घर में भलीभाँति खोजते हुए, प्रतोलिकाओं (छत) अट्टालिकाओं तथा वलभियों (एकान्त कक्ष) को देखते हुए प्रभञ्जनपुत्र हनूमान्, अर्धरात्रि के समय इस उपवन में आ पहुँचे ।

आस्थायवृक्षे न्विह शिंशपायां निरन्तरालच्छदगर्भगूढः ।
ददर्श सर्वं ज्वलदग्निरोषस्स आञ्जनेयो दशशीर्षकृत्यम् ।।३०।।

इस अशोकवन में विद्यमान शिंशपा (सीसम) वृक्ष पर आरूढ़ तथा सघन पर्णों के अन्तराल में विलीन होकर हनूमान् ने, दहकती आग के समान क्रोध से सम्मूर्छित होकर, दशानन रावण के सारे कुकृत्यों को देखा ।

न राक्षसोऽहं न च रावणोऽहं छलं न वेदं न मृषेन्द्रजालम् ।
अवेहि मामम्ब ! तदीयदूतं यस्य स्मृतौ जीवितकातराऽसि ।।३१।।

न मैं राक्षस हूँ और न ही (राक्षसराज) रावण ! न यह कोई छल है और न ही झूठा इन्द्रजाल ! हे जननि ! मुझे उन्हीं का दूत समझो जिनके स्मरण में तुम जीवन से निराश हो बैठी हो ।

इयं कथा प्रत्ययमात्रसिद्ध्यै आश्राविता सारमयी त्वदर्थम् ।
उपैमि मातस्तदहं पुरस्तात् विभीहि नो तेऽस्मि तनूजभूतः ।।३२।।

विश्वासमात्र की सिद्धि के लिये यह संक्षिप्त कथा मैंने आपको सुनाई । हे माता ! अब मैं आपके सामने प्रस्तुत हो रहा हूँ ! आप डरें नहीं (क्योंकि) मैं आपका पुत्रकल्प हूँ ।

इतीरयन् तुङ्गतरोस्सझम्पं प्रकूर्द्य भूमौ विनतो हनूमान् ।
तस्थौ समक्षं दयितप्रवृत्तिश्रुतिश्लथाया वसुधाङ्कजायाः ।।३३।।

इस प्रकार कहते हुए, ऊँचे वृक्ष से, झमाके के साथ पृथ्वी पर कूद कर विनम्र हनूमान्, स्वामी का कुशल-क्षेम सुनाने के लिए कातर वैदेही के समक्ष आ खड़े हुए !

समर्पयामास मुदाऽङ्गुलीयं श्रीरामनामाङ्कितमादरेण ।
जगाद चैनां श्रृणु देवि सीते ! मनस्समाधाय शुचं न याहि ।।३४।।

उन्होंने बड़ी प्रसन्नता एवं आदर के साथ श्रीराम के नाम से अंकित मुद्रिका समर्पित की और सीता से बोले-देवि वैदेहि ! सावधान मन से सुनें, शोक को न प्राप्त हों ।

त्वामेकलश्चापि सहैव नेतुं क्षमोऽस्म्यहं विश्वसिहि प्रकामम् ।
करोमि किं किन्तु न मेऽधिकारो नाज्ञापितोऽहं प्रभुणा तदर्थम् ।।३५।।

आप यह पूर्ण विश्वास रखें मन में कि मैं अकेला ही आपको अपने साथ ले जाने में समर्थ हूँ! परन्तु मैं करूँ क्या ? उस कार्य में न मेरा अधिकार है, न ही उसके लिये मैं स्वामी द्वारा आज्ञापित हूँ !

विहाय चिन्तां ग्लपनञ्च दैन्यं नियम्य मातर्नयनाश्रुवर्षम् ।
कालं प्रतीक्षस्व ससैन्यरामो द्रुतं समायाति वधाय शत्रोः ।।३६।।

चिन्ता, ग्लानि एवं दैन्य का त्याग कर तथा आँसुओं की अजस्र वर्षा को नियंत्रित कर हे जननी! आप समय की प्रतीक्षा करें! बहुत शीघ्र ही, शत्रु का वध करने के लिये, प्रभु राघव सेना के साथ आ रहे हैं ।

पौरन्दरी दिग् रुधिरायतेऽद्धा उदेष्यति क्षिप्रमुदर्कबिम्बः ।
अतोऽर्हसि त्वं प्रणयप्रतीकं कञ्चित्प्रदातुं प्रियसान्त्वनार्थम् ।।३७।।

निश्चित रूप से अब प्राची दिशा रक्तवर्ण हो रही है । रविबिम्ब यथाशीघ्र ही उदित होने को है । अतएव यह उचित होगा कि स्वामी राघव की सान्त्वना के लिये अपने प्रणय के प्रतीक-रूप में कोई वस्तु दें ।

निपीय वाचं प्रविलोक्य शौर्यं प्राणेश्वरप्रेषितमुद्रिकां ताम् ।
सा सस्पृहं प्रीतमनाः प्रचुम्ब्य प्रोवाच सीता गलदश्रुनेत्रा ।।३८।।

हनूमान् की वाणी सुनकर, उनका शौर्य-पराक्रम देखकर, सीता ने प्राणेश्वर राघव द्वारा प्रेषित उस मुद्रिका को, बड़ी स्पृहा (उत्कण्ठा) एवं आह्लाद के साथ चूम लिया तथा नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बरसाती हुई बोलीं ।

प्राभञ्जने ! राघवदूत ! वत्स ! दास्यामि किन्ते विपदन्विताऽहम् ?
मृत्यूदधावद्य निमज्जिताऽहं त्वयोद्धृताऽस्मि प्रसभं समेत्य ।।३९।।

राघव के दूत ! प्रभञ्जनपुत्र हनूमान् ! वत्स ! विपत्ति में डूबी (अकिञ्चन) मैं तुम्हें क्या दूँ? इस समय तो मैं मृत्यु के सागर में डूब रही थी (परन्तु) वेगपूर्वक पहुँच कर तुमने मुझे बचा लिया !

आशीरियम्मे ननु तात ! यावत् ससागरा तिष्ठति मेदिनीयम् ।
तवामरस्याक्षतकीर्तिरास्तां स्याद्राघवान्नो क्षणविप्रयोगः ॥४०॥

हे तात! (इस उपकार के लिए) मेरा यही आशीष है कि समुद्रों से भरी-पुरी यह पृथ्वी जब तक स्थिर रहे तब तक तुम्हारी कालजयी कीर्ति अक्षत बनीं रहे और राघव से तुम्हारा क्षण भर का भी बिछोह न हो !

घनाभिषिक्ता धरणीव साऽहं विलुप्ततापा शिशिरान्तराला ।
त्वद्वाचिकैर्जीवितगार्ध्यलुब्धा प्राणाङ्कुरं हन्त बिभर्मि भूयः ॥४१॥

घनवर्षा से अभिषिक्त धरती की तरह अब मेरा भी सन्ताप नष्ट हो गया है, मेरा भी हृदय शीतल हो उठा है ! कितना आश्चर्य है कि तुम्हारे वचनामृतों को सुन कर पुनः जीवित रहने के लोभ से युक्त हुई मैं प्राणरूपी अंकुर को धारण कर रही हूँ?

पुत्र ! त्वया मद्वचनान्निवेद्यं श्रीरामपादाम्बुजयुग्ममूले ।
निमेषमात्रोऽपि च कालखण्डो युगायते देव ! विदेहजायाः ॥४२॥

हे पुत्र! मेरी ओर से तुम रघुनाथ के चरणकमल-युगलों में यह (प्रार्थना) निवेदित करना कि हे स्वामी! विदेहनन्दिनी का क्षण भर का भी कालखण्ड युग के समान बीत रहा है ।

दिनानि यातानि विना भवन्तं निशा व्यतीता रघुनाथ ! या वा ।
प्रभो ! तदायुर्न जिजीव सीता ध्रुवं विजानीहि च तद् विनष्टम् ॥४३॥

हे रघुनाथ! आपके अभाव (वियोग) में जो दिन बीते, जो रातें खो गईं —आयु की उस अवधि को सीता ने जिया ही नहीं । निश्चय मानिये कि वह आयु नष्ट हो गई !

मदन्तिकान्नाथ ! तवाङ्घ्रिमूलं पत्रं यदि स्याद्विततन्नु यावत् ।
नेत्राञ्जनैरश्रुविमिश्रितैश्चेल्लिखेत्स्वदैन्यं स्वयमेव सीता ॥४४॥

हे नाथ! यदि मेरी पाती (पत्र) मेरे पास से आपके चरणों की दूरी तक लम्बी हो और आँसुओं में घोली गई नेत्राञ्जन की रोशनाई से, आपकी सीता स्वयमेव लिखने बैठे ।

व्यथाकथा क्षेष्यति नो तथापि प्रभो ! वियोगात्तव सिक्तमूला ।
द्रुतं समासाद्य विपन्नभाग्यां भार्यामनाथामव राघवेन्द्र !!४५।।

तो भी आपके वियोग से सिञ्चित कथ्य-तथ्य वाली (उसकी) व्यथा की कथा समाप्त नहीं हो पायेगी ! हे राघवेन्द्र ! प्राणनाथ !! द्रुतगति से पहुँच कर विपन्न भाग्य वाली अपनी अनाथ (असहाय) भार्या को उबार लीजिये !!

शशाक नो वक्तुमितोऽधिकं सा निरुद्धकण्ठाऽमितबाष्पवेगात् ।
स्मृतव्यतीतावधिभूरिभाग्या पाणिद्वयाच्छन्नमुखो रुरोद ।।४६।।

वैदेही इसके आगे, कुछ और नहीं कह सकीं ! अपार बाष्पवेग के कारण उनका कण्ठ स्तम्भित हो उठा ! बीते दिनों के पुञ्जीभूत सौभाग्यों की स्मृति हो आने से वह दोनों हथेलियों से मुंह ढाँप कर रोदन करने लगीं !

असह्यसन्तापरयं विलोक्य दम्भोलिमर्मच्छिदमात्मसंस्थम् ।
प्राभञ्जनिश्चापि विपन्नधैर्यो मुमोच नेत्राम्बुनिरभ्रवर्षम् ।।४७।।

वज्रघात के समान मर्मान्तिक, हृदय में अवस्थित देवी सीता के असह्य सन्तापवेग को देख, हनूमान् का धैर्य-संयम भी विनष्ट हो उठा और वह भी निरभ्र वर्षा के समान अश्रुपात करने लगे ।

प्रोवाच वातात्मज आशु बुद्धः कुतोऽयमेतयम्ब ! दुरन्तमोहः !
न किम्मयि प्रत्ययलेश आस्ते न राघवेऽकुण्ठशरेऽनुजे वा !!४८।।

परन्तु शीघ्र ही प्रबुद्ध (सचेत) होकर वातात्मज ने कहा—हे जननी ! यह दुरन्त दीनता कैसी ? क्या मुझमें आपका तिलभर भी विश्वास नहीं है ? अकुण्ठ शरवर्षा वाले राघव अथवा उनके अनुज (लक्ष्मण के पराक्रम) में भी क्या आपका विश्वास नहीं है ?

वेत्स्यम्ब! मन्येऽधिकमात्मदुःखं न कोसलेन्द्रस्य चिनोषि पीडाम् ।
त्वत्तोऽधिकं ताम्यति दूनचित्तो धवस्त्वदीयस्सततं त्वदर्थम् ।।४९।।

हे अम्ब ! मुझे लगता है कि आप अपनी ही व्यथा को अधिक महत्त्व दे रही हैं, कोसलेन्द्र राघव की पीड़ा का आपको भान नहीं है । परन्तु आप विश्वास करें कि विदीर्ण हृदय वाले आपके स्वामी (राघव) आपके वियोग में, निरन्तर ही, आपसे भी अधिक सन्तप्त रहते हैं !

कालादपि त्वां प्रसभं ग्रहीतुं क्षमोऽस्ति रामः क्व नु रावणोऽयम् ।
समग्रलङ्कामहमेव भग्नां कर्तुं क्षमे पश्य मदीयशौर्यम् ।।५०।।

काल के पंजे से भी आपको क्षण भर में, बलपूर्वक छुड़ा लेने की सामर्थ्य रखते हैं राघव ! रावण की भला क्या बिसात ? सारी की सारी इस लंकानगरी को उजाड़ देने में तो अकेला मैं ही समर्थ हूँ । देखो तो सही मेरा शौर्य-पराक्रम !

प्रवृत्तिमात्राय विलङ्घ्य सिन्धुम् अत्रागतः पूर्णमनोरथोऽस्मि ।
परन्तु मातस्तव सान्त्वनायै प्राभञ्जनेः कापि भवेच्चिकीर्षा ।।५१।।

मात्र तुम्हारा कुशल-क्षेम जानने के लिए, समुद्र लाँघ कर मैं यहाँ आ पहुँचा और पूर्ण-मनोरथ हुआ (आप को पाकर) परन्तु हे जननी ! तुम्हारी सान्त्वना (विश्वास) के लिये अब हनूमान् को भी कुछ कर गुजरने की इच्छा हो रही है (अन्यथा मैं चुपचाप लौट जाता)

विलोकयाम्ब ! स्वसुतस्वरूपं प्रमार्जयाश्रूणि मयासि शप्ता ।
यथैव सोढः प्रनिदाघदाहस्तथा प्रतीक्षस्व पयोदवेलाम् ।।५२।।

अपने इस पुत्र की सौगन्ध है तुम्हें माँ ! पोंछ दो अपने आँसुओं को ! अपने पुत्र का स्वरूप तो देखो ! जैसे अब तक तुमने ग्रीष्म की प्रचण्ड ऊष्मा सही, वैसे ही वर्षा की अगवानी भी कर लो !

उक्त्वेति सीतां व्यथयाऽवसन्नां दधार देहं प्रकृतं हनूमान् ।
भीष्मं महाभूधरशृङ्गतुल्यं चाम्पेयवर्णं श्रितरोमराजिम् ।।५३।।

व्यथा से अवसन्न वैदेही को इस प्रकार ढाँढस बँधा कर हनूमान् ने अपना वास्तविक रूप (शरीर) धारण कर लिया जो कि विशाल पर्वतशिखर के समान, चम्पई रंगवाला, रोमराजियों से भरा-पुरा एवं भयावह था ।

करालदंष्ट्रं दृढतालजङ्घं प्रलम्बबाहुञ्च वरेण्यघोणम् ।
मनश्शिलाव्यायतदीर्घवक्षःकपाटयुग्मं बलविक्रमाढ्यम् ।।५४।।

उनकी दाढें विकराल थीं । जाँघें सुदृढ़ तालवृक्ष के समान थीं । बाहें लम्बी तथा नासिका सुडौल थी । कपाटयुगल के समान उनकी चौड़ी छाती विशाल मनश्शिला (मैनसिल) के समान थी और शरीर बल-विक्रम से ओत-प्रोत था ।

स तेन रूपेण विनम्रभावैः प्रणम्य सीतां निजगाद भूयः।
स्मृतिप्रतीकं ननु देहि मातः कार्यो विलम्बो न मनागिदानीम् ॥५५॥

पवनपुत्र हनूमान् ने उसी रूप में अवस्थित रह कर, विनम्रतापूर्वक सीता को प्रणाम कर पुनः कहा—हे जननी! अब क्षणमात्र का भी विलम्ब मत करो। अपना कोई स्मृतिचिह्न (प्रभु राघव के लिये) दो!

प्राभञ्जनिं प्रेक्ष्य विशालकायं विदेहजा प्रीतमनाः सहर्षम्।
चूडामणिं वल्लभसान्त्वनार्थं समर्पयामास कपीश्वराय ॥५६॥

विशालकाय प्राभञ्जनि को देख-निहार कर प्रेमपूरित हृदय वाली विदेहजा ने, प्राणवल्लभ की सान्त्वना के लिये, अपनी चूड़ामणि (उतार कर) कपीश्वर को अर्पित कर दी।

पुनः पुनस्सा तमुवाच वत्स! त्वदाशयैवोच्छ्वसितुं यतिष्ये।
संस्मारय प्रेष्ठतमं मदीयं कुमारसौमित्रिमपि प्रवृत्त्या ॥५७॥

सीता (हनूमान् को प्रस्थान करता देख) बार-बार कहने लगीं—हे वत्स! बस तुम्हारी ही आशा में जीवित रहने का यत्न करूँगी। मेरे प्रेष्ठतम राघव एवं देवर लक्ष्मण को, मेरे समाचारों से मेरी सुधि कराना!

अनन्तकारुण्यविभूषिताय प्राणेश्वरायापि च मे नमस्याम्।
समर्पयेः सम्प्रति गच्छ सौम्य! पन्थाः शिवोऽयं नितरां भवेत्ते ॥५८॥

अनन्त करुणा से ओतप्रोत, प्राणवल्लभ राघव को मेरा प्रणाम अर्पित करना! हे सौम्य! अब तुम जाओ! तुम्हारा यह यात्रापथ सतत मंगलमय हो।

सीताविसृष्टस्त्वरितं हनूमान् प्रविश्य कङ्केलिवने विशङ्कः।
चखाद मिष्टानि फलान्यनूनं बभञ्ज वृक्षान् व्रततीः जघर्ष ॥५९॥

सीता द्वारा विदा किये गए पवनपुत्र हनूमान्, बिना किसी भय-आशंका के पलक झँपकाते ही अशोक वन में घुस गए। उन्होंने जी भर कर मीठे फल खाये, वृक्षों को तोड़ डाला और लताओं को उखाड़ फेंका।

जघ्रौ स पुष्पाणि सकृत्सहस्रं चचर्व कन्दान् वसुधां चखान ।
विलासवापीनलिनीमृणालोच्चयं सहेलं चपयाञ्चकार ।।६०।।

फूलों को (वृन्त से तोड़-तोड़ कर) एक बार क्या, हजार बार सूँघते रहे, कन्दमूलों को चबाते रहे और (उपवन की) पृथ्वी को खोद डाला। विलासवनिका की बावली में खिले कमलपुष्पों के मृणाल-समूह को, मारे शरारत के उन्होंने तहस-नहस कर डाला ।

उद्यानपालान् जगृहे विभीतान् तुतोद तांस्तीक्ष्णनखैर्विषाक्तैः ।
चकार वै संस्मरणीयशोभां वनीमशोकां विधुरां सशोकाम् ।।६१।।

भयभीत वनपालों को उन्होंने पकड़ लिया और (अपने) विषबुझे तीखे नखों से उन्हें क्षत-विक्षत कर डाला। अशोकवन की सारी सुन्दरता को नष्ट कर उसे सशोक एवं विधुर (उजाड़) बना डाला ।

उपद्रवं भृत्यमुखैर्निशम्य समागतोऽक्षो दशशीर्षपुत्रः ।
पिपेष तं मुष्टिदृढप्रहारैर्जगर्ज चण्डं प्ररुषा हनूमान् ।।६२।।

सेवकों के मुँह से (इस) उपद्रव का समाचार सुन कर दशानन का पुत्र अक्ष आया परन्तु महाबली हनूमान् ने घूँसों के वज्रोपम प्रहारों से उसकी चटनी बना दी तथा मारे क्रोध के वह प्रचण्ड स्वर में गर्जने लगे ।

स राक्षसानां पृतनां विशालां मिमेथ तूर्णं तरुदुष्प्रहारैः ।
निशम्य सोदर्यवधं रुषाऽन्धस्समाययौ दर्पितमेघनादः ।।६३।।

तदनन्तर राक्षसों की विशाल सेना को उन्होंने वृक्षों की असह्य मार से विनष्ट कर डाला। सहोदर (अक्ष) के वध का समाचार सुन कर, क्रोध में अन्धा दुरभिमानी (रावणपुत्र) मेघनाद अन्ततः हनूमान् को दण्डित करने आया !

स नागपाशेन नियम्य वीरं प्राभञ्जनिं रावणसम्मुखीनम् ।
चकार सञ्जातजयैकगर्वः कृतागसं प्रोद्धतवानरेन्द्रम् ।।६४।।

समरविजयी होने के गर्व से ओतप्रोत, मेघनाद ने कृतापराध, वानरश्रेष्ठ वीर पवनात्मज को नागपाश से बाँधकर रावण के सम्मुख उपस्थित किया ।

अथाहितप्रश्न उवाच विज्ञो वातात्मजो धृष्टतया दशास्यम् ।
अवेहि मां रामपदाब्जपूतं दूतं हनूमन्तमनन्तवीर्यम् ।।६५।।

इसके अनन्तर (रावण द्वारा परिचयार्थ) प्रश्न पूछे जाने पर विज्ञ पवनात्मज ने धृष्टता के साथ रावण को उत्तर दिया—हे दशानन! अमित बलशाली मुझ हनुमान् को तुम राघव के चरण-कमलों (के संस्पर्श) से पवित्रित (उनका एक) दूत समझो !

दशास्य ! सीतां रघुवीरभार्यां समर्प्य तस्मै विभवं भजेथाः ।
ध्रुवं विजानीहि कथाऽन्यथा ते लोकाञ्चले संस्मृतिमेष्यतीति ।।६६।।

हे दशानन! रघुवीर की भार्या सीता को उन्हें समर्पित कर वैभव-ऐश्वर्य का भोग करो । अन्यथा इसे ध्रुव जान लो कि संसार में तुम्हारी कहानी, बस स्मृति का विषय बनकर रह जायेगी !

मलिम्लुचस्त्वं दयितापहारं छलेन कुर्वन् न गतोऽसि लज्जाम् ?
दुर्दान्त ! नीचाधम ! निस्त्रपस्त्वं भुवस्तनोष्येव कलंकभारम् ।।६७।।

छलपूर्वक एक रमणी का अपहरण करते, तुझ जैसे दस्यु को लज्जा नहीं आई ? दुर्दान्त ! नीच ! अधम ! निर्लज्ज ! तू तो बस पृथ्वी का कलंकभार मात्र है!!

मध्येसभं धृष्टकपीन्द्रवाग्भिस्तिरस्कृतोऽसौ कुपितो दशास्यः ।
उवाच भृत्यान् ननु लोलजिह्वं प्रदग्धलाङ्गूलमिमं कुरुध्वम् ।।६८।।

सभा के बीच में ही, कपीन्द्र (हनुमान्) के दुर्वचनों से कदर्थित किया गया दशानन कुपित हो उठा और सेवकों से बोला—'चपल जिह्वा वाले इस वानर की पूंछ जला कर खाक कर दो!'

विलोक्य वैरूप्यमथाऽस्य रामो लङ्कापतिं ज्ञास्यति साधुरीत्या ।
विपुच्छकश्चायमपि प्रमोदं विधास्यति स्वीयसुहृत्सु नीचः ।।६९।।

इसकी कुरूपता को देख (इसका स्वामी) राम, लंकापति को भलीभाँति समझ जायेगा और यह नीच वानर भी अपनी मित्रमण्डली का भरपूर मनोरंजन करेगा अपनी कटी पूंछ से!

किमीहतेऽन्धो नयने ननु द्वे निशम्य वाचं मुमुदे हनूमान् ।
निदेशपूर्तौ दनुजास्समोदम् अयुञ्जतामोदभरप्रहृष्टाः ।।७०।।

अंधा क्या चाहता है? दो आँखें ही तो! रावण का प्रस्ताव सुन हनुमान् भी हर्षगद्गद हो उठे । आह्लाद-मनोविनोद से भरे सारे के सारे राक्षस, बड़े उत्साह से रावण के आदेश की पूर्ति में लग गये ।

प्रभूतलाक्षाघृततैलवस्त्रप्रकामलिप्ते खलु दीर्घपुच्छे ।
अथोल्मुकीभूत इवाग्नियोगात्सञ्झम्पमुत्प्लुत्य रुरोह सोऽट्टम् ।।७१।।

हनूमान् की लम्बी पूँछ में, पर्याप्त मात्रा में लाक्षा (लाख) घी-तेल एवं वस्त्र लपेट दिये गये । इसके अनन्तर पूँछ में आग पकड़ा देते ही जब वह अलातचक्र (मशाल) सी बन गई, महाबली हनूमान् झमाके के साथ उछल कर अटारी पर जा चढ़े !

गृहाद् गृहं हर्म्यतलात्ततोऽन्यत् प्रवातवेगात् परितोऽपि धावन् ।
प्राभञ्जनिर्भीष्मकृशानुदाहैर्ददाह लङ्कां मरुता समिद्धैः ।।७२।।

एक घर से दूसरे घर तक, एक राजभवन से दूसरे राजभवन तक—वायुवेग से चतुर्दिक् धावन करते हुए प्रभञ्जनपुत्र हनूमान् ने हवा के झोंकों से बढ़ी लपटों वाले भयावह अग्निदाह से लंकापुरी को भस्म कर डाला ।

स भस्मसात्कृत्य निमेषमध्ये पुरीं दशास्यस्य सुवर्णसौधाम् ।
प्रशाम्य पुच्छाग्निमगाधसिन्धौ प्रणम्य सीतां त्वरितं प्रतस्थे ।।७३।।

सुवर्ण-खचित राजमहलों वाली दशानन की राजधानी को क्षण भर में ही भस्मसात् करके, अगाध सागर (जल) में पूँछ की आग को बुझाकर तथा देवी सीता को प्रणाम (अर्पित) कर हनूमान् त्वरितगति से प्रस्थित हुए ।

द्रुतदहनशिखाभिर्दग्धसौधाट्टयूथा दशवदनपुरी सा जातशंकापि लंका ।
अभवदतिविरूपा जातरूपप्रणाशैर्ततितरुवनीवोद्दामदावाग्निदग्धा ।।७४।।

प्रचण्ड अग्निशिखाओं से जले हुए महलों एवं अटारियों वाली, भय-आशंका से संग्रस्त दशवदन (रावण) की वह लंकापुरी विद्यमान रूप (अथवा सुवर्ण) के विनाश होने से उसी प्रकार अत्यन्त विरूप हो उठी जैसे उद्दाम दावाग्नि में दग्ध, लताओं एवं वृक्षों से भरी-पुरी कोई वाटिका !!

पथि-पथि पृथुवर्चाऽश्रूयतासौ नगर्यां बहलबलनिधीनां मारुतीनां नितान्तम् ।
भयविकलपिशाचाः स्वापसौख्यं न जग्मुर्गतवति कपिनाथेऽप्याहितानर्थशंकाः ।।

अपार बल-विक्रम के भण्डार पवनपुत्र हनूमान् की लम्बी चर्चाएँ (लंकापुरी में) गली-गली में सुनाई पड़ने लगीं । कपिश्रेष्ठ हनूमान् के चले जाने के बाद भी, अनर्थ की आशंका से ग्रस्त, भयभीत एवं विकल राक्षसों को निद्रा का सुख नहीं ही मिला ।

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं सीताप्रसादैः कृतम् ।
सर्गः पूर्तिमियाय तत्र हनुमत्प्राप्त्याह्वयस्साम्प्रतं
प्रत्युज्जीवितमैथिलीविषयकश्श्रीजानकीजीवने ।।७६।।

घनीभूत आनन्दरूपी मकरन्दविन्दुओं से रमणीय, नवीन कथानक एवं नवीन परिपाटी वाला जो मधुवर्षी काव्य, देवी वैदेही की ही प्रेरणा से प्रणीत किया गया है उस जानकीजीवन महाकाव्य में, पुनर्जीवन प्राप्त करने वाली मैथिली से सन्दर्भित (जुड़ा) 'हनुमत्प्राप्ति' नामक यह सर्ग अब समाप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलम्
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।७७।।

महाकवि कालिदास की कविता ही जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी ही जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पत्रसमूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ ही जिसका पुष्प हैं तथा पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका एकमात्र पवित्र फल है—अपनी ही नियति से उत्पन्न हुआ, अभिराजराजेन्द्ररूपी यह काव्य-तरु चिरंजीवी हो !

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजोसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
हनुमत्प्राप्तिसंज्ञकस्त्रयोदशः सर्गः ।

चतुर्दशः सर्गः

प्रवृत्तिभरमण्डितो विजयसौख्यचञ्चत्तनु-
स्सुमेरुशिखरप्रभः प्रकटघोरकण्ठध्वनिः ।
प्रवातजवनातिगो वियति दीप्तपुच्छध्वजः
प्रभञ्जनसुतोऽनघः समुदियाय सिन्धोस्तटम् ॥१॥

(सीता-विषयक) विस्तृत समाचारों से युक्त, विजय के आह्लाद से उमगी शरीर वाले, सुमेरु पर्वत के शिखर के समान, भयावह सिंहनाद उत्पन्न करने वाले, वायुवेग से भी अधिक तीव्रगामी तथा आकाशमण्डल में लहराते लांगूल (पूँछ) वाले निष्पाप प्रभञ्जनपुत्र (हनूमान्) समुद्र के तट पर आ पहुँचे !

निशम्य किल दूरतः किलकिलध्वनिं प्रोद्धुरं
समीरसुतविग्रहस्फुरदमन्दवातप्लवम् ।
जगाद ननु जाम्बवानयमुदेति सिद्धोद्यमः
प्रचण्डबलमारुती रघुपतिप्रियालालितः ॥२॥

दूर से ही उनकी प्रचण्ड किलकिलाहट-भरी ध्वनि को सुनकर तथा हनूमान् के शरीराघात से प्रचलित वायु के अनवरत झोकों को अनुभव कर (ऋक्षपति) जाम्बवान् ने कहा—'रघुपतिप्रिया जानकी के दुलारे, प्रचण्ड बलसम्पन्न मारुति सिद्ध-मनोरथ होकर आ रहे हैं।'

अथाम्बुधितटाश्रितः पुलकहृष्टरोमो द्रुतं
प्रणम्य खलु सादरं प्रथममृक्षराजम्मुदा ।
ततो निखिलबान्धवान् सपदि गाढमालिङ्ग्य च
विदेहतनुजाकथां पवनपुत्र आख्यातवान् ॥३॥

इसके अनन्तर ही, पुलकन के कारण उठी रोमराजियों वाले हनूमान् सागर-तट पर उतरे। सर्वप्रथम उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक ऋक्षराज जाम्बवान् को प्रणाम किया आदरपूर्वक ! इसके अनन्तर, समस्त भाई-बन्धुओं को वेगपूर्वक गले से लगा कर उन्होंने विदेहनन्दिनी की सारी कथा उन्हें बताई।

उपात्तजयवैभवस्त्वरितमेव शम्पारयैः
प्रलङ्घ्य नदभूधरानुपययुर्द्रुतं प्रस्रवम् ।
जयध्वनिमथोन्नतं रघुपतेः समुच्चारयन्
जगाद विनयान्वितः समुपसृत्य ऋक्षेश्वरः ।।४।।

विजय का वैभव प्राप्त करने के कारण, विद्युत् गति से शीघ्र ही पर्वतों एवं नदियों को लाँघते-फाँदते वे सब प्रस्रवण पर्वत पर आ पहुँचे ! तब रघुश्रेष्ठ राम की, उच्चस्वर में जय-जयकार गुँजाते हुए, विनयान्वित जाम्बवान् ने पास पहुँच कर कहा ।

प्रभो! प्रणतपालकोन्मदरिपोऽयमाप्तेप्सितो
विदेहतनुजाञ्चितो रिपुपुरीछविध्वंसकः ।
उपैति चरणाम्बुजं पवननन्दनोऽकम्पनो
दशास्यसुतहिंसको निहतवैरिसेनाचरः ।।५।।

दुरभिमानियों के विध्वंसक एवं प्रणतजनों के रक्षक ! हे स्वामी ! अभीष्ट कार्य की सिद्धि से सम्पन्न, वैदेही द्वारा सत्कृत, शत्रु नगरी (लंका) की शोभा को मटियामेट कर देने वाले तथा शत्रु सेना के संहारक साहसी पवननन्दन हनूमान् (आपके) चरण-कमलों में उपस्थित हैं ।

समुच्छ्वसितरोमभिः पुलकभावमावेदयन्
दृगश्रुततिसूचितप्रचुरगाढगाढव्यथः ।
निवेद्य किल विस्तरैर्निखिलवृत्तमाद्यन्तकं
ददौ सपदि सादरं पवनजोऽथ चूडामणिम् ।।६।।

तदनन्तर उमगी रोमावलियों द्वारा अपने पुलक-भाव को प्रकट करने वाले तथा अविरल अश्रुधाराओं से (सीताविषयक अपनी) प्रभूत एवं प्रगाढ़ वेदनाओं को सूचित करते हुए मारुति ने पूर्ण विस्तार के साथ, सम्पूर्ण समाचार को आद्यन्त वर्णित किया और तत्काल ही आदरपूर्वक (वैदेही की) चूड़ामणि उन्हें अर्पित की ।

व्यथार्तनयनोत्पलप्रवहमानधाराम्बुभी
रघूत्तमपदद्वयं कमलकोमलं क्लेदयन् ।
उवाच खलु मारुती रघुपते ! विषादाम्बुधौ
निमज्जति विदेहजा झटिति देव ! तां वारय !!७।।

व्यथा से आर्त नेत्रकमलों से प्रवहमान अश्रुधाराजलों से रघूत्तम श्रीराम के कमलकोमल चरणद्वय को पखारते हुए मारुति ने कहा—हे रघुनाथ ! विदेहनन्दिनी विपत्ति के सागर में डूब रही हैं ! स्वामी ! शीघ्र ही उन्हें उबार लीजिये !

त्वदेकशरणा प्रभो ! त्वदनुलीनचित्तान्विति
स्त्वदङ्घ्रियुगवारिजे हृदि निरन्तरं बिभ्रती ।
श्लथा कुमुदिनीव सा घननिरुद्धचन्द्रातपा
कथं कथमपि ध्रुवं श्रयति जीवितं जानकी ।।८।।

हे प्रभो ! एकमात्र आप ही उनके लिए शरणभूत हैं, उनकी मनोवृत्ति आप में ही केन्द्रित है, आपके ही चरणकमल-युगल को वह अपने हृदय में निरन्तर धारण किये बैठी हैं। हे प्रभो ! बादलों से वारित चन्द्रिका वाली मुरझाई कुमुदिनी के समान वह देवी वैदेही यथाकथंचित् अपने प्राणों को धारग कर पा रही हैं।

इदं मम निवेदनं तदतिसत्वरं धार्यतां
दयस्व रघुनायक ! प्रणतरक्षणे दीक्षित !
विलम्ब इह नोचितो ननु निमेषमात्रावधि-
र्वधाय खलु रक्षसां त्वरितमेव यामो वयम् ।।९।।

इसलिय, मेरी यह अभ्यर्थना आप तत्काल स्वीकार कर लें ! प्रणतजनों की रक्षा में कटिबद्ध हे रघुनायक ! मुझ सेवक पर दया करिये। अब इस कार्य में एक क्षण का भी विलम्ब उचित नहीं है। राक्षसों का संहार करने के लिये हम लोग, अभी इसी क्षण प्रस्थान करें !

निवेद्य विनयाञ्चितः कपिपतिस्ततो जानकी-
प्रदत्तमतिदारुणं करुणकातरं वाचिकम् ।
रुरोद शिशुसन्निभः स्मृतविदेहजाऽतङ्कितः
शशाक न च हिंसितुं पवनन्दनो वेदनाम् ।।१०।।

इसके अनन्तर विनयावनत कपीश्वर हनूमान् ने जानकी द्वारा निवेदित किये गए अत्यन्त दारुण, करुण एवं कातर वचनों (सन्देशों) को प्रस्तुत किया। सन्देश कहते-कहते ही देवी सीता का स्मरग हो आने से वह बच्चों की तरह, आतंकित होकर रोने लगे। पवननन्दन अपनी वेदना को नियंत्रित कर पाने में समर्थ नहीं हो सके।

निशम्य दनुजाधमाचरितकिल्विषं घस्मरं
युगान्तदहनो दृशोर्ततार सीतापतेः ।
विदेहतनयास्मृतिद्रवितबाहुवल्ली द्रुतं
चकर्ष धनुरायतं प्रथितराक्षसान्तव्रतम् ।।११।।

राक्षसाधम रावण द्वारा किये गये भयावह महापाप तथा प्रिया सीता का स्मरण कर सीतापति श्रीराम की आँखों में युगान्तकारी अग्नि उतर आई। चञ्चल हो उठीं वैदेही की स्मृतिमात्र से उनकी बाहुलताएँ और द्रुतगति से उन्होंने, राक्षस-विनाशरूपी व्रत वाले प्रत्यञ्चा-चढ़े धनुष को उठा लिया।

विदेहतनयाव्यथाक्षुभितसर्वगात्रो ज्वल-
त्प्ररोषशिखिर्धर्षितो भ्रुकुटिवक्रतामादधत् ।
दिधक्षुरिव रावणं सकुलमेव लंकापुरं
कृशानुमुखभूधरो रघुपतिर्द्रुतं प्रोत्थितः ।।१२।।

विदेहनन्दिनी की व्यथा से उनका सम्पूर्ण शरीर क्षुब्ध हो उठा। दहकती क्रोधाग्नि की ज्वालाओं से धर्षित तथा कुटिल भौंहों वाले राघव मानो कुल-परिवार-सहित रावण एवं उसकी राजधानी लंका को दग्ध कर देने के लिये उत्कण्ठित हुए से ज्वालामुखी पर्वत के समान तत्क्षण उठ खड़े हुए।

सुकण्ठ! ननु सैनिकान् रणभटांश्च सेनापतीन्
समादिश कपीश्वरान्प्रचलनाय भेरीरवैः ।
समुच्चरितघोषणोऽनुजकपीशसंयोजित-
स्ससार पथि राघवस्समरभूमिकालान्तकः ।।१३।।

(उन्होंने कहा—) सुग्रीव ! सैनिकों, रणभटों, सेनापतियों तथा श्रेष्ठ कपि-यूथपों को प्रस्थान करने का आदेश दो ! ऐसा कहकर, भेरियों की हुंकार से प्रकटित (प्रस्थान) घोषणा वाले, समरभूमि में काल का महाविनाश करने में समर्थ राघव; लक्ष्मण एवं कपीन्द्र (सुग्रीव) के साथ मार्ग पर चल पड़े।

ततः कपिनृपाज्ञया रणयुयुत्सवो वानरा
गवाक्षगजदुर्मुखद्विविदमैन्दरम्भादिकाः ।
सुषेणनलकेसरिप्रणसतारकोल्कामुखाः
प्रचेलुरतिदर्पिता भुवनकम्पिभिर्गर्जनैः ।।१४।।

इसके अनन्तर, कपिपति सुग्रीव की आज्ञा पाते ही रणभूमि में जूझने के लिये लालायित गवाक्ष, गज, दुर्मुख, द्विविद, मैन्द, रम्भ, सुषेण, नल, केसरी, प्रणस, तार (क) एवं उल्कामुख आदि वानरवीर भुवनकम्पी सिंहनादों से अत्यन्त दर्पित होकर चल पड़े।

अनंगवृषवह्नयः शरभधूम्रगन्धोत्कटा
बृहद्बलदरीमुखौ गवयनीलजम्भार्ककाः ।
प्रजंघरुमणाभिधौ कुमुदसौरभोन्मादनौ
प्रचण्डजयघोषणैः सपदि जग्मुरुत्साहिताः ।।१५।।

अनंग, वृष, वह्नि, शरभ, धूम्र, गन्धोत्कट, बृहद्बल, दरीमुख, गवय; नील; जम्भ, अर्क (क) प्रजंघ, रुमण, कुमुद, तथा गन्धमादन आदि कपियूथप, गगनभेदी जयजयकार गुँजाते, उत्साहित होकर चल पड़े।

ततोऽधिदृढकन्धरं हनुमतोऽधिरूढः स्वयं
महामहिमराघवस्सुभटमध्यगोऽभासत ।
बभौ तदनु लक्ष्मणो बलवदङ्गदांसस्थितः
उभौ ययतुरन्तिके ननु कपीशऋक्षेश्वरौ ।।१६।।

उसके अनन्तर हनूमान् के सुदृढ़ स्कन्ध पर बैठे हुए महामहिम राघव स्वयमेव वानरयोद्धाओं के बीच विराजमान हो उठे। बलशाली अंगद के कन्धे पर बैठे कुमार लक्ष्मण उनके पीछे थे। सुग्रीव तथा जाम्बवान्—दोनों ही उनके साथ-साथ चले।

कपीन्द्रबलवाहिनी सततसिंहनादान्विता
ससार सुभगे क्षणे नियतमुत्तराफाल्गुनौ।
रवौ गगनमध्यगे मरुति वाति गन्धोद्धुरे
पयोदसुखिते पथि प्रचुरपुष्करामोदिते ।।१७।।

निरन्तर सिंहनाद करती हुई, श्रेष्ठ वानरसेना, सुनिश्चित उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र की शुभ घड़ी में प्रस्थित हुई। उस समय सूर्य आकाश के मध्य में था, पुष्पगन्ध से सुवासित पवन वह रहा था तथा यात्रा का मार्ग भी प्रभूत कमलपुष्पों (अथवा सरोवरों) से भरापुरा तथा मेघों की छाया के कारण सुखमय था।

दिनैः कतिपयैश्च ते जलधितीरमासादिता
महेन्द्रगिरिमेखलाः श्रमविनोदिनीर्भेजिरे।
प्रहृत्य शिरसि द्रुतं ह्यवमतोऽत्र दुर्बन्धुना
दशाननसहोदरश्शरणमाययौ राघवम् ।।१८।।

कुछ ही दिनों की यात्रा के अनन्तर सेना (दक्षिण) सागर के तट पर पहुँच गई। सभी वानर-सैनिक थकावट दूर करने वाली महेन्द्र पर्वत की मेखलाओं में रम गये। अपने दुष्ट भाई (रावण) द्वारा शीर्ष पर (चरण) प्रहार करके अपमानित किया गया, दशानन का सहोदर (विभीषण) यहीं रघुनाथ की शरण में आया।

हनूमदभिमंत्रितो रघुपतिस्ततस्सादरं
ननन्द स विभीषणं समभिधाय लङ्केश्वरम्।
पयोधिजलसेचितप्रवरभालपट्टायतं
स्वयं विनियुयोज तं सचिवकर्मणि प्राञ्जलम् ।।१९।।

हनूमान् की मंत्रणा से उत्साहित रघुपति ने विभीषण को 'लंकापति' कहकर, आदरपूर्वक अभिनन्दित किया। विभीषण के रमणीय, विस्तृत भालपट्ट को सागर-जल से अभिषिक्त कर, रावव ने उन्हें स्वयं अपना सचिव नियुक्त किया।

अथोदधितितीर्षया सुदृढसेतुकं त्वष्टृजौ
बबन्धतुररिन्दमौ गिरिबृहच्छिलासञ्चयैः ।
विलोक्य नलनीलयोः स्थपतिकर्मदाक्ष्यं प्रभुः
शशंस सुपथञ्च तं जलधिपारगं मञ्जुलम् ॥२०॥

इसके अनन्तर, त्वष्टा के पुत्र शत्रुविजयी नल एवं नील ने,सागर पार करने की इच्छा से पर्वत की विशाल शिलाओं की सहायता से, सुदृढ़ सेतु का निर्माण किया। उनके स्थापत्यकर्म की दक्षता को देख कर प्रभु राघव ने समुद्र के दूसरे तट तक जाने वाले, मनोहर सेतुपथ की बड़ी प्रशंसा की।

कपीन्द्रपृतना ततो जलधिसेतुपारङ्गता
सुवेलगिरिसानुषु श्रमविनोदनं सन्दधे ।
फलाढ्यंतरुसञ्चयैर्मधुरकन्दमूलाङ्कुरै—
रतूतुषदसौ गिरिः प्रघुणसन्निभान्वानरान् ॥२१॥

एतदनन्तर, वानरवाहिनी सागर-सेतु से दूसरे पार पहुँच कर सुवेलगिरि के शिखरों में अपनी थकावट दूर करने लगी। पाहुन-सरीखे उन वानर-भटों को, उस प्रख्यात पर्वत ने भी, फल-समृद्ध तरुसमूहों से तथा मीठे कन्दमूल-प्ररोहों से परितुष्ट किया।

निशम्य किल रावणः प्रणिधिभिर्महासागर-
प्रसेतुदृढबन्धनं कपिबलावतारं पुरे ।
दिदेश शुकसारणौ विगणनाय संयोधिनां
बलाबलसमाधये रिपुबले पुरान्तःस्थिते ॥२२॥

जब रावण ने (अपने) गुप्तचरों के मुँह से महासागर पर सुदृढ़ सेतुबन्धन तथा लंकापुरी में वानर-सेना के आ पहुँचने का समाचार सुना तब उसने योद्धाओं की गणना करने के लिये तथा राजधानी के भीतर विद्यमान शत्रुसेना के बलाबल की परीक्षा के लिये शुक एवं सारण (नामक अपने दो सेवकों) को भेजा।

विभीषणगवेषितौ कपितनूधरौ तावुभौ
निबद्धमणिबन्धकौ सपदि ताडितौ वानरैः ।
उपात्तशरणौ ततोऽक्षतदयेन सम्मोचितौ
प्रदाय रिपुदेशनां रघुसुतेन शान्त्यर्थिना ॥२३॥

परन्तु वानरवेष धारण किये हुए वे दोनों चर, विभीषण द्वारा पहचान लिये गये। उनके हाथ बाँध दिये गये तथा वानरों ने उनकी अधाधुन्ध पिटाई की। जब वे शरणागत हो उठे तब अपार अनुकम्पा वाले, शान्ति-समर्थक श्रीराम ने शत्रु (रावण) को सन्देश प्रेषित करते हुए, उन्हें मुक्त करा दिया।

निवेद्य निजदुर्गतिं रघुपतेश्च चञ्चद्गुणान्
कपीन्द्रपृतनाभटप्रबलशौर्यमातङ्कितौ ।
विदेहतनयार्पणं त्वरितमर्थयाञ्चक्रतुः
भयार्तशुकसारणौ जनकजापतेः सौहृदम् ।।२४।।

वानरवाहिनी के योद्धाओं के प्रचण्ड पराक्रम से आतंकित तथा भय से आर्त शुक एवं सारण ने (लौट कर रावण के समक्ष) अपनी दुर्गति तथा रघुपति के प्रख्यात सद्गुणों को निवेदित कर, तत्काल ही विदेहनन्दिनी को लौटाने तथा श्रीराम के साथ मैत्री करने की प्रार्थना की ।

दिदेश जननी च तं प्रचुरवत्सला केकसी
तदेव शुभमंत्रितं नयविदस्य मातामहः ।
परन्तु मदघूर्णितो दुरभिमानजीर्यन्मति-
र्जजल्प निजदुर्ग्रहं कमपि नैव मेनेऽङ्कुशम् ।।२५।।

प्रभूत वात्सल्यसे ओत-प्रोत(रावण की)माता केकसी ने रावण को समझाया । उसके मातामह(नाना) नयज्ञ माल्यवान् ने भी रावण को वही शुभ-मंत्रणा दी । परन्तु दुरभिमान के कारण जीर्ण बुद्धि वाला तथा मद-विघूर्णित रावण अपना ही दुराग्रह बकता रहा । उसने कोई भी अंकुश स्वीकार नहीं किया ।

प्रहस्तमथ रावणस्सदसि तं महामात्यकं
दिदेश पुररक्षणप्रचुरमंत्रणामूर्जितः ।
प्रवञ्चनपरायणात्सपदि विद्युजिह्वात्तत-
शिरश्छलयितुं च तां जनकजामसौ प्राप्तवान् ।।२६।।

इसके अनन्तर,आपे से भरे हुए दशानन ने अपने प्रख्यात महामात्य प्रहस्त को, राजसभा में ही, राजधानी की रक्षा के लिये ढेर सारे निर्देशन दिये तथा जनकजा (सीता) को प्रवंचित करने के लिये, माया-निपुण विद्युज्जिह्व से (निर्मित राम का कटा) शीश प्राप्त किया ।

प्रदर्श्य किल मस्तकं रघुपतेरसौ मैथिली-
मुवाच शृणु जानकि ! प्रहतराघवं विस्मरेः ।
मदीक्षणसुधे ! प्रिये ! जनकजेऽधुना रावणं
भजस्व भव भामिनि ! प्रथितपट्टराज्ञी च मे ।।२७।।

रघुपति के उस छिन्न मस्तक को दिखाकर वह मैथिली से बोला—हे सीते ! मेरी बात सुन ! दिवंगत राघव को अब भूल जा ! मेरी आँखों के लिये अमृतस्वरूपे हे जनकजे ! तू मेरी पट्टमहिषी बन जा !

निकृत्तपतिदेवरप्रथितमस्तकौ जानकी
विलोक्य विललाप सा करुणया वचो बिभ्रती।
मदर्थगतजीवितौ ! रघुकुलावतंसौ कथं
दशामुपगताविमां निहतराक्षसौ धन्विनौ ??२८।।

पति एवं देवर के छिन्न मस्तकों को देखकर, मारे करुणा के आर्तनाद करती जानकी, विलाप करने लगी—मुझ अभागिन के लिये प्राण विसर्जित कर देने वाले ! रघुकुल के विभूषण ! राक्षसों का विध्वंस करने वाले हे धनुर्धरों ! इस दशा को आप दोनों कैसे प्राप्त हुए ?

विपत्तिचयकारणं दयित ! मन्दभाग्याऽस्म्यहं
धिगस्तु मम जीवितं तदिदमद्य जह्यामिह।
प्रसीद दशकन्धर ! श्रितमनोरथ ! प्रार्थये
ममापि किल मस्तकं सपदि छिन्धि खड्गाहतैः।।२९।।

हे प्राणवल्लभ राम ! सारी विपत्ति का (एकमात्र) कारण मन्दभागिनी मैं हूँ। धिक्कार है मेरे इस जीवन को। अब मैं इसे, इसी क्षण त्याग देती हूँ। परिपूर्ण मनोरथ वाले हे दशानन ! तू प्रसन्न हो ! मैं तुझसे प्रार्थना करती हूँ। खड्ग के आघातों से मेरा भी मस्तक छिन्न कर दे !

विलोक्य विधवामपि स्वधवमात्रनिष्ठां हि तां
विशीर्णहृदयो द्रुतं दशमुखो जगामालयम्।
ननाश विगते स्वयं दुरभिसन्धिमायाप्यसौ
शिरोयुगलमप्यदस्त्वरितमेव चान्तर्दधे।।३०।।

(उस कल्पित) वैधव्य में भी अपने प्रियतम राघव के प्रति (सीता की) उस अव्यभिचारिणी निष्ठा को देख, विशीर्णहृदय रावण तत्काल ही अपने आवास की ओर लौट गया। उसके चले जाने पर, षड्यन्त्रभरी वह माया भी स्वयमेव नष्ट हो गई। राम एवं लक्ष्मण के वे दोनों छिन्न मस्तक भी अन्तर्धान हो गये।

उवाच सरमा ततो जनकजां निबद्धादरा
विशुद्धहृदया शुभे ! जहि विषादशोकोच्चयम्।
वशीकरणवञ्चनौपयिककौशलं रावणो
ह्यनङ्गवशगस्त्वयि प्रणियुयोज पापोद्यमः।।३१।।

तब विशुद्ध हृदय वाली तथा श्रद्धा से ओतप्रोत सरमा (नामक राक्षसी) ने देवी सीता से कहा—हे शुभे ! विषाद एवं शोक की यह परम्परा छोड़ो। पापपरायण तथा तुम्हारे प्रति कामभावना से युक्त लम्पट रावण ने तुम्हारे वशीकरण मात्र के लिये, प्रवञ्चना से भरा यह उपाय कौशल प्रयुक्त किया था।

गभस्तिचयमालिनि स्फुटति भास्करे वानरा
दशास्यनगरीं ततो रुरुधुरात्ततीक्ष्णायुधाः ।
द्रुमाङ्कुशगदाशिलापरिघपट्टपाशोल्मुक-
कृपाणशरतोमरप्रनखभिन्दिपालैर्युताः ॥३२॥

इसके अनन्तर, किरणसमूहरूपी माला वाले भास्कर के उदित होते ही, तीखे आयुधों से युक्त वानरवीरों ने रावण की नगरी (लंका) को घेर लिया। वे सब के सब वृक्ष, अंकुश, गदा, शिलाखण्ड, परिघ (बेंड़ा, काष्ठदण्ड) पट्ट (पट्टा) पाश, उल्मुक (लुकाठी) कृपाण, शर, तोमर, प्रनख (बज्रनख) तथा भिन्दिपाल आदि आयुधों से लैस थे।

प्रहस्तपरिरक्षितं नगरगोपुरं प्राङ्मुखं
रुरोध पृतनापतिर्महितविश्वकर्मात्मजः ।
वृतो नु दशकोटिभिः कुमुद आर्ययौ वानरै-
स्तदीयपरिरक्षणे पनसवर्धितोऽतन्द्रितः ॥३३॥

(महामात्य) प्रहस्त द्वारा परिरक्षित तथा प्राची दिशा में स्थित लंकापुरी के गोपुर (प्रवेशद्वार) को विश्वकर्मा के पुत्र, प्रख्यात यूथपति नल ने जा घेरा। दस करोड़ वानरयोद्धाओं से घिरा तथा उत्साह-सम्पन्न पनस (नामक वानरभट) से समन्वित सेनापति कुमुद, नल की रक्षा एवं सहायता के लिये उसके साथ था।

महोदरसुरक्षितं स्फुरदवाङ्मुखं गोपुरं
रुरोध पृतनापतिः प्रथितवालिपुत्रोऽङ्गदः ।
अभूच्छतबलिर्वृतो द्विदशकोटिभिर्वानरै-
स्तदीयपरिरक्षको विपुलविक्रमोऽरिन्दमः ॥३४॥

महोदर (नामक राक्षस सेनापति) द्वारा सुरक्षित, विख्यात दक्षिणी नगर-द्वार को, वानरराज वाली के पुत्र सेनापति अंगद ने घेर लिया। विपुल पराक्रम वाला, शत्रुविजयी शतबलि बारह करोड़ वानर योद्धाओं के साथ, उसकी रक्षा के लिये तत्पर था।

चमूपतिरथोद्भटः पवननन्दनो वारुणं
रुरोध पुरगोपुरं सबलमिन्द्रजिद्रक्षितम् ।
तदीयसहयोधनोऽपि च बभूव तारापिता
सुषेण इभवद्बलो कपिभिरावृतः कोटिभिः ॥३५॥

उद्भट सेनापति पवनपुत्र हनूमान् इन्द्रजित्(मेघनाद) द्वारा आरक्षित पश्चिमी नगरद्वार पर जा डटे। उनका सहयोद्धा (सहायक) था, गजराज के समान बलशाली तथा करोड़ों वानर-भटों से समावृत (सुग्रीव की पत्नी) तारा का पिता कपियूथप सुषेण !

दशास्यपरिरक्षितं सशुकसारणं गोपुरम्
उदङ्मुखमगात्स्वयं रघुपतिर्दधल्लक्ष्मणः।
ररक्षतुरतन्द्रितौ सुभटवाहिनीं मध्यगां
कपीश्वरविभीषणौ जरठजाम्बवद्गोपितौ ।।३६।।

शुक एवं सारण के साथ स्वयं दशानन (रावण) द्वारा परिरक्षित नगर के उत्तरी द्वार पर, लक्ष्मण से अनुगत रघुनन्दन राम स्वयं आ डटे। बूढ़े जाम्बवान् द्वारा संरक्षित सुग्रीव तथा विभीषण (नगर के) मध्यस्थित वानरसैन्य की यत्नपूर्वक सुरक्षा करने लगे।

प्रतुङ्गवलभीशिखाप्रवरतोरणार्चालये
गवाक्षतरुकोटरोपवनहट्टशृङ्गाटके ।
विटंकपरिखातटीपरिघवप्रररत्नापणे
गजाश्वगृहमन्दुरासरणिकूपघट्टेऽथवा ।।३७।।

ऊँची वल्लभियाँ, कंगूरे, श्रेष्ठ तोरण, देवालय, गवाक्ष, वृक्षों के कोटर, उपवन, बाजार-चौराहे, वेदिकाएँ, परिखाओं (खाइयों) के तट, परिघ (नगर द्वार की अर्गलाएँ) परकोटे, जौहरी-बाजार, गजशाला, हयशाला, पशुशाला मार्गों, कुओं अथवा घाटों पर।

वितस्तिमितमप्यहो न किल तद् बभावास्पदं
महीध्रशिखरोपमैः कपिभिरावृतं स्यान्न यत्।
दशाननपुराङ्गनाः प्रचितसाध्वसा दारका
ज्वलन्नयनमर्कटप्रकटचीत्कृतैश्चिक्लिशुः ।।३८।।

एक बीते भर भी ऐसी कोई जमीन नहीं दिखाई पड़ती थी जो कि पर्वत-शिखर के समान वानरों से आच्छादित न हो। दशानन के नगर की रमणियाँ तथा अतिशय भयभीत बच्चे, दहकती आँखों वाले वानरों की प्रचण्ड चीत्कार को सुनकर क्लेश-विकल हो उठे।

विलोक्य नगरग्रहोच्चलितपौरधैर्यध्वजं
दिदेश किल रावणो दनुजयूथपान् सत्वरम्।
उपेत्य नगराद् बहिर्हत कपीन् प्रणेनिक्त तान्
विभीत नहि राक्षसाः! सपदि पिंष्ट हिंस्तात्त वा ।।३९।।

नगर की घेराबन्दी के कारण नागरिकों के धैर्य-संयमरूपी ध्वज को लड़खड़ाता देख रावण ने राक्षस सेनापतियों को तत्काल आदेश दिया कि नगर से बाहर निकल कर वानरों को मारो, उन्हें ध्वस्त करो! राक्षसवीरों! डरो नहीं। द्रुतगति से उन्हें पीस डालो, घायल कर दो अथवा (सीधे) निगल आओ!

ततस्तुमुलसंगरो ह्युभयपक्षयोर्जुज्युवे
स्वपक्षजयशब्दितः प्रचुरशंखभेरीरवः।
गजाश्वरथसंकुलः प्रकटसिंहनादोद्धुरो
बलाबलविचारणारहित इष्टविध्यद्वधः ॥४०॥

इसके बाद ही दोनों पक्षों के बीच घमासान लड़ाई छिड़ गई। सेनाएँ अपने-अपने पक्ष की जयजयकार से मुखरित हो उठीं। शंख एवं भेरी के रव प्रचुर मात्रा में फूट पड़े। गजों, अश्वों, एवं रथों से युक्त प्रचण्ड सिंहनाद से उत्साहित, सामर्थ्य अथवा असामर्थ्य के विवेक से रहित दोनों ही पक्ष, अपने शत्रु के वधार्थ (प्राणपण से) जुट गए।

सुरासुरमहारणादपि भयङ्करे सङ्गरे
जघान किल को नु कं कथमथायुधैः कीदृशैः !
इतीव गणनाऽखिला न खलु सम्भवा व्यायता
इयत्खलु गवेषितं कपिभिराहता राक्षसाः ॥४१॥

देवासुर-संग्राम से भी अधिक भयावह उस समर में किसने किसका वध किया; कैसे किया अथवा किस प्रकार के आयुधों से किया? यह विस्तृत लेखाजोखा, आद्योपान्त प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं हुआ! बस इतनी ही गवेषणा (निष्कर्षरूप में) की जानी सम्भव थी कि वानरों द्वारा राक्षस (प्रभूत संख्या में) मारे गए!

विभिन्नशिरसो भुवि प्रवहमानरक्ताञ्चिता
निपेतुरथ राक्षसाः क्रकचकृत्तवृक्षप्रभाः।
बभौ समरमेदिनी त्रुटितहारकेयूरिणी
शरत्समयशर्वरी विशदतारताराङ्किता ॥४२॥

कटे हुए मस्तक वाले (अतएव) बहते हुए खून से लथपथ राक्षस, आरी से काटे गए महावृक्षों के समान धराशायी हो उठे। विच्छिन्न मुक्ताहारों तथा भुजबन्दों वाली समरभूमि, देदीप्यमान एवं चटकीले तारकों से ओतप्रोत शरद् ऋतु की शर्वरी के समान प्रतीत होने लगी।

हतो हनुमताऽचिरं जरठजम्बुमाली ततः
प्रजंघ इभपौरुषोऽप्यवसितो नु सम्पातिना।
जघान खलु लक्ष्मणः कृतभयं विरूपाक्षकं
बिभेद घनमालिनं ननु सुषेण आस्कन्दितः ॥४३॥

शीघ्र ही जरठ (कठोर) जम्बुमाली हनूमान् द्वारा मारा गया। उसके बाद ही, गजराज के समान बलशाली प्रजंघ कपियूथप सम्पाती द्वारा समाप्त कर दिया गया। आतंक मचा देने वाले विरूपाक्ष को कुमार लक्ष्मण ने मार डाला और आक्रान्त किये जाते ही वीर सुषेण ने घनमाली (विद्युन्माली) को रौंद डाला।

विलोक्य प्रथमे दिने प्रमुखरक्षसां दुर्वधं
दशास्यतनुजो निशि प्रघसकूटयोधी खलः ।
विभेद रघुनन्दनौ स्वयमलक्षितो मार्गणै-
र्बबन्ध च विमूर्च्छितौ सुदृढनागपाशैरुभौ ।।४४।।

पहले ही दिन, प्रमुख राक्षस सेनापतियों का वध-वृत्तान्त देखकर, भयावह कूटयोद्धा तथा दुष्ट प्रवृत्ति वाले मेघनाद ने रात्रिवेला में स्वयं अलक्षित रहकर राम एवं लक्ष्मण को बाणों से बीध डाला तथा विमूर्च्छित हुए उन दोनों भाइयों को नाग-पाश से जकड़ दिया ।

निशम्य निहतौ मृषा सुतमुखात्ततो रावणो
निनाय रणमेदिनीं जनकजां दधत्पुष्पकाम् ।
विलोक्य भुवि शायिनौ दयितदेवरौ मैथिली
रुरोद विकलस्वरा ह्युरसि ताडयन्ती स्वयम् ।।४५।।

तब पुत्र (मेघनाद) के मुँह से राम एवं लक्ष्मण को, झूठमूठ ही मारा गया सुनकर, रावण देवी वैदेही को पुष्पक विमान पर बैठा कर (वह दृश्य दिखाने के लिये) रणभूमि में ले आया । स्वामी एवं देवर को पृथ्वी पर (मृत) पड़ा देख, अपने ही हाथों छाती पीटती हुई मैथिली, विकलताभरे स्वर में क्रन्दन करने लगी ।

अहो नु कथमीदृशं घटितमेतदुच्चावचं
निकामशुभलक्षणाऽप्यहमुपैमि वैधव्यकम् ?
वचांसि वितथानि किं पुरुषलक्षणज्ञानिनां
समग्रपृथिवीशिता सपदि यैश्च मे घोषिता !!४६।।

आश्चर्य है ! ऐसी असम्भव घटना कैसे घट गई ? पूर्णरूप से शुभलक्षण-सम्पन्न होती हुई भी मैं वैधव्य को कैसे प्राप्त कर रही हूँ ? पुरुष-लक्षण के मर्मज्ञ दैवज्ञों के वचन क्या झूठे ही थे? जिन्होंने यह घोषणा की थी कि मैं शीघ्र ही समग्र भूमण्डल की स्वामिनी (पटरानी) बनूंगी !

प्रवृत्तिमुपलभ्य मे पवनपुत्रसिन्धुप्लवात्
प्रतीर्य किल सागरं मकरनक्रमत्स्याकुलम् ।
अये दयितवल्लभां जनकजामवाप्तुं निजा-
मयं भुवि निपातितोऽनुजयुतः पतिर्मे कथम् ।।४७।।

पवनपुत्र हनूमान् के सागर लाँघ जाने के फलस्वरूप मेरा कुशल-क्षेम जानकर, मकर-नक्र एवं महामत्स्यों से पर्याकुल समुद्र को भी, अपनी वल्लभा जानकी को पाने के लिये जिसने पार कर लिया, हाय ! अनुज सहित वही मेरे स्वामी आज कैसे (शत्रु द्वारा) जमीन पर सुला दिये गये ?

इतिस्खलितगद्गदोच्छ्वसितवाचया निर्भरं
जगाद रुदतीं ततस्त्रिजटका शुभे ! मैथिलि !
अलं बहलरोदनैर्दयित एष सम्मूर्च्छितो
भविष्यति सचेतनस्त्वरितमेव भाग्येश्वरि ।।४८।।

इस प्रकार, संस्खलित, कण्ठावरोधयुक्त, भरभराई वाणी में उन्मुक्त क्रन्दन करती हुई सीता से तब त्रिजटा ने कहा —हे शुभे मैथिली ! बहुत अधिक रोओ नहीं ! यह तुम्हारे स्वामी बस मूर्छित हुए हैं ! हे भाग्यवती ! बहुत शीघ्र ही उनकी चेतना लौट आयेगी ।

ततः प्रचुरसान्त्वनैस्त्रिजटयान्विता जानकी
ह्यशोकवनिकां गता शिथिलधैर्यबन्धा पुनः ।
सुपर्णकृपया च तौ भुजगपाशसम्मोचितौ
बभूवतुरधिष्ठिताविह महत्तरौ राघवौ ।।४९।।

इसके अनन्तर प्रभूत सान्त्वनाओं के कारण (शान्त) त्रिजटा से अनुगत हुई, शिथिल धीरज वाली सीता पुनः अशोकवन में लौटीं । उधर पक्षिराज गरुड की कृपा-वश नागपाश से मुक्त किये गये वे दोनों रघुपुत्र भी, पहले से भी अधिक दृढ़ता के साथ (रणभूमि में) डट गए ।

अकम्पनमथाहनत् पवनजोऽपि धूम्राक्षकं
ममर्द परमङ्गदः प्रबलवज्रदंष्ट्रं रुषा ।
प्रहस्तमवधीद्रणे धृतशिलो हि नीलोऽक्षतः
स्वयं रघुपतिर्जघान युधि कुम्भकर्णं दृढम् ।।५०।।

पवनपुत्र हनूमान् ने अकम्पन एवं धूम्राक्ष का वध कर डाला । वीर अंगद ने भी बलशाली शत्रु वज्रदंष्ट्र को, मारे क्रोध के पीस डाला । अक्षत रह कर नील ने शिला के प्रहार से समरांगण में (महामात्य) प्रहस्त को मार डाला तथा स्वयं राघव ने युद्ध में महाबली कुम्भकर्ण को मार गिराया ।

नरान्तकमथाङ्गदोऽक्षतमहोदरं नीलक-
स्त्रिशीर्षमपि वायुजो वृषभकोऽपि मत्ताभिधम् ।
अहिंसदतिकायिनं प्रवरलक्ष्मणो विक्रमी
जघान च कपीश्वरः सपदि कुम्भकर्णात्मजम् ।।५१।।

उसके बाद अंगद ने नरान्तक को, नील ने अब तक बचे रहे महोदर को, वायुनन्दन (हनूमान्) ने त्रिशिरा को, वृषभ ने मत्त को, पराक्रम-सम्पन्न श्रेष्ठ कुमार लक्ष्मण ने अतिकाय को तथा कपीन्द्र सुग्रीव ने वेगपूर्वक कुम्भकर्ण के पुत्र (कुम्भ) को मार गिराया ।

विभेद मकराक्षकं खरसुतं स्वयं राघवो
निकुम्भमपि मारुतिर्द्वितयकुम्भकर्णात्मजम् ।
क्रमेण निजयूथपान् रणहुतान् निशम्यार्दितो
रुरोद विषमूर्च्छितो दशमुखः स्मरन् किल्विषम् ।।५२।।

स्वयमेव राघव ने खर के पुत्र मकराक्ष को (बाणों से) छलनी कर डाला और मारुति ने भी कुम्भकर्ण के दूसरे पुत्र निकुम्भ को ! अपने सेनापतियों को एक-एक कर, समरांगण में निहत हुआ सुनकर, व्यथा से पीड़ित एवं विषमूर्छित हुआ सा दशानन, अपने पापों का स्मरण करता हुआ रोने लगा ।

मदान्ध!यमसादनं नयति पुत्रपौत्रैः सह
मदन्वयधरः पुमांस्त्वरितमेव ते नाशकः ।
पुरा यदनरण्यकः परिभवाच्छशापेति मां
तदद्य परिलक्ष्यतेऽवितथमेव मे नश्यतः ।।५३।।

'मदान्ध रावण ! मेरे ही वंश में उत्पन्न होने वाला तेरा विनाशक कोई वीर-पुरुष, बहुत शीघ्र ही, पुत्र-पौत्रों के साथ तुझे यम के हवाले करेगा !' प्राचीन काल में मेरे द्वारा (अकारण) अपमानित (अयोध्यानरेश) अनरण्य ने यह जो शाप मुझे दिया था आज विनाशोन्मुख मेरे लिये वह सत्य सिद्ध हो रहा है ।

अहं निधनकारणं शठ ! भवामि ते निश्चितं
ज्वलन्त्यधिचितं पुरा यदपि वेदवत्याह माम् ।
शशाप परिधर्षिता तपसि वर्तमाना मया
तदप्यगति साम्प्रतं जनकजामिषेणाद्भुतम् ।।५४।।

'हे शठ ! निश्चय ही मैं तेरी मृत्यु का कारण बनूँगी'—चिता पर जलती हुई (ऋषिकन्या) वेदवती ने, तपस्या में दत्तचित्त (परन्तु) मेरे द्वारा परिधर्षित (कलंकित) की जाने पर, बहुत पहले मुझसे यह जो कहा था —सीता के बहाने वह सब भी आज, अद्भुत रूप से चरितार्थ हो रहा है !

सुरासुरमहोरगप्रभृतिजीवितेभ्यः पुरा
प्रजापतिरुवाच मे वरयते निजाऽवध्यताम् ।
दशास्य ! भविता भयं तव नरादथो वानरात्
यतो हि समुपेक्षितौ जडमते ! त्वया द्वाविमौ ।।५५।।

प्राचीनकाल में, सुरों-असुरों तथा महानागादि प्राणियों से अपनी अवध्यता का वरदान माँगने पर प्रजापति (ब्रह्मा)ने भी मुझसे कहा था—'दशानन!तुझे नरों एवं वानरों से भय प्राप्त होगा क्योंकि हे मूढ़ । तूने इन दोनों की उपेक्षा की है !'

तदद्य चरितार्थतां श्रयति वैधसी भर्त्सना
विचूर्णितदिवौकसोऽप्यमितपौरुषा यद्भटाः ।
समेत्य युधि पातिताः सपदि हन्त शाखामृगै-
र्हतो ननु पदातिना रघुसुतेन मे सोदरः ॥५६॥

विधाता की वह भर्त्सना आज चरितार्थ सिद्ध हो रही है । देवताओं को भी चूर-चूर कर देने वाले, अनन्त पौरुष-सम्पन्न मेरे सैनिक आज झुण्ड के झुण्ड, रणभूमि में शाखामृगों (वानरों) द्वारा मार गिराए जा रहे हैं ? आह ! पाँव पयादे युद्ध करने वाले रघुसुत राम द्वारा सहोदर (कुम्भकर्ण) मार डाला गया !

इति स्फुटितमानसं स्वजननाशचिन्तार्दितम्
उपेत्य पितरं प्रभुं महितमेघनादोऽक्षतः ।
विजल्प्य बहु पौरुषं वितथवल्गनैस्सान्त्वयन्
जगाम समराङ्गणं नमुचिवैरिवैरीवरः ॥५७॥

इस प्रकार अपने भाई-बन्धुओं के विनाश की चिन्ता से दुःखी, स्फुटित हृदय वाले अपने पिताश्री राजा रावण के पास पहुँच कर अक्षत बचे श्रेष्ठ मेघनाद ने, झूठी उछल-कूद से अपने पौरुष की डींग हाँकते हुए, सान्त्वना दी और फिर, नमुचिवैरी (इन्द्र) का वैरी वह श्रेष्ठ योद्धा समरभूमि की ओर चल पड़ा ।

निवेश्य रथमण्डपे जनकजां स मायामयीं
हतास्मि ननु राघवेत्यतितरां भयं बिभ्रतीम् ।
चकर्त शिरसा सतीं हनुमताऽसकृद्वारितो
जहास वियदुत्थितः कपिबलं द्रुतं भीषयन् ॥५८॥

'हाय ! स्वामी राघव ! मैं मारी गई' इन करुण शब्दों के साथ अतिशय भयार्त हुई मायानिर्मित जानकी को अपने रथ में बैठाकर, हनूमान् द्वारा बार-बार रोकने पर भी मेघनाद ने उस सती का शीश खड्ग से काट डाला और सारी वानर-सेना को वेगपूर्वक आतंकित करता हुआ, आकाश में पहुँच कर अट्टहास करने लगा ।

उवाच किल मत्सरी सविध एव ते घातिता
स्फुटं जनकजा मया पवनपुत्र ! तत्साम्प्रतम् ।
श्रमो विफलताङ्गतः कपिचमूचरैरर्जितो
निवर्तय यथासुखं क्षपितजीवितं राघवम् ॥५९॥

तदनन्तर मात्सर्यग्रस्त मेघनाद ने कहा—हे पवनपुत्र ! तुम्हारी उपस्थिति में ही मैंने निर्विवाद रूप से मार डाला है सीता को ! इसलिये वानर सैनिकों द्वारा (अब तक) किया गया परिश्रम व्यर्थ सिद्ध हो गया है । अतएव, अस्तप्राय प्राणों वाले राघव (राम) को सुविधानुसार तुम लौटा ले जाओ !

निशम्य दयितावधं रघुपतिर्जहज्जीवितो
रुरोद करुणं गलन्नयनवारि मध्येरणम् ।
विदेहतनये ! प्रिये ! दशरथस्नुषे ! मैथिलि !
विहाय किल राघवं क्व नु गताऽसि तद्ब्रूहि मे !!६०।।

प्रियतमा सीता का वध-वृत्तान्त सुनकर, जीवन से निराश राघव रणभूमि में ही, अश्रुधारा से भींगे हुए करुण विलाप करने लगे—हे विदेहनन्दिनी ! महाराज दशरथ की पुत्रवधुके ! हे प्रिये जानकि ! राघव को छोड़ कर तुम कहाँ चली गईं ? मुझे बताओ तो सही !!

निदाघविरहातपैशिथिलवैभवे भावित-
ग्रहग्रहणसंकटे क्रमितसिन्धुमेघच्छदे ।
मृगाङ्क इह पार्वणे भवति सम्मुखीने कथं
कुमुद्वति ! विधुप्रिये ! द्विरदकालसम्लोषिता !!६१।।

निदाघकालीन विछोह कराने वाली सूर्य की ऊष्मा से जिसका (सारा) वैभव (चन्द्रातप) शिथिल हो चला है, जिसने राहुसरीखे ग्रह का ग्रहण-संकट भी झेल लिया है और जिसने सागर-जल से उठे बादलों की दीवार भी पार कर ली है—ऐसा पूनम का चाँद जब (यथाकथंचित्) सम्मुख उपस्थित भी हुआ तो हे चन्द्रप्रिये ! कुमुद्वति ! कालसरीखे गजराज द्वारा तुम्हीं चबा डाली गईं ?

वृथैव धनुरुत्तमं घटजदत्तमेतद् वृथा
शरा दनुजघातिनो जलधिजीवनक्वाथिनः ।
वृता कुशिकनन्दनान्ननु बलाऽबलाख्या वृथाऽ
प्यधीतिरवितासि नो जनकनन्दिनि!त्वं यया ।।६२।।

हाय ! निरर्थक सिद्ध हुआ महर्षि अगस्त्य द्वारा दिया गया यह उत्तम (पैतामह) धनुष और समुद्र के जल को (अपनी ऊष्मा से) उबाल देने वाले, दनुजघाती ये बाण भी व्यर्थ हुए ! कुशिकनन्दन महर्षि विश्वामित्र से प्राप्त की गई वह 'बलाऽबला' नामक विद्या भी निरर्थक सिद्ध हुई जिसके रहते हुए भी हे जनकनन्दिनी ! तुम्हारी रक्षा न हो सकी !

हृता दयितदेवरोभयसयत्नसंरक्षिता
हृता दशमुखोद्यमैः पुनरिहासि नो रक्षिता ।
कथं दधदिदं प्रिये ! रघुपतिः कलङ्कद्वयम्
अनेहसि गतिं श्रयेन्निधनमेव रामौषधम् ।।६३।।

स्वामी तथा देवर—दोनों के द्वारा यत्नपूर्वक संरक्षित होती हुई भी तुम, दशानन के उपायों द्वारा (बलपूर्वक) अपहृत कर ली गईं और अब इस समरभूमि में भी तुम्हारी प्राणरक्षा नहीं हो पाई ! हे प्रिये ! इन दो कलंकों को धारण करता हुआ राघव अब संसार में कैसे जी सकेगा ? अब तो मृत्यु ही राम के लिये औषध है !

इति व्यथितरोदनैः कपिबलं निजं सोदरं
विषादविषमूर्च्छितं विकलयन्तमासादितः ।
विभीषण उवाच हे रघुपते ! कथं दूयसे
हतां जलदनादिना जनकजां कथं मन्यसे !!६४।।

इस प्रकार अपने व्यथाभरे रोदन से वानरवाहिनी तथा विषाद के विष से मूर्छित अपने अनुज (लक्ष्मण) को विकल बनाते हुए राघव के पास पहुँच कर विभीषण ने कहा—हे रघुनाथ । आप क्यों (अकारण) दुखी हो रहे हैं ? आप जनकजा सीता को मेघनाद द्वारा (सचमुच) मारी गई क्यों मान रहे हैं ?

अलं विलपनैः प्रभो ! वितथकृत्यमेतद्रिपो-
श्चरा इदमवादिषुः श्वयति जानकी जीवनम् ।
विहाय करुणां ततो व्यसनकारिणं रावणिं
निकुम्भिलसुरालये जहि नृपेन्द्र ! मायाविनम् ।।६५।।

हे प्रभो ! व्यर्थ है यह रोना-कलपना ! शत्रु (मेघनाद) की यह करनी (सीता का शिरच्छेद) ही झूठी है । मेरे गुप्तचरों ने यह सूचना दी है कि देवी जानकी जीवित हैं । इसलिये, करुण-क्रन्दन करना छोड़कर, विपत्ति के कारणभूत मायावी मेघनाद को हे नृपश्रेष्ठ ! आप निकुम्भिल नामक देवालय में (ही) मार डालिये ।

पुरश्चरणमश्नुते यदि नु तस्य सिद्धिं प्रभो !
सुरैरपि न नंक्ष्यते तपउपात्तदिव्यायुधः ।
अतस्तपसि विघ्नितं जहि शठं प्रसह्येषुभिः
पितुश्शतगुणाधिकं दुरितदम्भमायाधरम् ।।६६।।

हे प्रभो ! यदि उसका पुरश्चरण (उपासना) सिद्धि को प्राप्त हो गया तो तपश्चर्या से प्राप्त दिव्यायुध वाला मेघनाद देवताओं द्वारा भी नष्ट नहीं किया जा सकेगा । इसलिये अपने पिता (रावण) से भी सैकड़ों गुना अधिक पापी, दम्भी तथा मायावी मेघनाद को, उसकी तपस्या में विघ्न-बाधा उत्पन्न कर, बलपूर्वक शरप्रहार से मार डालिये !

विभीषणविबोधितः प्रबलरोषसम्मूर्च्छितो
ज्वलन्मुखमहीधरप्रतिमविग्रहो लक्ष्मणः ।
मरुत्सुतनलाङ्गदप्रभृतिभिर्वृतस्तत्क्षणं
चचाल स निकुम्भिलां सपदि राघवाशीर्युतः ।।६७।।

विभीषण द्वारा प्रबुद्ध बनाए गए, प्रबल रोष से ओतप्रोत तथा ज्वालामुखी पर्वत के समान (आग्नेय) व्यक्तित्व वाले कुमार लक्ष्मण हनूमान् नल तथा अंगदादि वानरवीरों के साथ, राघव का आशीर्वाद लेकर तत्काल ही, वेगपूर्वक निकुम्भिला की ओर चल पड़े ।

ततो गिरिशिलोच्चयैर्विटपिभिस्समुत्पाटितैः
प्रहृत्य कपयो द्रुतं दशमुखात्मजं मिम्यिरे।
विलोक्य स्वमनोरथं विफलितं ज्वलल्लोचनं
जगाद किल लक्ष्मणः कितव ! पौरुषं दर्शय ॥६८॥

इसके अनन्तर वानरवीरों ने शिलासमूहों तथा उखाड़े गये वृक्षों से मार-मार कर, रावण के पुत्र (मेघनाद) को द्रुतगति से पंगु बना दिया। अपने मनोरथ को निरर्थक सिद्ध हुआ देख, दहकती आँखों वाले मेघनाद को लक्ष्मण ने ललकारा-- वञ्चक ! दिखा (अब) अपना पौरुष !

विगूह्य तनुमात्मनः प्रहरसीह नो ते त्रपा
हिनस्सि खल! मैथिलीं वितथमायया निर्मिताम् !
अथाद्य तव कौशलं दनुज ! लोकयिष्येऽखिलं
पुरन्दरजयध्वजं प्रथितविक्रमं रावणे !!६९॥

अपना शरीर छिपाकर तू प्रहार करता है ? तुझे लज्जा भी नहीं आती रण-भूमि में ? तू झूठी माया से निर्मित जानकी का वध करता है ? राक्षस ! अब आज मैं तेरा सारा (माया) कौशल देखूंगा ! रावण के सपूत ! इन्द्रविजयरूपी कीर्ति से मण्डित तेरा लोकविश्रुत पराक्रम (भी) देखूंगा।

ततस्तुमुलसंगरोऽभवदनन्तशस्त्रान्वितो
बभर्ज शरपीडया जलदनाद आतङ्कितः।
विलोक्य विनशद्बलं प्रघसरोषयुल्लक्ष्मण—
श्चकर्त किल शीर्षकं झटिति तस्य संराविणः ॥७०॥

इसके साथ ही अनन्त शस्त्रास्त्रों के साथ (दोनों के बीच) घमासान लड़ाई छिड़ गई। आतंकित हुआ मेघनाद शरप्रहार की पीड़ा से भुन उठा। उसके क्षीण होते हुए बल को देखकर, भयावह रोष से युक्त कुमार लक्ष्मण ने, गरजने-तरजने वाले मेघ-नाद का शिर, क्षण भर में कुतर डाला।

समीक्ष्य निहतञ्च तं हनुमदादयः सिष्णिडुः
कुमारमथ लक्ष्मणं ननृतुरूहिरे पृष्ठके।
जहर्ष ननु राघवोऽनुजपराक्रमोत्साहितो
महाभयविमोचितं कपिबलं च मेने स्वयम् ॥७१॥

उस (मेघनाद) को मरा हुआ देखकर हनूमान् आदि यूथप कुमार लक्ष्मण को दुलारने लगे तथा उन्हें पीठ पर बैठा कर नाचने लगे। छोटे भाई के बल-विक्रम से उत्साहित राघव भी हर्षित हो उठे तथा वानरवाहिनी भी स्वयं को महाभय से विमुक्त अनुभव करने लगी।

गुणाग्रचसुतधर्षणोच्छ्वसितमन्युशोकव्यथः
पणीकृतनिजास्मितो दशमुखस्त्रिलोकव्रणः ।
विवेश रणमेदिनीं प्रलयकालमेघप्रभः
क्वणद्बहलकिङ्किणीजयरथस्थ ऊर्ध्वध्वजः ॥७२॥

गुणों से अग्रगी, पुत्ररत्न (मेघनाद) के वध से उभरे क्रोध एवं शोकव्यथा वाला, त्रिलोकी के लिये व्रगस्वरूप दशानन अपने प्राणों की बाजी लगाकर अब समरभूमि में प्रविष्ट हुआ। वह प्रलयकालीन कालमेघ के समान प्रतीत हो रहा था। वह ऊँचे ध्वज से मण्डित, झनझनाती हुई हजारों क्षुद्रघण्टिकाओं वाले विजयी रथ पर आसीन था।

विलोक्य चिरकांक्षितं भुवनरावणं रावणं
सुरासुरविमाथिनं जनकजाहरं वैरिणम् ।
जगाद निजयूथपान् ज्वलदलोलनेत्रद्वयः
प्रबोध्य रघुनन्दनो निभृतमद्य पश्यन्तु माम् ॥७३॥

देवताओं तथा असुरों को पराभूत करने वाले, सीता का अपहरण करने वाले, चिरकाल से (वधार्थ) आकांक्षित अपने वैरी लोकसन्तापक रावण को देखकर, स्थिर एवं आग्नेय नेत्र वाले रघुनन्दन ने वानर-सेनापतियों को सावधान करते हुए कहा—'बस, आप लोग चुपचाप मुझे देखते भर रहें !'

हरामि भुवनत्रयप्रचितशोकशङ्कुं रणे
निहत्य दनुजाधमं बहुतिथावधिप्रेक्षितम् ।
भविष्यति वसुन्धरा नियतमद्य नीरावणा
दशास्यनिधनेऽथवा मयि हते तु नीराघवा ॥७४॥

एक लम्बी अवधि से अनन्तर प्रत्यक्षीकृत, इस अधम राक्षस को आज रणभूमि में मार कर मैं त्रिभुवन के महान् शोकशंकु को शान्त कर दूंगा। आज रावण के मारे जाने पर निश्चय ही वसुन्धरा या तो रावण-विहीन हो जायेगी या फिर मेरे ही दिवंगत होने पर राघव-विहीन !

प्रबोध्य कपियूथपान् समधिरुह्य चैन्द्रं रथं
मनोगतिमरिन्दमं प्रवरमातलिप्रेरितम् ।
ससार पुरतो बली दशरथात्मजो राघवो
निबद्धविकिरज्जटः शरशरासनालंकृतः ॥७५॥

इस प्रकार, वानर सेनापतियों को सान्त्वना देकर, मन की गति से चलने वाले, शत्रुप्रमाथी तथा श्रेष्ठ सारथि मातलि द्वारा प्रवर्तित, देवराज इन्द्र के रथ पर समासीन, धनुष एवं वाण से अलंकृत, बिखरे जटाजूट को (पुनः) संयत किये हुए, दशरथनन्दन महाबली राम आगे बढ़े।

जगाद किल राघवं दशमुखो रुषा भर्त्सयन्
कुलक्षयफलानि ते समुपनेष्यते रावणः।
अये मुषितवैभव ! स्मरसि किन्न मां विक्रम-
प्रसारजितनिर्जरं त्रिभुवनैकमल्लं रणे ॥७६॥

तभी दशानन ने, मारे क्रोध के राघव को जली-कटी सुनाते हुए कहा—'आज रावण अपने कुलक्षय का फल तुम्हें समर्पित करेगा ! अरे श्रीहीन ! अपने विक्रम के प्रसार से देवों को भी जीत लेने वाले, त्रिलोकी भर में अद्वितीय शूर, मुझ रावण को क्या तू रणभूमि में पहचान नहीं रहा है ?

निवार्य रघुनन्दनस्तमितिवादिनं प्रावदत्
मदान्ध ! कुलपांसन ! त्रिभुवनन्तुदोत्पीडक !
श्रुतं बहु दशास्य ! ते समरशौर्यमीक्षेऽद्य च
त्वदन्य इह भूतले प्रथितविक्रमः कोऽपरः ?? ॥७७॥

इस प्रकार की (ओछी) वाणी बोलने वाले रावण को टोकते हुए रघुनन्दन ने उत्तर दिया —मदान्ध ! कुलकलंक ! त्रिलोकसन्तापक ! दशानन ! तेरी समरशूरता तो मैंने बहुत सुन रखी है ! आज देखूँगा भी ! इस संसार में एक तुझे छोड़ कर, विश्रुत पराक्रम वाला दूसरा है ही कौन ?

स्नुषाऽपि नलकूबरप्रियतमा त्वया धर्षिता
तपांसि किल चिन्वती पतित ! वेदवत्यर्दिता।
हृता यतिविडम्बितैर्मयि गते प्रिया मैथिली
स्मरान्ध ! वनिताग्रहिस्तदयमेव ते विक्रमः ?? ॥७८॥

(कुबेर के पुत्र) नलकूबर की प्रेयसी (अतएव) पुत्रवधू लगने वाली रम्भा का तूने शीलभंग किया ! तपश्चर्या में निरत वेदवती को तूने क्लेश पहुँचाया ! मेरी अनुपस्थिति में यति का वेष धारण कर (छलपूर्वक) तू मेरी प्रिया मैथिली को हर लाया ! अरे कामान्ध ! लम्पट ! वनिताओं को फँसाने वाला यही वह तेरा पराक्रम है ?

निरस्य खलु सोदरं जगृहिषे बलात्पुष्पकं
ततर्थ रतिभिश्चिरं विवशयोषितामिन्द्रियम्।
ननंष्ठ शठ ! संहितामृतपथस्य पापैर्निजैः
पुलस्त्यकुलकालिमन् ! तदयमेव ते विक्रमः ?? ॥७९॥

अपने सहोदर (वैश्रवण कुबेर) को अपमानित कर तूने बलपूर्वक (उनके) पुष्पक विमान पर अधिकार कर लिया। पराधीन, असहाय महिलाओं के साथ रति-व्यापार से तूने अपनी भोगेन्द्रिय को तृप्त किया ! नीच ! ऋत एवं सत्य के मार्ग की संहिता को तूने अपने पापों से नष्ट कर डाला। महर्षि पुलस्त्य के वंशकलंक ! यही वह तेरा पराक्रम है ?

मदेकशरपातितप्रथितवालिना मर्दित-
स्ततोऽर्जुनखलीकृतस्समुपसृत्य माहिष्मतीम् ।
प्रचण्डबलविक्रमोत्सवकथाः कति स्मारये
कथान्तमपि रावण ! त्वमिह मत्कृतं द्रक्ष्यसि ।।८०।।

मेरे एक ही बाण से मार गिराए गए (वानरराज) वाली ने तुझे मसल डाला था । उसके बाद भी, माहिष्मतीपुरी में पहुँच कर तू हैहयवंशी सहस्रार्जुन के हाथों पराजित हुआ । तेरे प्रचण्ड बल और विक्रम की कितनी रागरंगभरी कहानियाँ तुझे स्मरण कराऊँ ? रावण ! अब मेरे द्वारा समाचरित (अपनी उन) कहानियों का अन्त भी तू आज इस रणभूमि में देखेगा !

दशास्यमिति मार्मिकैर्गरलवाग्भिरास्फालयन्
ववर्ष निशितान् शरान् रघुपतिर्महाभैरवः ।
अजस्रशरवर्षया दिनमदृष्टसूर्यप्रभं
व्यलोकि किल दुर्दिनं घनतमोऽवरुद्धं यथा ।।८१।।

इस प्रकार मर्मभेदी, विषाक्त वचनों से दशानन को आघात पहुँचाते हुए, महाभैरव राघव ने तीखे बाणों की वर्षा प्रारम्भ कर दी । उनकी अजस्र शरवर्षा से दिन (का प्रकाश) भी अलक्षित सूर्यप्रभा वाला प्रतीत होने लगा, मानो बादलों के अन्धकार से ओतप्रोत कोई (वर्षाकालीन) दुर्दिन हो !

प्रवृत्तमुदयाद्रवेः प्रववृधे रणं घस्मरं
ह्यवेदि न गतागतं दिवसनैशयोः कैरपि ।
विमाननिलयाः सुरा वियति युद्धमिद्धं स्थिता
दशास्यवधकांक्षिणो ददृशुरङ्गनाभिर्युताः ।।८२।।

सूर्योदय-वेला से प्रारम्भ हुआ (राम एवं रावण का) भयावह संग्राम उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया । कोई भी व्यक्ति दिन एवं रात का आना-जाना तक नहीं जान सका । अंगनाओं के साथ विमानों में बैठे, रावणवधाकांक्षी देवगण इस महासंग्राम को आकाश में खड़े निहारते रहे ।

रघूत्तमशरक्षतप्रवहमानरक्तस्रवैः
प्रफुल्लितपलाशतामुपगतो रणे रावणः ।
चकर्त बहुशः शिरस्त्वरितमेव तद् प्रोद्गतं
विरञ्चिवरदानतोऽभवदमानितो राघवः ।।८३।।

रघूत्तम के शर-प्रहारों से निर्मित घावों से बहती हुई रक्तधारा के कारण, रणभूमि में, रावण विकसित पलाश-पुष्प जैसा दीख रहा था । यद्यपि राम ने बार-बार उसका शीर्षच्छेद किया परन्तु विधाता के वरदान के प्रभाववश वह तत्क्षण ही पुनः उद्गत होता रहा । इस घटना से राघव अपमानित से हो उठे ।

विषस्य विषमौषधं तदिति मातलिस्मारितो
विरञ्चिरचितं पुरा ननु शचीपतेः श्रेयसे।
अगस्त्यकृपयार्ऽजितं स्फुरदमोघपैतामहा-
भिधं दहदिषुं ततो रघुपतिः क्रुधा सन्दधे ॥८४॥

'विष की दवा विष ही होती है' इस प्रकार मातलि द्वारा स्मरण कराये जाने पर तब श्रीराम ने क्रोधपूर्वक पैतामह-संज्ञक उस देदीप्यमान, अमोघ, आग्नेय शर को (धनुष पर) सन्धानित किया जिसे प्राचीन काल में स्वयं प्रजापति ब्रह्मा ने देवराज इन्द्र के कल्याणार्थ सिरजा था और कालान्तर में जो महर्षि अगस्त्य की कृपा से स्वयं राघव को प्राप्त हुआ था।

चकर्त शिरसां चयं स किल रुक्मपुंखश्शर:
पपात भुवि रावणः पृथुकबन्धभूतोऽचिरम्।
अचिन्त्यमिदमद्भुतं समरसाहसं दारुणं
विलोक्य ननृतुर्मुदा जनकजापतेर्वानराः ॥८५॥

उस सौवर्ण-पंख वाले कराल शर ने रावण के दसों शिरों को (एक ही साथ) काट फेंका और विशाल कवन्ध की आकृति वाला वह राक्षस तत्काल ही पृथ्वी पर गिर पड़ा। जनकजापति श्रीराम के अचिन्तनीय, अद्भुत एवं भयावह समर-साहस को देखकर वानर मारे प्रसन्नता के नाचने लगे।

ववर्ष सुमनोभरं सुरगणो जगुः किन्नरा
ननर्त सुरयोषितां वियति यूथ आमोदितः।
विरञ्चिशिववासवप्रभृतिदेवताश्चक्रिरे
रघूत्तमगुणस्तवं विजयशंसितैर्वाचिकैः ॥८६॥

(रावण की मृत्यु होते ही) देवगण पुष्प-समूह की वृष्टि करने लगे, किन्नरगण गाने लगे तथा देवांगनाओं (अप्सराओं) की टोलियाँ, मारे उछाह के, आकाश में नाचने लगीं। ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र-प्रभृति देवगण विजयप्रशस्ति से भरे वचनों द्वारा रघूत्तम के गुणों का स्तवन करने लगे।

विपन्नभुवनत्रयं दशमुखे हते साध्वसं
विहाय मुदमादधे स्वकमवेक्ष्य निष्कण्टकम्।
दिशो विमलताङ्गता मरुदमन्दगत्या ववौ
ऋतं सपदि सुस्थितं समभवत्प्रयत्नं विना ॥८७॥

विपन्न हुई त्रिलोकी दशानन के मारे जाने पर, भयरहित होकर तथा अपने को निष्कण्टक अनुभव कर हर्षित हो उठी। दिशाएँ निर्मल हो उठीं तथा पवन मन्द-गति से बहने लगा। विना प्रयत्न के ही पृथ्वी पर तत्काल ऋत एवं सत्य प्रतिष्ठित हो गये।

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दबिन्दुरुचिरं सीताप्रमाणैः कृतम् ।
सर्गस्तत्र चतुर्दशो ह्यवसितश्श्रीजानकीजीवने
सीतोद्धारपरो रणोद्यमहरो नाम्ना च लङ्काजयः ।।८७।।

घनीभूत आनन्दरूपी मकरन्द-बिन्दुओं से रुचिर, मधुवर्षी, नूतन घटनाओं तथा नई कथा-परम्परा वाला जो काव्य देवी वैदेही की ही अन्तःप्रेरणा से (कवि द्वारा) उपनिबद्ध किया गया, 'जानकीजीवन' नामक उस महाकाव्य में सीतोद्धारक, रावण के रणोद्यम का समाप्ति-पूर्वक लङ्काविजय-शीर्षक यह चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीबिल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड् राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।८८।।

महाकवि कालिदास की कविता ही जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पर्णसमूह है, बिल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प है तथा पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—अपनी ही नियति से जनमा अभिराजराजेन्द्र का वह काव्यद्रुम चिरजीवी हो ।

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजोसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
लङ्काविजयसंज्ञकश्चतुर्दशः सर्गः ।

पञ्चदशः सर्गः

अथ प्रवृत्तिं रुचिरामिमां प्रभुर्विदेहजां श्रावयितुं समादिशत् ।
मरुत्सुतं बुद्धिविवेकमण्डितं वशंवदं प्रीततमं सहायिनाम् ।।१।।

इसके अनन्तर, प्रभु राघव ने (रावणवध-विषयक) इस मनोरम समाचार को विदेहनन्दिनी तक पहुँचाने के लिये बुद्धि एवं विवेक से मण्डित, आज्ञाकारी सहायक तथा सर्वाधिक प्रिय मरुत्सुत को आदेश दिया ।

स सत्वरं नीपवनस्थमण्डपे प्रवातनिष्कम्पशिखामिवोज्ज्वलाम् ।
स्वतेजसा दीप्तिचयं प्रकुर्वतीमुपेत्य सीतां निजगाद साञ्जलिः ।।२।।

(राम द्वारा आदिष्ट) हनूमान्, अशोक वन में स्थित रत्नमण्डप में द्रुतगति से पहुँचकर, वायु के अभाव में प्रवर्तित धवल दीपशिखा के समान, अपने शरीर की कान्ति से प्रभामण्डल बिखेरती हुई वैदेही से, हाथ जोड़ कर बोले ।

क आगतस्त्वामयि देवि मैथिलि ! सकृन्न्ववेक्षस्व शुचं जहि द्रुतम् ।
अयं हनूमांस्तव पूर्वसंस्तुतस्तवाङ्घ्रिपाथोजयुगं प्रवन्दते ।।३।।

देवि मैथिली ! शोक-सन्ताप- को छोड़िये तत्काल ! एक बार देखिये तो सही, कौन आया है आपके पास ? आपका पूर्वपरिचित हनूमान् है यह ! आपके चरणकमल-युगल में प्रणाम अर्पित करता है !

शुकीव येनेह शलाकपञ्जरे भृशं निरुद्धा दयिताश्रयच्युता ।
स नामशेषोऽस्त्यधुना दिवङ्गतस्त्रिलोकशोको ननु देवि! रावणः !।।४।।

अपने स्वामी के आश्रय से पृथक् की गईं आप जिस (आततायी) के द्वारा शुकी के समान इस सोने के पिंजरे में, बुरी तरह बाँध दी गई थीं—हे देवि ! त्रैलोक्य के लिये शोकस्वरूप वह रावण अब मर कर, नाम-शेष हो चुका है ।

प्रचण्डदोर्दण्डविमुक्तघस्मरज्वलच्छरेणाऽद्वितयेन राघवः ।
ददाह तं तूलनिभं रणाङ्गणे प्रभातसूर्यो मिहिकोत्करं यथा ॥५॥

प्रचण्ड भुजदण्ड से विमुक्त किये गये, एक ही कराल आग्नेय शर से राघव ने समरांगण में उसे रूई के ढेर के समान यूँ ही जलाकर भस्म कर दिया जैसे सवेरे का सूरज ओस की बूंदों को ।

विभीषणो राजसुखं निषेवते सुराश्च सर्वे दधते महोत्सवम् ।
ऋतञ्च सत्यञ्च पुनर्व्यवस्थिते विनोदयत्यात्मतनुं वसुन्धरा ॥६॥

कुमार विभीषण (अब लंका का) राजसुख भोग रहे हैं तथा समस्त देवगण आनन्द-मंगल मना रहे हैं । ऋत एवं सत्य पुनः (अन्तरिक्ष एवं भूलोक में) प्रतिष्ठित हो उठे हैं और वसुन्धरा भी स्वयं को निष्कण्टक अनुभव कर रही है ।

क्षमाऽक्षमाऽद्यैव बभूव सुक्षमाऽप्यपास्तसंज्ञा त्रपते पुनस्त्रपा ।
सकृत्पुनर्जीवति रावणे; मृते स आर्यधर्मोऽधिवसुन्धराङ्गणम् ॥७॥

(आततायी रावण के कारण) अक्षमा (असमर्थ) क्षमा आज ही सुक्षमा (सर्व-कार्यसमर्थ) हुई है । जिसका नामोनिशान मिट गया था ऐसी त्रपा (लज्जा) आज पुनः लजाने लगी है । रावण के मरने से वसुन्धरा-प्रांगग में आज प्रख्यात आर्यधर्म, एक बार पुनः जीवित हो उठा है ।

अपोह्य शोकं निकृतिं मनोव्यथां भवाम्ब ! सीते ! गमनाय निर्वृता ।
उदीक्षितुं त्वां विकलः प्रतीक्षते प्रवृद्धहर्षाम्बुनिधी रघूत्तमः ॥८॥

(अतएव) अम्ब ! वैदेहि ! शोक, अपमान एवं मनोव्यथा को भुला कर आप प्रस्थान के लिये प्रसन्न हो जाँय ! प्रवृद्ध हर्षरूपी सागर वाले रघूत्तम श्रीराम विकल हुए से, आपको देखने के लिये, प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

निपीय वाचो मरुदात्मजादिमाः प्रहर्षरोमाञ्चदृगश्रुकातरा ।
सगद्गदोत्कण्ठमुवाच जानकी प्रचण्डशौर्यो भव वत्स मारुते !! ॥९॥

मरुतात्मज के श्रीमुख से इन वचनों को सुनकर, प्रहर्ष, (पुलकन) रोमाञ्च एवं नयनाश्रु से कातर हुई जानकी ने उत्कण्ठित होकर, भर्राए कण्ठ से कहा — 'हे वत्स हनूमान् ! तुम्हारा पराक्रम प्रचण्ड हो !'

अतः परं प्रेष्ठतमं सुखावहं ह्यनन्तसन्तापवरूथभञ्जकम् ।
न मेऽस्ति वृत्तं भविताऽपि नेतरत् त्वयाऽद्य सीता सुत ! मृत्युवारिता ॥१०॥

इस (समाचार) से अधिक सुखदायक, अनन्त सन्ताप-समूह का विनाशक तथा प्रेष्ठतम अन्य समाचार मेरे लिये न इस समय है और न ही भविष्य में होगा। हे पुत्र ! आज सीता, मृत्यु के मुख से बचा ली गई तुम्हारे द्वारा !

बलं बलीयोऽक्षतमस्तु विक्रमोऽक्लमो न ते वैक्लवमेतु मारुते !
प्रवर्धतां रामयशोऽतिगं यशो मदश्रुशुक्लीकृतमेव तेऽनघ !! ॥११॥

हे मारुते ! तुम्हारा शौर्य-पराक्रम अक्षत एवं शक्तिसम्पन्न हो। क्लमविहीन तुम्हारा विक्रम कभी विकलता को न प्राप्त हो ! हे अनघ ! मेरी अविरल अश्रुधारा से प्रक्षालित एवं धवलित तुम्हारा यश, राघव के यश को भी अतिक्रान्त कर, निरन्तर बढ़े !!

मया धृतं वत्स ! रघूत्तमाहितं भवेद्द्युलोकाश्रयि देवकीर्तितम् ।
सगर्भसीताङ्कुरितं महाद्रुमप्रथाङ्गतं बीजनिभं यशस्तव ॥१२॥

हे पुत्र ! राघव द्वारा स्थापित किया गया तथा स्वयं मेरे द्वारा (अपने गर्भ में) धारण किया गया, सगर्भा सीता द्वारा अंकुरित तथा (भविष्य में) महावृक्ष की गरिमा को प्राप्त करने वाला तुम्हारा (वर्तमान) बीजकल्प (संक्षिप्त) यश देवताओं द्वारा प्रशंसित एवं द्युलोक का संस्पर्श करने वाला बने !

दिदृक्षति स्वातिघनं यमक्षतं विदेहजाऽपीयमधीरचातकी ।
तदीयपादाम्बुजवल्गुतल्पके निधेहि मे पुत्र ! दृगश्रुदक्षिणाम् ॥१३॥

अधीर चातकी के समान यह विदेहजा भी जिस अक्षत स्वातीघन (राघव) को देखने के लिये लालायित है, हे पुत्र ! उन राघव के चरणकमलों को मञ्जुल शय्या में मेरी अश्रुरूपी दक्षिणा अर्पित करना !

अथ प्रयाते पवनात्मजेऽचिरं विभीषणप्रेषितराक्षसाङ्गनाः ।
विदेहजां स्नानसुगन्धमार्जनप्रसाधनालङ्करणैरबूभुषन् ॥१४॥

इसके अनन्तर, पवनात्मज के चले जाने पर शीघ्र ही, विभीषण द्वारा प्रेषित राक्षस-सुन्दरियों ने देवी सीता को स्नान-मार्जन, सुगन्ध-लेपन तथा प्रसाधन-अलंकरणों से विभूषित किया।

गतोपरागेव निरभ्रचन्द्रिका विभाविताऽर्कोदयभा सरोजिनी ।
वसन्तरम्येव वनी पुनर्नवा ललामलावण्यपरीतविग्रहा ।।१५।।

(राहुजनित) ग्रहण से मुक्त निर्मेघ चन्द्रिका, सूर्योदय-प्रभा का उपभोग करने वाली कमलिनी तथा बसन्त ऋतु के आगमन से पुनर्नवा वाटिका के समान ललाम लावण्य से मण्डित विग्रह (शरीर) वाली ।

ज्वलत्प्रदीपाङ्कुरराजिराजितप्रपूतनीराजनतुल्यवैभवा ।
बभौ प्रगाढाक्षतमोदमेदुरा महीयसी मैथिलभूपनन्दिनी ।।१६।।

जलते हुए दीपों के शिखा-समूह से शोभायमान पवित्र, आरती के समान वैभव वाली, महीयसी मैथिल-भूपनन्दिनी (सीता) प्रगाढ़ एवं स्थायी आह्लाद से ओत प्रोत होकर सुन्दर लगने लगी ।

ततोऽधिरूढां शिविकां विदेहजामवेक्षितुं वानराक्षसा जनाः ।
समाययुः क्षिप्रपदैस्समन्ततो भृशं निरुद्धा अपि दण्डपाणिभिः ।।१७।।

तदनन्तर (राघवदर्शनार्थ प्रस्थित) शिविका पर बैठी हुई वैदेही को देखने के लिये वानर एवं राक्षसजन, दण्डधारी द्वारपालों द्वारा बार-बार रोके जाने पर भी, त्वरितगति से, चारों ओर एकत्र हो उठे ।

विलोक्य लोकान् दयितादिदृक्षुकान् विभीषणं राम उवाच साग्रहम् ।
पदातिरागच्छतु मैथिली शनैर्ममेच्छितं तामिति भद्र ! वेदय ।।१८।।

प्रियतमा वैदेही को देखने के लिये, जनसमाज को उत्कण्ठित देखकर राघव ने आग्रहपूर्वक विभीषण से कहा—हे भद्र ! मेरी यह इच्छा वैदेही को जता दो कि वह पाँव-पयादे ही धीरे-धीरे (मेरे पास) आये !

क्रतौ विवाहे व्यसने स्वयंवरे विपत्सु युद्धेषु च दर्शनं स्त्रियः ।
न दूष्यते नीतिविदोऽब्रुवन्निति स्थिते स्वयं का मयि दोषसर्जना !! १९।।

यज्ञ; विवाह, दुख (विपत्ति) स्वयंवर, संकट एवं युद्धभूमि में महिलाओं का (खुलेआम) दर्शन अनुचित नहीं होता, ऐसा नीतिवेत्ताओं ने कहा है । जब शास्त्र ही ऐसी व्यवस्था देता हैं तो फिर एक मुझमें ही दोषदृष्टि की सम्भावना कहाँ !

वनौकसो वानरपुङ्गवा इमे मदर्थलोष्टीकृतसौख्यजीविताः ।
चिराय पश्यन्तु विदेहजामिह प्रजाश्च ते भद्र ! मयेति काम्यते ।।२०।।

मेरे कल्याणार्थ, अपने सुख एवं प्राणों तक को मृल्लोष्ट (मिट्टी का ढेला) समझने वाले ये वनवासी वानर-यूथप भी जी भर कर यहाँ विदेहजा को देखें ! हे भद्र ! तुम्हारी प्रजाएँ भी सीता को देखें—मैं यही चाहता हूँ !

विभीषणेनाऽनुगताथ मैथिली विरूढमन्दाक्षभराभ्युपेयुषी ।
विलीयमानाऽपघनेषु सस्पृहं शनैः शनैर्वल्लभमभ्यवर्तत ।।२१।।

तब विभीषण द्वारा अनुगम्यमान, उभरी हुई लज्जा के भार से अग्रसर अतएव सिमटे अंग-प्रत्यंग वाली मैथिली बड़ी ललक के साथ धीरे-धीरे (अपने) वल्लभ की ओर बढ़ी ।

ततः प्रहर्षस्मयखेदसाध्वसव्यतीतदाम्पत्यरतिप्रवेदनैः ।
चिराददृष्टं दयितं ददर्श सा विधुप्रभं साधु विधुप्रभा स्वयम् ।।२२।।

इसके अनन्तर (चिरकाल के बाद प्रियतम मिलेंगे इसलिये) आह्लाद (मेरे लिये कितना महान् विध्वंस हुआ इसलिये) विस्मय, (मैं प्रियतम के लिये विपत्ति का कारण बनी, इसलिये) ग्लानि तथा (मेरे प्रति अब राघव का पूर्ववत् प्रेम होगा अथवा नहीं, इसलिये) भय सरीखे विभिन्न भावों से जिसकी दाम्पत्य-रतिजन्य कोमल भावनाएँ नष्ट हो चुकी थीं— ऐसी ज्योत्स्ना-सरीखी सीता ने, चिरकाल से ही अनदेखे, चन्द्रमासदृश प्रियतम (राघव) को भलीभाँति देखा ।

वियोगसन्तापदुरन्तदुःस्मृतिप्रसूतनेत्राम्बुभरैर्ज्वलत्तनुम् ।
निषेचयन्ती दृगपाङ्गभङ्गिभिः प्रियोन्मुखी सा लघुतामशिश्रियत् ।।२३।।

वियोग एवं सन्ताप की दुरन्त (क्लेशदायक) अनभीष्ट स्मृति से उत्पन्न अविरल अश्रुधारा से, अपनी देह को अभिषिक्त करती हुई तथा आँखों की कनखियों से (सहमते हुए) पति की ओर निहारती हुई वैदेही मानो अपनी ही दृष्टि में छोटी हो गई ।

अतर्कितं स्नेहविनाशचर्वितप्रवर्तिको लुण्ठितकोमलप्रभः ।
समुद्गिरद्भर्त्सनधूमसन्ततिर्जगाद रामः परुषं रुषाक्षरम् ।।२४।।

अचानक तभी, स्नेह (तेल) के विनाशवश वर्तिका (बाती) को चबा जाने वाले, लुटी हुई कोमल प्रभा (प्रकाशलेखा) वाले तथा भर्त्सनारूपी धूमबिम्ब को उगलने वाले (दीप-सरीखे) राम ने रोषपूर्वक कठोर शब्द व्यक्त किये ।

अवेहि सीते ! प्रसभं समुद्धृतां मया त्वमात्मानमचिन्त्यसङ्गरे ।
निहत्य लङ्काधिपतिं जगत्त्रयप्रकम्पकं राक्षसराजरावणम् ॥२५॥

सीते ! इस तथ्य को समझ लो कि त्रैलोक्य को कम्पित करने वाले, लंकाधिपति राक्षसराज रावण को अचिन्तनीय (विस्मयावह) संग्राम में मार कर, मैंने यथाशीघ्र तुम्हारा उद्धार किया है ।

त्वदर्थमेवेदमभून्महद्रणं महोदधिस्सेतुपथेन लङ्घितः ।
निहत्य शत्रुं वनितापहारिणं त्वदर्थमेवोपनतः पराक्रमः ॥२६॥

मात्र तुम्हारे ही लिये यह महासमर हुआ, सेतुपथ का निर्माणकर सागर लाँघा गया और मात्र तुम्हारे ही लिये, पत्नी का अपहरण करने वाले शत्रु (रावण) का वध करके, पराक्रम का यह प्रदर्शन किया गया ।

ललङ्घ सिन्धुं पवनात्मजो बली बभूव सुग्रीव इह प्रभावकः ।
उपेक्ष्य बन्धुं विगुणं समागतो विभीषणश्चापि बभाज सन्ततम् ॥२७॥

महाबली पवनपुत्र ने (दुर्लङ्घ्य) सागर को भी लाँघ लिया ! वानरराज सुग्रीव (मेरा) सहायक बना और गुणहीन भाई की उपेक्षा कर, शरण में आये विभीषण ने भी निरन्तर (मेरी) सेवा की (मात्र तुम्हारे ही कारण !)

प्लवङ्गमा नीलनलाङ्गदादिकाः स जाम्बवांश्चापि वयोनयाधिकः ।
इमे हि सर्वे मदधीनजीवितास्त्वदर्थमेवाऽनशिरे रणाङ्गणम् ॥२८॥

नील, नल तथा अंगद आदि श्रेष्ठ वानर तथा अवस्था एवं नयबुद्धि में महत्तर ऋक्षराज जाम्बवान्—इन समस्त वीरों ने अपने प्राण मेरे हाथों में रख दिये । मात्र तुम्हारे ही उद्धारार्थ ये सब समरांगण में जूझे !

अयञ्च मे दुर्ललितस्सहोदरो मदर्थसन्त्यक्तसमग्रवैभवः ।
त्वदर्थमेवासहदात्मसंक्षयप्रसङ्कटं त्वद्दयमानदेवरः ॥२९॥

और मेरा यह दुलारा भाई, तुम्हारा कोमल-हृदय देवर लक्ष्मण, जिसने मेरे लिये समस्त सुख-वैभवों को तिलाञ्जलि दे दी—मात्र तुम्हारे ही लिये आत्मविनाश तक के भयानक संकटों को झेलता रहा ।

कृतम्मया मानवता स्वपौरुषप्रवर्धनं पूरयता प्रतिश्रुतम् ।
न मेऽस्ति लोकादधुना भयं न वा विगर्हणा क्लैव्यकलङ्कदीपनी ॥३०॥

स्वाभिमान-सम्पन्न मैने (रावण-विनाश के लिये की गई अपनी) प्रतिज्ञा को पूर्ण करते हुए; अपने पौरुष का विस्तार किया। अब न संसार से मुझे कोई भय है और न ही क्लीबता जैसे कलंक को विस्तारित करने वाली निन्दा की अनुभूति !

रणान्तमासीत्तव मे समन्वितिर्न मेऽधुना किञ्चिदपि प्रयोजनम् ।
प्रयाहि तत्सम्प्रति यत्र कुत्रचित् इहैव वा तिष्ठ मया न रोत्स्यसे ॥३१॥

हमारी-तुम्हारी समन्विति (सम्मिलन) संग्राम की समाप्ति का परिणाम मात्र थी। अब तुमसे मेरा कोई प्रयोजन (सम्बन्ध) नहीं है। इसलिये, अब तुम जहाँ कहीं भी जाना चाहो—जाओ ! अथवा तुम यहीं (लंका) रहो, मैं अवरोध नहीं उपस्थित करूँगा !

दशाननस्पर्शमलीनविग्रहां तदीयकन्दर्पदृशाऽवलोकिताम् ।
चिराय तस्याध्युषितां महालयं विदेहजे ! त्वां न वरीतुमुत्सहे ॥३२॥

हे वैदेही ! दशानन के संस्पर्श से अपवित्र शरीर वाली, उसकी कामुक दृष्टि से (निरन्तर) देखी गई तथा चिरकाल तक उसके राजमहल में अवस्थित रही तुम्हें स्वीकार करने का उत्साह मुझमें नहीं है !

पयोधिबन्धो न बभूव दुष्करो न वा वधो राक्षसकूटयोधिनाम् ।
परन्तु विश्वासयितुं सुदुष्करं भवेत्तु लोकं चरिताभिशंकिनम् ॥३३॥

मेरे लिये पयोधि का (सेतु) बन्धन दुष्कर नहीं लगा। मायायुद्ध में निष्णात राक्षसों का वध भी कठिन नहीं लगा। परन्तु तुम्हारे चरित्र पर शंका-सन्देह करने वाले समाज को (तुम्हारी पवित्रता का) विश्वास करा पाना निश्चय ही मेरे लिये दुष्कर है।

मनोरमां दिव्यतनं गृहे स्थितामभीष्टगात्रां समवाप्य रावणः ।
न मर्षयत्येव चिरं जना इति द्रुतं प्रवक्ष्यन्ति तदस्ति दुस्सहम् ॥३४॥

'दिव्य व्यक्तित्व वाली (अपने ही) घर में स्थित, मनोवांछित रूपलावण्य वाली मनोरमा सीता को पाकर रावण भला शान्त रह सका होगा ?' लोग हजार-हजार मुँह से, इस बात को चिरकाल तक कहते रहेंगे, जो कि (मेरे लिये) दुस्सह है।

निशम्य मध्येसभमेव भर्त्सनां विनष्टभार्यागुणशीलगौरवाम् ।
प्रियोदितां वज्रकठोरघातिनीं रुरोद चिक्लेश मुमूर्च्छ मैथिली ।।३५।।

अर्धाङ्गिनी के गुण, शील तथा गौरव को विनष्ट कर देने वाली, अपने ही पति द्वारा, भरी सभा में की गई, वज्र से भी कठोर आघात पहुँचाने वाली इस भर्त्सना को सुनकर मैथिली बिलखने लगी, व्यथा से भर उठी (और अन्ततः) मूर्छित हो उठी ।

विसिष्मिये रामगिरा विभीषणो बिभाय सुग्रीव उवोष लक्ष्मणः ।
ततञ्च तस्तम्भ विशीर्णमारुतिः समग्रलोकोऽपि लुलोठ दुःखितः ।।३६।।

राम की (परुष) वाणी से विभीषण विस्मित हो उठे । सुग्रीव भयभीत हो गये तथा लक्ष्मण (मारे रोष के) जल उठे । बिखरे हुए पवनपुत्र (पहले तो) सिकुड़ उठे तथा (बाद में) स्तम्भित हो गये । सारा का सारा समाज भी, व्यथित होकर (पृथ्वी पर) लोटने लगा ।

विलोक्य रौद्रं रघुनाथविग्रहं प्रनष्टमाधुर्यसहिष्णुतार्जवम् ।
न कोऽपि तं सान्त्वयितुं शशाक वा प्रबोधितुं जातदयोऽपि भावुकः ।।३७।।

कोमलता सहिष्णुता एवं ऋजुता से विहीन, रघुनाथ के रौद्र स्वरूप को देख कर, दयालु प्रवृत्ति वाला कोई सहृदय (सहचर) भी, न तो उन्हें समझा-बुझा सका और न ही प्रबोध दे सका !

अथ प्रमृज्याश्रुततिं विदेहजा प्रवृद्धमन्युर्निजगाद राघवम् ।
प्रभोऽद्य विज्ञातमिदं मयापि यन्न मे पतिस्त्वं न च वल्लभाऽस्मि ते ।।३८।।

इसके अनन्तर, उमड़े रोष वाली वैदेही, अश्रुधारा को पोंछकर राघव से बोली—स्वामी ! मैंने भी आज यह बात जान ली कि न आप मेरे पति (रक्षक ?) हैं और न मैं आपकी वल्लभा (आपको प्रिय लगने वाली) ।

न रावणाद् वानरराजवालिनः खरात्कबन्धाद् वरुणाच्च यद्भयम् ।
बिभेत्यसौ लोकमतात्कियत्पुनः ध्रुवं मयाऽद्यैव तदत्र लोकितम् ।।३९।।

जो रावण से, वानरराज वाली से, खर एवं कबन्ध से तथा (जलदेवता) वरुण से भी नहीं डरा—वही राम लोकमत से कितना भयभीत है ? निश्चित रूप से वह रहस्य मैंने आज यहीं अनुभव किया !

लघून्यसाराणि वचांसि चिन्वता त्वया स्वदेवत्वमपोहितं प्रभो !
विपन्नवित्रस्तभुजङ्गभक्षणैः खगत्वमारूढवता सुपर्णिना ।।४०।।

हे स्वामी ! जैसे विपन्न एवं संत्रस्त सर्पों का भक्षण कर सुपर्ण (पक्षिराज गरुड) अपना 'खगत्व' सिद्ध कर देता है, ठीक उसी प्रकार प्राकृतजनोचित सारहीन बातों को कह कर, आपने अपने 'देवत्व' को संशयापन्न बना डाला।

तृणाय मत्वा विभवान् सह त्वया वनं मया स्वीकृतमार्तिसङ्कुलम् ।
मनोऽरतिर्मे परिलक्षितातदा शरीरशुद्धिः पुनरद्य लक्ष्यते ??४१।।

(राजमहलों के) ऐश्वर्य-वैभव को तिनका समझ कर मैंने आपके साथ, विपत्तियों से ओतप्रोत, वन में रहना स्वीकार किया। तब तो आपने मेरे मन के अनुराग (प्रेम) को महनीय समझा और आज आप (मेरे आत्मिक प्रेम को व्यर्थ मानकर) मेरे शरीर की पवित्रता पर विचार कर रहे हैं ?

अनायुधा हीनबलाऽसहायिनी हृता दशास्येन शरीरदुर्ग्रहैः ।
न कामकारो मम तत्र राघव ! प्रतीपदैवं ननु मेऽपराध्यति ।।४२।।

मेरे पास अस्त्र-शस्त्र नहीं थे ! मैं बलहीन तथा असहाय थी (उस दशा में) रावण ने मेरी देह को दृढ़ता से पकड़ कर, अपहरण कर लिया। हे राघव ! उस अपहरण (जन्य शरीर-संस्पर्श) में मेरी अपनी कोई इच्छा नहीं थी। यह अपराध तो मेरे विपरीत भाग्य का था !

न गात्रमासीन्मदधीनमर्दितं ततो न वैवश्यमसोढुमर्हसि ।
कथं न मे त्वं हृदयं वशानुगं त्वदाश्रयं पश्यसि वीर ! पावनम् ??४३।।

पीड़ा से संत्रस्त शरीर पर (उस समय) मेरा अधिकार (वश) नहीं था। अतएव मेरी विवशता को न सह पाना आपके लिये उचित नहीं ! हे वीर ! आप मेरे उस पावन हृदय को क्यों नहीं देखते जिसके एकमात्र अवलम्ब आप हैं, जो मात्र आपका वशंवद है ?

विमन्यसे वल्लभ ! मां प्रदूषितां दशास्यसंस्पर्शवशाद्यदि ध्रुवम् ।
कथं न तत्यक्थ विराधधर्षितां विदेहजां प्राग्विपिने नु दण्डके ??४४।।

हे प्राणवल्लभ ! यदि आप सचमुच मुझे दशानन (रावण) के संस्पर्श (मात्र) के कारण प्रदूषित (अपवित्र) मानते हैं तो फिर, बहुत पूर्व ही दण्डकवन में (राक्षस) विराध द्वारा धर्षित (अपमानित) की गई विदेहजा को आपने क्यों नहीं त्याग दिया ? (तब भी तो मैं एक राक्षस के संस्पर्श से दूषित हुई थी !)

श्रमोऽथवा नाथ ! वृथैव किं कृतो हतोऽपि वाली क्रमितश्च सागरः ।
अभीप्सितस्त्यागविधिर्यदि प्रभो ! मुधा समुद्धर्तुमयाति मैथिलीम् ॥४५॥

अथवा (मेरे अपहृत होने पर) मेरे लिये, व्यर्थ में ही पाने का परिश्रम क्यों किया ? क्यों वाली को मारा ? क्यों सागर को पार किया ? यदि मेरे परित्याग का विधान (योजना) ही आपको अभीष्ट था तो हे स्वामी ! मैथिली का उद्धार करने के लिये निरर्थक प्रयत्न क्यों किया ?

जिता समर्प्येत धराऽथवा स्वयं नृपेण भुज्येत चिराय राघव !
न किन्तु भार्या रिपुहस्तमोचिता वितीर्यते ह्यत्र परत्रसङ्गिनी ॥४६॥

हे राघव ! शत्रु से जीती गई पृथ्वी (विजयी) नरेश द्वारा पुनः शत्रु को लौटाई जा सकती है अथवा नरेश द्वारा स्वयं चिरकाल तक भोगी जा सकती है । परन्तु लोक-परलोक की (अनन्य) संगिनी तथा शत्रु के हाथ से मुक्त कराई गई भार्या, किसी को बाँटी नहीं जा सकती ।

व्रतोपवासैर्दधती कृशां तनुं वियोगवैश्वानरतापधर्षिता ।
त्रिसन्ध्यमुष्णाश्रुकृताभिषेचना त्वदङ्घ्रिपाथोजनिलीनमानसा ॥४७॥

व्रतों तथा उपवासों द्वारा क्षीण शरीर को (यथाकथंचित्) धारण करती हुई, प्रियवियोगरूपी अग्नि के ताप से झुलसी हुई, प्रातः मध्याह्न एवं सन्ध्या-वेला में सन्तप्त आँसुओं से स्नान करने वाली, आपके चरणकमलों में निलीन मनोवृत्ति वाली ।

खलीकृता राक्षसपापकर्मणा स्वजीवितत्यागपरापि केवलम् ।
दिदृक्षया प्राणचयं ववार यत् त्वयाऽद्य तन्मे तपनं पुरस्कृतम् ॥४८॥

एक राक्षस (रावण) के पापकर्म (अपहरण) से अपमानित की गई, अपने प्राणों को त्याग देने के लिये प्रयत्नशील होती हुई भी मैं, मात्र आपके दर्शन की आकांक्षा से जो प्राणों को सँजोए रही (मरी नहीं) मेरी वह सारी तपस्या, आज आपने पुरस्कृत कर दी !

त्वदार्यसंस्कारविभूतिपौरुषैः कृतार्थितताया मरणं नु मे वरम् ।
न चाद्य दौर्बल्यमुपात्तलाघवं भवेत्तवेदं मम दृष्टिगोचरम् ॥४९॥

आपके आर्य (उदात्त) संस्कारों, वैभवों तथा पुरुषार्थों से कृतार्थ की गई मुझ सीता का मर जाना ही श्रेयस्कर था । छुटपने से भरी हुई आपकी यह (ग्राम्यजनोचित) दुर्बलता तो कम से कम मुझे देखने को न मिलती !

स्वकान्तसंसर्गसुखप्रहारिणावुभौ मदर्थं किल तुल्यविक्रमौ।
पुरन्ध्रिपण्यक्रयविक्रयार्थिनौ निमज्जितावात्मनि रामरावणौ ।।५०।।

महिलारूपी सौदे के खरीदने और बेचने में जुटे हुए तथा (मात्र) अपने ही (सुख-सम्मान) में केन्द्रित—राम तथा रावण—दोनों ही मेरे लिये आज 'तुल्यविक्रम' प्रतीत हो रहे हैं। क्योंकि दोनों ही मेरे कान्तसंसर्गजन्य सुख पर प्रहार करने वाले हैं।

अपाङ्गभङ्गेक्षितवल्गुवल्गनैः शुभं चरित्रं स्वयमातनोति यः।
स एव भार्याचरितानि शङ्कते ततः परं किं भविताऽतिदारुणम् ??५१।।

कनखियों की चितवन के मनोहर विलासों से जो स्वयमेव शुभ चरित्र की सर्जना करता है, वही (अपनी ही) भार्या के आचरणों पर शंका कर रहा है! उससे अधिक, अतिशय दारुण और क्या होगा?

विपन्नचित्तः प्रकृतः पुमानिव मदीयचारित्र्यमिहाद्य शंकसे?
दृशोर्ममास्ते चरितं प्रमाणितं कथं त्वया नो स्वयमेव पठ्यते ??५२।।

विपन्न मनोवृत्ति वाले आप साधारण (मूढ़) मनुष्य की तरह आज यहाँ भरी सभा में मेरे चरित्र पर शंका कर रहे हैं? मेरी (पवित्र) आँखों में ही मेरा चरित्र प्रमाणित है! आप स्वयं क्यों नहीं पढ़ लेते?

इदं न कर्तुं यदि शक्यते त्वया महाबलं पृच्छ मरुत्सुतं तदा।
ददर्श यः स्थण्डिलशायिनीं निशि प्रजागरोच्छूनदृशं विदेहजाम् !!५३।।

यदि आप का किया यह न हो सके तो फिर महाबली मरुत्सुत (हनूमान्) से मेरा चरित्र पूछ लीजिये जिन्होंने रात-रात भर जागने के कारण, सूजी हुई आँखों वाली विदेहजा को वेदिका पर निढाल पड़ी देखा था।

निमेषमात्रं प्रतियातनेव मां दिवानिशं या न जहौ तपस्विनी।
विपृच्छ तां वल्लभ! पूतमानसां चरित्रमर्म त्रिजटां स्वशान्तये ।।५४।।

(अथवा) जिस तपस्विनी ने परछाई की तरह, रात-दिन एक क्षण के भी लिये मुझे (अकेला) नहीं छोड़ा, हे प्राणवल्लभ! परितोष के लिये, मेरे चरित्र का मर्म (रहस्य) पवित्रहृदय वाली उस त्रिजटा से ही पूछ लीजिये!

स्फुटं त्वजीविष्यदथाद्य रावणश्चरित्रमप्रक्ष्यदमुं पुनर्भवान् ।
अवक्ष्यदासौ न मृषा विदेहजाचरित्रचर्यां कथयेदनाविलाम् ।।५५।।

अथवा यदि आज लंकापति रावण स्वयं जीवित होता तो आप उसी से सीता का चरित्र पूछ लेते ! वह कभी झूठ न बोलता ! सीता के विशद चरित्र एवं आचरण को वही बता देता !

अभद्रवाचो निजगाद रावणो ह्यलूलुभच्चापि महार्घवैभवैः ।
मदुत्तरैः संक्षुभितः कदर्थनामपि क्वचिन्मे कृतवाननादरात् ।।५६।।

रावण ने मुझसे (भले ही) अभद्र बातें कहीं, अपने महान् ऐश्वर्य-वैभव से (भले ही) प्रलोभित करने का यत्न किया, मेरे (कठोर) उत्तरों से संक्षुब्ध होकर किन्हीं अवसरों पर (भले ही) उसने मेरी कदर्थना भी की ।

तथापि दूये न तथा तिरस्कृता निशाचरीणां सविधे रहोगृहे ।
स लम्पटो राक्षस इत्यपेक्षया पतिं पुनर्वीक्ष्य न तत्स्मृतिं दधे ।।५७।।

फिर भी, निशाचरियों से घिरी हुई मैं उस एकान्तवास में, रावण द्वारा उस प्रकार तिरस्कृत की जाने पर भी, बुरा नहीं मानती । क्यों कि वह लम्पट (कामान्ध) था, राक्षस (नृशंस) था । और फिर ? आज तो अपने स्वामी का पुनर्दर्शन कर, मुझे उन सब घटनाओं की स्मृति तक नहीं आ रही !

कुले रघूणामुदितः पतिर्मम त्वमार्यसंस्काररतो गुणाग्रणीः ।
परन्तु लोकस्य पुरः कदर्थयन् विपन्नभार्यां ननु भासि दारुणः ।।५८।।

परन्तु आर्यसंस्कारों के पालक, गुणों में अग्रणी, रघुवंशी नरपतियों के कुल में अवतरित आप—मेरे पति (रक्षक) होते हुए भी—अपनी विपन्न (दुर्भाग्यग्रस्त) भार्या को, सारे समाज के समक्ष कलंकित करते हुए, सचमुच (रावण से भी अधिक) भयावह प्रतीत हो रहे हैं !

मृता लता या च्युतवृक्षसंश्रया मृता नदी मूलमुपेत्य मारवम् ।
मृता कुलस्त्री पतिसौहृदच्युता धिगङ्गनात्वं भवपापमिश्रितम् ।।५९।।

मर गई वह लता जो वृक्ष की शाखा से नीचे गिर गई ! मर गई वह नदी, जिसे मरुभूमि में उद्‌गमविन्दु मिला ! मर गई वह कुलांगना जिसे अपने (ही) पति का प्रेम नहीं मिला ! भव-पाप से कलंकित स्त्रीत्व को धिक्कार है ।

प्रकम्पते मेरुरपि प्रभञ्जनैर्नदीजलैस्सिन्धुरपि प्रवर्धते ?
प्रतप्यते भानुरहो शिखावलैर्यदद्य रामो दयितां परीक्षते ।।६०।।

राम को अपनी दयिता (के चरित्र) की परीक्षा करते देख (आज) सुमेरुपर्वत भी हवा के झोकों से काँप रहा है ! समुद्र में, नदियों के पानी से, बाढ़ आ गई है और आश्चर्य है कि सूर्य को भी दीपकों से आँच लगने लगी है।

स्वलोककीर्तेरियती प्ररोचना ममार्यशीलस्य च घोरलाञ्छना ?
कुतो न्विदं राघव ! तत्त्वपारग ! ध्रुवं पतित्वेन जुहोषि गेहिनीम् ।।६१।।

अपने सामाजिक-यश के लिये इतनी आसक्ति ? और (पत्नीभूत) मेरे उदात्त चरित्रकी ऐसी अमर्यादित लांछना ! हे राघव! किस कारण से आप ऐसा कर रहे हैं ? आप तो तत्त्वज्ञ हैं ! निश्चय ही पति होने को ऐंठ (दुरभिमान) से आप पत्नी का (साधिकार) हवन कर रहे हैं।

त्वदप्रिया त्वद्यशसां कलङ्किनी जिजीविषामि स्वयमेव नो क्षणम् ।
तदद्य प्रत्यक्षमिमां विदेहजां जुहोमि ते द्वेषकृशानुसञ्चये ।।६२।।

परन्तु आपकी अप्रिय बन कर, आपके (धवल) यश की कलंकिनी बन कर मैं स्वयं, एक भी क्षण जीना नहीं चाहती ! इसलिये आज ही, आपकी आँखों के सामने, इस सीता को, आपके द्वेषाग्नि की ज्वालाओं में भस्म किये देती हूँ।

निरस्तभार्योचितशीलवैभवा निरर्गलाश्रुप्लवभिन्नविग्रहा ।
इतीव रामं परुषाक्षरैः सती विजल्प्य सीता निजगाद लक्ष्मणम् ।।६३।।

भार्योचित शील एवं गरिमा से विरहित तथा अविरल अश्रुधारा से भींगे शरीर वाली पतिव्रता सीता ने, इस प्रकार के कठोर (एवं सचाई भरे) शब्दों से राम को संबोधित कर, कुमार लक्ष्मण से निवेदन किया।

प्रसीद मे देवर ! तात लक्ष्मण ! नयाशु ! काष्ठानि चिताञ्च योजय ।
प्रतिक्षणं व्येति युगातिदुर्वहं प्रयच्छ मे शीघ्रमतो नु निष्कृतिम् ।।६४।।

भैया लक्ष्मण ! मेरे देवर ! दया करो। शीघ्र ही लकड़ियाँ ले आओ और एक चिता रच दो। अब एक-एक क्षण युग के समान अत्यन्त दुर्वह प्रतीत हो रहा है। अतएव शीघ्र ही मुझे इस यंत्रणा से मुक्ति प्रदान करो।

निशम्य देव्या गिरमूर्ध्वनिष्ठुरां विलोक्य सोल्लुण्ठमधीरलोचनः ।
स्वमग्रजं स्नेहलवप्रशोषिणं रुषा प्रजज्वाल विषण्णलक्ष्मणः ।।६५।।

देवी वैदेही की अतिशय निष्ठुर वाणी को सुन कर तथा स्नेह-प्रेम की नन्हीं बूंद को भी सुखा देने वाले अपने अग्रज राघव को, उपेक्षाभरी दृष्टि से देख कर, चञ्चल नेत्रों वाले विषण्ण कुमार लक्ष्मण, मारे क्रोध के दहक उठे !

ततश्चितां काष्ठचयेन सत्वरं विरच्य दीप्तामकरोत्सहोदरः ।
तथापि रामो न जगाद विव्यथे न चापि तस्तम्भ मुमूर्च्छ नोऽथवा ।।६६।।

इसके अनन्तर सहोदर (लक्ष्मण) ने काष्ठ-समूह से तत्काल ही चिता का निर्माण कर उसे प्रदीप्त (भी) कर दिया । फिर भी राम न तो (कुछ) बोले, न व्यथित हुए, न ही स्तम्भित हुए अथवा न ही मूर्छित हुए !

न जाम्बवान्नापि विभीषणो न वा कपीश्वरो वायुसुतो न वाऽङ्गदः ।
विलोक्य रौद्रं रघुनाथविग्रहं ह्यजीर्णशोकोऽपि शशाक बाधितुम् ।।६७।।

रघुनाथ के रौद्र स्वरूप को देख कर, शोक-सन्ताप के अजीर्ण हो जाने पर भी—न जाम्बवान्, न ही विभीषण, न कपीश्वर सुग्रीव, न पवनात्मज अथवा अंगद ही बाधा देने में समर्थ हो सके ।

प्रदक्षिणीकृत्य ततो नु राघवम् अधोमुखं त्रिर्द्विजदेवसंहतिम् ।
प्रणम्य लोकञ्च गभीरनिःस्वनैरुवाच सीता परितापधर्षिता ।।६८।।

इसके अनन्तर, सन्ताप से धर्षित अधोमुखी सीता ने (एक बार) राघव की तथा तीन बार ब्राह्मणों एवं देवों की मण्डली की प्रदक्षिणा सम्पन्न की और फिर, जनता-जनार्दन को प्रणाम अर्पित कर, धीर-गम्भीर स्वरों में कहा ।

मनो न मे राघवपादपङ्कजं गतं यदि क्वापि विमुच्य जीवने ।
तदद्य मां रक्षतु सर्वतोमुखं ह्युशीरशीतो भगवान् स पावकः ।।६९।।

सम्पूर्ण (वैवाहिक) जीवन में यदि मेरा मन, राघव के चरणकमलों को छोड़ कर, कहीं और न गया हो तो उशीर (खस) के समान शीतल भगवान् अग्निदेव आज सब तरह से मेरी रक्षा करें ।

विशुद्धचारित्र्यवती यदि ध्रुवं भवेन्मनोवाक्करणैश्च जानकी ।
तदद्य तां पातु हिमार्द्रपावकस्त्रिलोकसाक्षी ननु भूतभावनः ॥७०॥

यदि मन, वाणी एवं कर्मों से जानकी सचमुच विशुद्ध चारित्र्य वाली हो तो त्रैलोक्य के साक्षीभूत, हिमशीतल, भूतभावन अग्नि देवता आज उसकी रक्षा करें ।

तथा समुच्चार्य वचो विदेहजा पपात दीप्ताग्निचये सझम्पितम् ।
स्त्रियस्समस्ता रुरुदुः ससाध्वसं प्रचुक्रुशुः सम्मुमुहुर्भयाकुलाः ॥७१॥

उस प्रकार के वचनों का उच्चारण कर विदेहजा झमाके के साथ, दहकती आग की ज्वालाओं में कूद पड़ी । वहाँ खड़ी सारी की सारी स्त्रियाँ मारे भय के रोने एवं चिल्लाने लगीं ।

भयान्विताश्चापपतन्नदुद्रुवन् सुकोमला माणवकाः स्वमन्दिरम् ।
यथाकथञ्चिद्व्यथमानमानसा वयोऽतिवृद्धाः सदयं हि तस्थिरे ॥७२॥

अत्यन्त कोमल वय के बच्चे तो भयभीत होकर भहरा पड़े तथा (पुनः उठ कर) अपने घर की ओर भागे । वस, अवस्था में अधिक वृद्धजन ही मारे करुणा के व्यथाक्रान्त मन के साथ, यथाकथंचित् (वहाँ) खड़े रह सके ।

विलापचीत्कारनिपातधावनप्रमोहहाहेतिमहारवैर्नभः ।
तदा नु पर्याकुलमेव सर्वतः द्रुतं समालक्ष्यत धैर्यभञ्जकम् ॥७३॥

(लोगों के) विलाप, चीत्कार, भूमिपात, भागदौड़, मूर्च्छा तथा प्रचण्ड हाहाकार से सर्वतः पर्याकुल नभोमण्डल, उस समय जोरों से धैर्यध्वंसी प्रतीत होने लगा ।

चिताप्रविष्टामवलोक्य जानकीमभूद्विसंज्ञो हनुमान् सलक्ष्मणः ।
विभीषणोऽश्रूणि मुमोच कम्पितः प्लवङ्गमाश्चापि चकम्पिरे भिया ॥७४॥

जानकी को चिताग्नि, में प्रविष्ट हुई देख कर लक्ष्मण-सहित हनूमान् अचेत हो गये । काँपते हुए विभीषण अश्रुपात करने लगे तथा वानरगण भी मारे भय के थहराने लगे ।

अथाधितारापथमिष्टवाहना महेन्द्रमुख्यास्त्रिदशास्समाययुः ।
विदेहजाशीलपरीक्षणं महद् दिदृक्षवो योजितपुष्पवर्षणाः ।।७५।।

तभी अपने-अपने (अभीष्ट) वाहनों पर बैठे हुए, इन्द्रादि देवगण, देवी वैदेही की महान् अग्निपरीक्षा को देखने की लालसा से, पुष्पवर्षा करते हुए, आकाशमण्डल में उतर आये ।

वृषध्वजाऽम्भोजमृणालसम्भवावुभावलञ्चक्रतुरभ्रमण्डलम् ।
जयध्वनिध्वस्तविलापरोदनाः सुरा ननन्दू रघुनाथमूर्जितम् ।।७६।।

वृषध्वज (शिव) एवं कमलनाल से उत्पन्न ब्रह्मा—दोनों ने आकाश को सुशोभित किया । जयजयकार की ध्वनि से विलाप एवं रोदन की ध्वनियों को न्यग्भूत करने वाले देवताओं ने महामहिमशाली राघव का अभिनन्दन किया ।

उवाच देवप्रमुखः प्रजापतिः कृती भवान् राघव ! लोकनायक !
अपेक्ष्य लोकं यदियं तपस्विनी पवित्रमूर्तिर्दयिता परीक्षिता ।।७७।।

देवताओं में प्रमुख प्रजापति (ब्रह्मा) बोले—हे लोकनायक राघव ! आप धन्य हैं जो कि जनमत का आदर करते हुए आपने पवित्रता की मूर्ति, अपनी तपस्विनी (पतिव्रता) पत्नी की परीक्षा ली !

अनिन्द्यसौन्दर्यवतीं गुणान्वितां धवानुरक्तां मृगलोचनां प्रियाम् ।
परस्त्वदन्यः क इव त्यजेज्जनोऽन्यथा धरित्र्यां परिभोगकातरः ।।७८।।

अन्यथा, आपके अतिरिक्त, इस संसार में भोगविलास के लिये लालायित दूसरा कौन व्यक्ति है जो कि (सीता जैसी) अनिन्द्य सौन्दर्य-सम्पन्न, गुणान्विता, प्रियतम में अनुरक्त, मृगलोचनी प्रिया को (यूँ ही) त्याग देता ?

विदेहजां भूमिसुतामयोनिजामवेहि लक्ष्मीं कमलालयां ध्रुवम् ।
न मानवी सा न च मानवो भवान् उभावपि स्वर्गविहारिणौ जनौ ।।७९।।

हे राघव ! दिव्य जन्म वाली, भूमिसुता वैदेही को आप निश्चित रूप से कमल-वनवासिनी लक्ष्मी समझें ! न सीता (सामान्य) मानवी स्त्री है और न ही आप (सामान्य) मानव पुरुष ! आप दोनों ही वैकुण्ठ-लोक में विहार करने वाले प्राणी (लक्ष्मीएवं विष्णु) हैं !

स्ववल्लभां स्वीकुरु भद्र ! राघव ! कृशानुशक्तिः क्व तदीयदाहने ?
स्वयं प्रपूतोऽङ्गचयाभिमर्शतो न पावयित्रीं प्रपुनाति पावकः ॥८०॥

हे राघव ! आप आपनी वल्लभा को स्वीकार करें ! उसे दग्ध कर पाने की शक्ति भला कृशानु (अग्नि) में कहाँ है ? जो देवी सीता के अंग-प्रत्यंग के संस्पर्शमात्र से स्वयं पवित्र हो उठा हो, वह पावक भला पावयित्री (पवित्रकर्त्री) सीता को क्या पवित्र करेगा !

त्रिलोकशल्यं दशवक्त्रमट्टितुं स्वकर्मभिः स्थापयितुं निदर्शनम् ।
प्रभोऽवतीर्णोऽसि धरां सुरार्चितः कथं स्वरूपं न विचीयतेऽनघ !!८१॥

हे प्रभो ! त्रिलोक के लिये शल्यभूत, दशानन रावण का संहार करने के लिए तथा अपने सत्कर्मों से (संसार में) उच्चादर्शों की संस्थापना करने के लिये ही, देवताओं की अभ्यर्थना स्वीकार कर आप धराधाम में अवतीर्ण हुए हैं ! हे अनघ ! आप अपना स्वरूप (मूलरूप) क्यों नहीं पहचान पा रहे हैं !

अथ निगदति वाचं पद्मयोनावुदारामिति निखिलजनौघप्राणपीयूषदात्रीम् ।
परिशमितचितार्चिः स्वाङ्कमारोप्य सीतां प्रकटितनिजमूर्तिर्हव्यभागुत्पपात ॥

समस्त जनसमूह के लिये प्राणसञ्जीवनी प्रदान करने वाली, इस प्रकार की उदार वाणी जब पद्मयोनि (भगवान् ब्रह्मा) ने अभिव्यक्त की तभी चिताकी लपटों को शान्त करके तथा अपनी मानवाकृति मूर्ति को प्रकट करते हुए भगवान् अग्निदेव देवी वैदेही को अपनी गोदी में लिये हुए (चिताग्नि से) ऊपर निकल आये ।

तरुणतरणिदीप्तां नीलवक्रालकान्तां निशितकनकभूषां रक्तकौशेयवेषाम् ।
त्रिदशयुवतिसौम्यांदिव्यरूपां ददौ तां सपदिजनकजातां राघवायाऽग्निदेवः ॥

तरुण रवि के समान उद्दीप्त, काले एवं घुँघराले केशकुन्तलों वाली, देदीप्यमान सुवर्णाभूषणों से अलंकृत, रक्तवर्ण कौशेय परिधान धारण किये हुई, देवांगनाओं के समान सौम्य तथा दिव्य रूप वाली जनकनन्दिनी को अग्निदेवता ने तत्काल ही राघव को समर्पित किया ।

वैदेहीं सुरसिन्धुपूतचरितां गृह्णीष्व दत्तामया
त्वत्प्राणां मनसा गिरा च कृतिभिः शुद्धामनन्याश्रयाम् ।
कः शक्तोऽक्षततेजसैव नितरां स्वेनैव संरक्षितां
संस्प्रष्टुं मनसाऽपि दूषितमनाः सूर्यप्रभां राघव !!८४॥

(अग्निदेव ने कहा –) हे राघव ! देवनदी गंगा के समान पवित्र चरित्रवाली, मनसा-वाचा-कर्मणा सर्वथा शुद्ध, हृदयमन्दिर में एकमात्र आपको अधिष्ठित करने वाली, आपके ही जीवन से जीवित तथा मेरे द्वारा समर्पित की गई वैदेही को आप स्वीकार करें। अपने ही अक्षत तेज से निरन्तर संरक्षित सूर्यप्रभा-सरीखी इस (पति देवता) को, दूषित मनोवृत्ति वाला कौन; भला मन से भी छू पाने में समर्थ है ?

एवंवादिनि धातरि प्रणिहिते देवे च वैश्वानरे
सोत्कण्ठं नयनाम्बुसिक्तवदनो जग्राह रामः प्रियाम् ।
सोऽवादीत्ननु देव ! साधु भवता रामोऽद्य संरक्षितः
उत्तीर्णोऽस्मि समं विदेहसुतया कौलीनकुल्यामहम् ॥८५॥

प्रजापति ब्रह्मा के इस प्रकार कहने पर तथा भगवान् वैश्वानर के (सीता-सहित) स्वयं उपस्थित होने पर, आँसुओं से भींगे मुखमण्डल वाले राम ने बड़ी ललक के साथ प्रिया (सीता) को ग्रहण किया। उन्होंने प्रजापति से कहा--देव ! आजआप ने निश्चय ही, सम्यक् रूप से राम की रक्षा कर ली। विदेहनन्दिनी के साथ ही साथ मैं भी (आपके इस स्पष्टीकरण से) लोकापवादरूपी नदी को पार कर गया हूँ।

जानाम्यात्मनिलीनसौम्यहृदयां चारित्र्यशुद्धां प्रियां
पूतां राममयीमनन्यशरणां स्वप्नेऽपि नोऽन्याश्रयाम् ।
आशंकेत ममापि चारुचरितं लावण्यलालाटिकं
लोकोऽयं कृपणस्ततो व्यवसितं कृत्यम्मया निष्ठुरम् ॥८६॥

प्रभो ! मैं जानता हूँ कि सीता का सौम्य हृदय मुझमें ही केन्द्रित है। यह भी जानता हूँ कि मेरी प्रिया पवित्र चरित्र वाली, राममयी, अनन्यशरण तथा स्वप्न में भी किसी और का आश्रय नहीं लेने वाली है। फिर भी यह कृपण (बुद्धि से दरिद्र) समाज (लंका में स्थित सीता को तत्काल स्वीकार कर लेने पर) मेरे भी चरित्र पर शंका करता और मुझे रूप-सौन्दर्य का दासानुदास समझता। बस इसी कलंक से बचने के लिये मैंने यह निष्ठुर व्यवहार किया।

कौलीनं भजतेऽधुना रघुपतिर्नो वा विदेहात्मजा
आवां द्वावपि पावितौ सुकृतिनौ देव ! त्वदीयाशिषा ।
एवं प्रोच्य रघूत्तमे सविनयं सीताकरं गृह्णति
माङ्गल्योत्सवसागरः कपिबले लोके द्रुतं प्रोद्गतः ॥८७॥

'अब (इस अग्निपरीक्षा एवं देवसाक्ष्य के बाद) न तो राघव लोकापवाद का पात्र बनेगा और न ही विदेहनन्दिनी सीता ! हे प्रभो ! हम दोनों ही (अब) आपके आशीष से सौभाग्यशाली एवं पवित्र बन चुके हैं'—ऐसा कह कर जैसे ही रघूत्तम ने, विनम्रतापूर्वक, देवी सीता का हाथ अपने हाथ में लिया, वैसे ही वानर-सैन्य एवं उपस्थित जनसमाज में मंगल एवं उत्सव का सागर वेगपूर्वक उमड़ पड़ा !

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं सीताप्रमाणैः कृतम् ।
सर्गः पञ्चदशोऽयमेति विरतिं स्वाधीनकान्तां दधत्
तस्मिन्नग्निपरीक्षणाभिध इह श्रीजानकीजीवने ।।८८।।

घनीभूत आनन्दरूपी मकरन्द-विन्दुओं से रुचिर, मधुवृष्टि करने वाला, नई घटनाओं से युक्त तथा नूतन काव्यपरम्परा वाला जो काव्य देवी सीता की ही प्रेरणा से प्रणीत किया गया है, उस जानकीजीवन नामक महाकाव्य में स्वाधीनकान्ता (सीता) के वर्णन से सम्बद्ध 'अग्निपरीक्षा' शीर्षक यह पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।८९।।

महाकवि कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पत्रसमूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका एकमात्र पवित्र फल है, अपनी ही नियति से उत्पन्न हुआ अभिराजराजेन्द्ररूपी वह काव्यवृक्ष चिरंजीवी बने ।

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्येऽग्नि-
परीक्षासंज्ञकः पञ्चदशः सर्गः ।

षोडशः सर्गः

अथनिहतदशास्योऽन्वास्यमानः कपीन्द्रैःसुरसदसि विपूतां मैथिलीं प्राप्य रामः।
प्रजिगमिषुरयोध्यां सोदरस्नेहविद्धःसपदि सदयमूचे राक्षसेन्द्रं प्रपन्नम् ॥१॥

इसके अनन्तर, सोदर (भरत) के स्नेह में लसे-पगे तथा कपियूथपों द्वारा सुसेवित, देवसंसद में पवित्र (घोषित की गई) मैथिली को प्राप्त कर, अयोध्यापुरी लौटने के लिए समुत्सुक राम, अपने अन्तरंग राक्षसेन्द्र विभीषण से तत्काल ही करुणापूर्वक बोले।

त्वरयति मम चेतः कैकयीनन्दनं तं मम विरहजतापोद्दामदावप्रदग्धम्।
निरवधिकवियोगं द्रष्टुमद्यैव भद्र ! विरचय तदुपायं मत्कृते तूर्णतूर्णम् ॥२॥

प्रिय विभीषण ! मेरे विरहजन्य तापरूपी उद्दाम दावानल में दग्ध हुए, अनन्त वियोगव्यथा वाले आयुष्मान् कैकयीनन्दन भरत को आज ही देखने के लिए मेरा मन बेचैन हो रहा है। इसलिए, यथाशीघ्र मेरे (अयोध्या) लौटने का प्रबन्ध करो।

मनसि वचसि काये धर्मसंस्कारबद्धस्त्वमसि ऋतपरीतः साधु लङ्कां प्रशाधि।
मयि विनिहितबुद्धिर्मां सदैव ब्रवीथा अहमपि नितरां त्वांसंस्मरिष्यामि पुर्याम्॥

तुम मन, वाणी तथा काय (कर्म) में धर्म-संस्कारों से बँधे हुए हो, ऋत-सत्य से ओत-प्रोत हो। तुम सम्यक् रूप से लंका का प्रशासन करो। अपनी बुद्धि मुझमें केन्द्रित करके, सदैव मेरा स्मरण करते रहना और मैं भी अयोध्या में तुम्हें निरन्तर स्मरण करता रहूँगा।

इति निगदति रामे दुर्वियोगव्यथार्ताः प्रवरकपिभटास्ते निर्यदश्रुप्ररोहाः।
ददृशुरतनुदीना गृघ्नुनेत्रैरदीनां प्रकटितनिजभावा वत्सलां मैथिलीं ताम् ॥४॥

श्रीराम के ऐसा कहते ही श्रेष्ठ कपियोद्धा (सुग्रीव, अंगद, हनूमान् आदि) प्रभु के अनभीष्ट वियोग की व्यथा से आर्त हो उठे। आँसुओं की धार (उनके नेत्रों से) फूट चली। ने अतिशय दीन-हीन दीखने लगे। तब उन सब ने ममतामयी मैथिली से अपने मन का भाव प्रकट किया (कि वे भी प्रभु राघव के साथ चलना चाहते हैं)।

कपिभटहृदयज्ञा साधु तेषां कृतज्ञा सविनयमिदमूचे राममासाद्य सीता ।
मयि भवतु कृपालू राघवः पूरितेच्छः प्लवगनिकरमुख्यानेतु सर्वान्समेत्य ।।५।।

कपिभटों की मनोवृत्ति को समझने वाली तथा उनके प्रति पूर्णतः कृतज्ञ देवी सीता ने तब राघव के पास जाकर विनम्रता के साथ कहा—'मेरी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले राघव ! मुझ पर कृपालु हों ! स्वामी ! कपिसेना के यूथपतियों को साथ लेकर ही अयोध्या लौटें !'

सहृदयदयितायाः प्रीतवाचं निशम्य प्रमुदितमनसाऽसौ राघवस्तानवोचत् ।
अभिलषितमिदम्मे वक्ति सीता मनोज्ञं स्वयमपि च निनीषुर्युद्धवीरानहं स्याम्

सहृदय पत्नी की ममताभरी वाणी को सुनकर राघव ने आह्लाद-भरे मन से, उन यूथपतियों से कहा— सीता मेरे ही मन की बात कह रही है। मैं तो स्वयं भी इन युद्धवीरों को (अपने साथ) ले चलना चाहता हूँ।

अयि दनुजपते ! त्वं लक्ष्मणश्चाञ्जनेयः इह कुरुत समग्रं सत्प्रबन्धं मिलित्वा
रघुकुलनृपतीनां राजधानीमयोध्यामुपसरयु मनोज्ञां यूथपा भालयन्ताम् ।।७।।

राक्षसराज विभीषण ! कुमार लक्ष्मण एवं हनूमान् को साथ लेकर, अब तुम सारा समुचित प्रबन्ध सम्पन्न करो। सरयू के तट पर स्थित रघुवंशी नरपतियों की मनोहर राजधानी अयोध्या को वानर-सेनापति भी देखें।

इति कथयति रामे पुष्पकं राक्षसेन्द्रो धनपतिपरितुष्ट्यै विश्वकर्मप्रणीतम्
सुरनगरसदृक्षं कामनामात्रनेयं पृथुविततविमानं सत्वरं ह्याजुहाव ।।८।।

राघव के ऐसा कहते ही राक्षसेन्द्र विभीषण ने कुबेर की खुशी के लिए विश्वकर्मा द्वारा (स्वयं) निर्मित, अमरावती पुरी के समान (रमणीय) इच्छामात्र से सञ्चरण करने वाले विशाल एवं विस्तीर्ण पुष्पक विमान को आमन्त्रित किया।

अथ कुमुदसुषेणोल्कामुखार्कप्रजंघा गजगवयगवाक्षानङ्गगन्धोत्कटाश्च ।
द्विविदपनसनीलोन्मादनोज्जम्भधूम्राः शरभनलसमेता यानमध्ये प्रविष्टाः।।९

विमान के आ जाने पर सर्वप्रथम कुमुद, सुषेण, उल्कामुख, अर्क, प्रजंघ, गज, गवय, गवाक्ष, अनंग, गन्धोत्कट, द्विविद, पनस, नील, गन्धमादन, जम्भ, धूम्र, शरभ तथा नल विमान में प्रविष्ट हुए।

रघुपतिरपि भार्यां स्वाङ्कमारोप्य तस्थौ मणिरचितमहार्घे रत्नपीठे पुरस्तात् ।
अथ तदनु निषेदुर्वालिसूनुः सुकण्ठः पवनसुतसुमित्रानन्दनौ जाम्बवांश्च ।।

रघुपति श्रीराम भी प्रिया वैदेही को बाँहों में सँभाले हुए सबसे आगे मणि-निर्मित एक बहुमूल्य रत्नपीठ पर आसीन हुए । उनके पीछे ही बैठे बालिसूनु अंगद: सुकण्ठ (सुग्रीव) हनुमान्, लक्ष्मण तथा जाम्बवान् !

परिजननिकुरम्बे पुष्पकोत्सङ्गरूढे रघुतनयनिदेशाद्राक्षसेन्द्रो रुरोह ।
कपिबलमवशिष्टं सान्त्वयित्वा प्रकामं मणिरुचिरविमानं प्रेरयामास रामः ।।

जब समस्त परिजन पुष्पक विमान के भीतर बैठ गये तब राघव के आदेश से (अन्त में) विभीषण भी आरूढ़ हुए । अवशिष्ट वानर-सेना को भरपूर सान्त्वना प्रदान कर, राम ने (तब) उस मणि-रुचिर विमान को प्रेरित किया ।

वरवरटशरीरं नीरवं वातवेगं कनकशिखरिवप्रं हर्म्यकक्षैर्विभक्तम् ।
बहलमणिगवाक्षं किङ्किणीनादरम्यं वियति निभृतमेव प्रेरितं ह्युत्पपात ।।

श्रेष्ठ राजहंस के समान आकृति वाला, ध्वनि-विहीन, वायु के समान गति वाला, सुमेरुश्रृङ्ग के समान प्रतीत होने वाला, हर्म्यों एवं कक्षों में विभक्त, अनेक मणिखचित गवाक्षों से सम्पन्न, किङ्किणियों की झनझनाहट से रमणीय वह (पुष्पक) विमान प्रेरणा पाते ही चुपचाप आकाश में जा पहुँचा ।

अथ चलति विमाने पातयामास दृष्टिं विकटसमरभूमौ संस्मृतातीतदुःखः ।
रघुपतिरवकृष्य प्रीतभार्यां समीपे शिशुरिव कुतुकार्तस्तामुवाच प्रमुग्धाम् ।।

तदनन्तर, विमान के चल पड़ने पर बीते दुःखों का भली-भाँति स्मरण करते हुये राघव ने भयावह रणभूमि की ओर देखा और प्रियतमा सीता को पास खींचकर, कौतुक से व्यग्र शिशु की तरह बेसुध हुई सी वैदेही से बोले ।

प्रविततरणभूमिं तामिमां पश्य सीते ! प्रथितदनुजवीरा वानरैर्यत्र शीर्णाः ।
इह पवनतनूजेनाहता धूम्रमुख्या इह खलु घननादं लक्ष्मणस्ते जघान ।।१४।।

सीते ! इस विशाल रणभूमि की ओर तो देखो । यहीं पर वानर यूथपों द्वारा विख्यात राक्षस-वीर मारे गये । यहीं पर पवनपुत्र द्वारा धूम्र आदि का वध किया गया और यहीं तुम्हारे (देवर) लक्ष्मण ने मेघनाद को मारा ।

समदगजबलाढ्यः कुम्भकर्णोऽत्र विद्धः इह सुमुखि दशास्योदेवशत्रुर्विशीर्णः ।
विषधरशरबन्धैः कूटयोधीन्द्रशत्रुः इहशिखरिसुवेलेऽस्मान्बबन्धक्षपायाम् ।।१५

मदमत्त गजराज के समान महाबली कुम्भकर्ण यहीं मारा गया । सुमुखि ! देवशत्रु दशानन (रावण) भी यहीं विशीर्ण (छिन्न-भिन्न) हुआ । मायायुद्ध करने में निपुण इन्द्रजित् (मेघनाद) ने यहीं सुवेल पर्वत के शिखर पर घनी रात में हम सबको सर्पास्त्र (नागपाश) के प्रयोग से बाँध लिया था ।

पवनसुतसमक्षं कृत्तशीर्षां निशम्य विधुमुखि ! घननादेनात्र दैन्यव्यथार्तः ।
अतिकरुणविलापैर्व्यानरेन्द्रानुदश्रून्ननु विरहितसीतो राघवोऽहं चकार ।।१६

हे चन्द्रमुखि ! पवनपुत्र हनुमान् के समक्ष ही मेघनाद द्वारा किया गया तुम्हारा शीर्षच्छेद-समाचार सुनकर दैन्य एवं व्यथा से आर्त (अपनी प्राणवल्लभा) सीता से विरहित मुझ राघव ने अपने अत्यन्त करुण क्रन्दनों से वानर यूथपतियों के भी नेत्र गीले कर दिये थे ।

जलनिधिचलवेलालोलखेलाखलीनं पुलिनमिदमनूनं सैकतं पश्य सीते !
श्रितकपिपृतनोऽहं सिन्धुमुत्तीर्य रात्रौ दशमुखविजिगीषुश्चेह सुष्वाप तान्तः।

सीते ! समुद्र की चंचल लहरों की उन्मुक्त क्रीडा को संयमित करने वाले इस विस्तीर्ण सैकत पुलिन को देखो ! रावण पर विजय पाने की आकांक्षा वाला मैं वानर-सेना के साथ सागर को पार कर, रात्रिवेला में यहीं थका-माँदा सो गया था ।

जलधिधनुषि रूढोऽमोघबाणप्रभोऽयं दशवदनजिघत्सुः सेतुरालोक्यतेऽत्र ।
इह खलु नलनीलस्पर्शमात्रेण सिन्धौगिरिशिखरनिकायःपुप्लुवे फेनतुल्यः ।।

और यहाँ दृष्टिगोचर हो रहा है वह सेतु जो कि सागररूपी धनुप पर सन्धानित, दशानन के वधार्थ समुद्यत, अमोघ बाण के समान परिलक्षित होता है। यहीं पर, नल और नील के संस्पर्श-मात्र से पर्वतों के शिखर-समूह, सागर के जल पर फेन के समान तैरने लगे थे ।

वियदुपरिसुनीलं नीलसिन्धुश्च नीचैरुभयमपि समानं पश्य कान्ते विचित्रम् ।
इह गगनपृथिव्योर्लक्ष्यते नैव भेदो निखिलमपि विहायस्सागरो वा विभाति ।।

ऊपर नीला आकाश और नीचे नीला समुद्र ! दोनों सर्वथा एक जैसे हैं ! देखो प्रिये ! कितना विचित्र दृश्य है यह ! यहाँ आकाश एवं पृथ्वी का कोई पार्थक्य ही नहीं दीखता । सब कुछ या तो आकाश प्रतीत हो रहा है या फिर (मात्र) समुद्र !

इहसुमुखि धरायां यावती सृष्टिरास्ते ह्यधिजलधि ततोऽपि प्राज्यमात्रा विचित्रा।
त्रिगुणमधिकमस्ति व्यायतं सिन्धुवक्षो जलनिधिरशनाया देवि ! पादांशभूमेः।।

हे सुमुखि ! इस पृथ्वी पर जितनी भी जीवसृष्टि है, समुद्र के गर्भ में उससे भी अधिक मात्रा उसकी विद्यमान है, जो कि चित्र-विचित्र भी है। हे देवि ! समुद्र-रूपी करधनी वाली चतुर्थांशभूत पृथ्वी से तीन गुना अधिक विस्तृत है सागर का वक्षःस्थल !

झषमकरभुजङ्गग्राहनक्रप्रविद्धं प्रहसदिव निकामं शुभ्रडिण्डीरपुञ्जैः।
लुठदिव चलवीचिक्षोभवेगात्प्रमत्तं जलधिविकलरूपं रूपय प्रेयसीदम् ।।२१।।

हे प्रिये ! महामत्स्यों, मकरों, सर्पों, ग्राहों तथा नक्रों (घड़ियालों) से ओत-प्रोत, धवल फेनराशि के बहाने मानो ठठाकर हँसते हुए, चंचल लहरों के संघर्ष-वेग से मानो लोटते हुए उन्मत्त (प्राणी) के समान, सागर के विकलताभरे इस रूप को देखो !

नयनपथमुदीते भारतोर्वीधरोऽयं वियति शिखररूढः शैलराजो महेन्द्रः।
दशवदनपुरीं तां द्रष्टुकामस्सझम्पं सपदि पवनसूनुस्सागरेऽतः पपात ।।२२।।

वह देखो वैदेही ! आकाश में उठे शिखरों वाला भारत-भूमि का पर्वत, पर्वतराज महेन्द्र दृष्टिगोचर हो रहा है। रावण की प्रख्यात राजधानी (लंका) को देखने की इच्छावश, पवनपुत्र हनूमान् ने इसी पर्वत के शिखर से, वेगपूर्वक झमाके के साथ छलाँग भरी थी।

त्रिपुरहरपरीतं तीर्थमेतच्च सिन्धोर्जलधिहृदयबन्धात्प्राङ्मया स्थापितं यत्।
अयमिह शरणम्मामागतो राक्षसेन्द्रो विरहितदशशीर्षः शुद्धभावोऽनुभाव्य ।।

त्रिपुरहर भगवान् शिव से अधिष्ठित यही है वह समुद्र-तीर्थ जिसे मैंने सागर का हृदय बाँधने से पूर्व स्थापित किया था ! दशानन का पक्ष छोड़कर, राक्षसराज यह विभीषण शुद्धभाव से, यहीं मेरी शरण में आया था।

चलितशतपताका हेमहर्म्याट्टशृङ्गा विततसुपथरम्या तोरणैर्दुष्प्रवेशा।
द्रवितकनकदीप्ता वालिभुक्तापुरीयं प्लवगपतिरिदानीं शास्ति यां सन्नयज्ञः।।

फहराते हुए सैकड़ों ध्वजों वाली, स्वर्णखचित महलों की अटारियों एवं कंगूरों वाली, चौड़े राजमार्गों से रमणीय, प्रवेशद्वारों के कारण कठिनाई से प्रवेश करने योग्य तथा दहकती अग्नि के समान देदीप्यमान (वानरराज) वाली द्वारा पालित यह रही किष्किन्धा नगरी, नयज्ञ वानरराज सुग्रीव इस समय जिसका शासन कर रहे हैं।

मदिषुकुलिशघातप्राणशून्योऽत्र वाली मयि विनिहितबुद्धिश्चानुभूतस्वपापः ।
प्रियतनुजकराग्रं मत्करे मेलयित्वा स्वजनगणपरीतोऽत्रैव जीवान् मुमोच ।।

मेरे वाण के वज्र-सदृश आघात से प्राण-शून्य हुए, अपने कल्मष का अनुभव करने वाले तथा (मृत्युवेला में) मुझमें केन्द्रित बुद्धि वाले वानरराज वाली ने प्रिय पुत्र अंगद का हाथ मेरे हाथ में देकर, यहीं पर अपने बन्धुजनों के बीच, प्राण छोड़े थे ।

अथदयितमुदारं प्रार्थयामास सीता कपिपतिपरिणीता नाथ वाञ्छामि नेतुम् ।
बहलपुरुषपुञ्जेऽप्येकलाऽत्मानमत्र ह्यविरतमसहायां निर्विनोदाञ्च मन्ये ।।

तभी सीता ने, दयालु प्रकृति वाले अपने स्वामी राघव से प्रार्थना की—हे नाथ ! मैं सुग्रीव की परिणीताओं को भी (अपने साथ अयोध्या) ले चलना चाहती हूँ । इस विमान में ढेर सारे पुरुषों के बीच मैं एकमात्र महिला हूँ तथा निरन्तर स्वयं को असहाय तथा विनोद-रहित अनुभव कर रही हूँ ।

जनकदुहितृवाचं युक्तियुक्तां निशम्य प्लवगपतिमवादीद्राघवेन्द्रस्तदर्थम् ।
अथ झटिति विमानं भूमितल्पेऽवतीर्णं कनकवसनसज्जा रूढवत्यो महिष्यः ।।

जनकनन्दिनी की युक्तिपरक वाणी को सुनकर, राघवेन्द्र श्रीराम ने उस आशय की बात वानरराज सुग्रीव से कही । तदनन्तर, कुछ ही क्षणों में पृथ्वी पर उतरे पुष्पक विमान में सुवर्णभूषण एवं (रम्य) परिधान से अलंकृत (सुग्रीव की) पटरानियाँ भी समारूढ़ हो गईं ।

रुचिरतनुलताभिस्ताभिरावेष्ट्यमानाकपिपतिदयिताभिर्मुख्यतारारुमाभिः ।
विपुलहृदयमोदं सङ्गताऽत्मानुकूलं सदृशसदसि सौख्यं विन्दते सर्वजन्तुः ।।

मनोहर देहयष्टि वाली, तारा एवं रुमाप्रभृति सुग्रीव की उन राजमहिषियों से आवेष्टित की गई सीता, आत्मानुकूल प्रभूत हार्दिक आह्लाद को प्राप्त हुई । सभी प्राणी मनोऽनुकूल समाज में ही सुख प्राप्त करते हैं ।

प्लवगयुवतिवृन्देऽध्यासितेऽद्धा विमानं पुनरपि सकृदूर्ध्वं लाघवादारुरोह ।
रघुपतिरनिमेषैर्लोचनैः साधु पश्यन्स्मृतविगतविषादो मैथिलीं तामुवाच ।।

वानरयुवतियों की टोली के बैठ जाने पर, एक बार पुनः पुष्पक विमान बड़ी तीव्रता के साथ ऊपर उठा । अपलक नेत्रों से, (चौतरफा) ध्यानपूर्वक देखते हुए राघव, बीते दुखों का स्मरण करके, वैदेही से पुनः बोले ।

गगनधुरि विलग्नःशान्तकान्तारकान्तो मुखरसलिलपातो भूरिरिङ्गद्विहङ्गः ।
गिरिरयमतिरम्यःप्रस्रवाख्यो विशालो ह्यधिदरि घनकालो यत्र सीते व्यतीतः।।

प्रिये वैदेहि ! आकाश की धुरी (केन्द्र) का स्पर्श करने वाला, शान्त वनों के कारण रमणीय, मुखर प्रपातों से भरा-पुरा, चहकते पक्षियों से युक्त यही है अत्यन्त मनोहर एवं विशाल प्रस्रवण गिरि, जिसकी कन्दरा में मैंने पावस ऋतु बिताई थी !

कति कति कतिधा नो धातुरागैर्विचित्रैरनुकृतय उदाराश्चित्रितास्ते मयाऽत्र ।
कथमपि मयि सुप्ते किन्तुसौमित्रिणाताःकरपुटजलसेकैःक्षालिता स्मारिकात्वात्।।

इस पर्वत (की शिलाओं) पर, विस्मयकारी धातुरागों से मैंने कितनी ही बार तुम्हारी जाने कितनी मनोहर आकृतियाँ अंकित नहीं कीं ? परन्तु मेरे यथाकथञ्चित् सो जाने पर, सौमित्रि (लक्ष्मण) ने अँजुरी के पानी से उन्हें धो-पोंछ कर मिटा दिया, क्योंकि वे तुम्हारी याद दिलाती थीं ।

सजलजलधराणां घोरघोरं विरावं श्रवणपुटनिपेयं धैर्यविध्वंसदक्षम् ।
शिशुरिव निशि शृण्वन्नस्फुटक्रन्दनार्तःइह सुदतिधृतोऽहं लक्ष्मणेनाङ्कपाल्याम्!!

शोभन दन्तपंक्तियों वाली सीते ! कानों से सुनाई पड़ने वाली, धैर्य-संयम के विनाश में समर्थ, सजल जलधरों की अत्यन्त भयावह गड़गड़ाहट को रात्रिवेला में सुनता हुआ मैं जब बच्चों की तरह, अव्यक्त क्रन्दन करता विकल हो उठता था तो इसी पर्वत-कन्दरा में कुमार लक्ष्मण मुझे अपनी बाँहों में सँभाल लेते थे ।

इममपि गिरिकूटं पश्य यत्र त्वयाऽमुं कपिगणमवलोक्य प्रच्युतास्तेऽवतंसाः ।
पवनतनययत्नैः सङ्गमोऽत्रैव जातो दशमुखवधहेतू ऋष्यमूकेप्लवङ्गैः ।।३३।।

इस पर्वत-शिखर को भी देखो, जहाँ तुमने वानरों का समूह देख कर, अपने आभूषण नीचे गिरा दिये थे। पवनतनय के प्रयासों से इसी ऋष्यमूक पर्वत पर, रावण के वध का साधनभूत मेरा संगम (मैत्री) वानरों के साथ सम्पन्न हुआ था ।

मुकुरविमलनीरा स्नानसोपानतीरा ऋषिमुनिकपियूथे सानुकम्पा नु पम्पा ।
प्रतिमधुपमुपेतं यत्र धीरोद्धतत्वं प्रतिनलिनि च रूढामानिनीमानचर्चा ।।३४।।

दर्पण के समान निर्मल जल वाली, स्नान की सीढ़ियों से अलंकृत तट वाली तथा ऋषियों-मुनियों एवं कपियूथों के प्रति सानुकम्प यही है पम्पा नामक झील, जहाँ प्रत्येक भ्रमर में धीरोद्धत नायक का भाव तथा प्रत्येक (विकसित) कमलिनी में मानिनी नायिका जैसी मानचर्चा विद्यमान है।

अनुतटमिह सीते! पूजयामास भक्त्या सहृदयशबरी सा धर्मचर्याऽनुलीना।
निहत इह कबन्धो देवि! दग्धो जटायुः प्रणम विहगराजं भस्ममात्रावशेषम्॥

सीते! इसी पम्पा के तट पर धर्मचर्या में अनुलीन, सरस हृदय वाली शबरी ने बड़ी निष्ठा के साथ हमारी पहुनाई की थी। यहीं पर राक्षस कबन्ध (मेरे द्वारा) मारा गया और देवि! यहीं मैंने जटायु का दाह-संस्कार सम्पन्न किया था। भस्म-मात्र अवशिष्ट उन विहगराज को प्रणाम कर लो।

स्मरसि सुतनु! तीरे पर्णशालां तटिन्याननु सकृदपि पश्य प्राक्सखीन्वन्यबन्धून्।
वनघनतडिदाभा देवि गोदावरीयं बकुलकुटजवृक्षा लक्ष्मणाऽरोपितास्ते॥३६॥

हे सुतनु! नदी के तट पर स्थित (अपनी) पर्णशाला की स्मृति तो तुम्हें है न! वनवासकालीन बन्धुओं तथा पुराने मित्रों (पशु-पक्षियों) को तो देख ही लो एक बार। देवि! अरण्यरूपी मेघ की विद्युल्लता के समान यह रही वह गोदावरी नदी और वह रहे बकुल (मौलसिरी) तथा कुटज के वे वृक्ष जिन्हें कुमार लक्ष्मण ने संवर्धित किया था!

निहतदनुजयूथे दण्डकेऽस्मिन्निदानीं पथि-पथि तृणगेहास्तापसानां लसन्ति।
अयमिह मखधूमो देवि! पारावताभःप्रथयति वियदुत्थः कायकल्पप्रमाणम्॥

मारे गये राक्षस-संघों वाले इस दण्डक वन में, इस समय गली-गली में तपस्वियों के पर्णकुटीर शोभायमान हैं! देवि! पारावत पक्षी के रंग वाला, आकाश में उठता, यह यज्ञ का धुआँ दण्डकवन के कायाकल्प का प्रमाण पुष्ट कर रहा है।

इह तपति सभार्यो दक्षिणाशावधूटीवदनतिलकभूतो विन्ध्यवेधा अगस्त्यः।
अतपदिह सुतीक्ष्णोगस्त्यशिष्योमनस्वी सच मुनिशरभङ्गो येन वर्धापिताऽसीः॥

दक्षिण दिशारूपी नववधू के भालतिलक-स्वरूप, विन्ध्यभूमि के सिरजनहार भगवान् अगस्त्य अपनी भार्या (देवी लोपामुद्रा) के साथ इसी दण्डकवन में तपस्या करते हैं। यहीं अगस्त्य-शिष्य मनस्वी महर्षि सुतीक्ष्ण ने भी तप किया और प्रख्यात महामुनि शरभंग ने भी, जिनसे तुमने आशीः प्राप्त किया था।

जनपद इह वृद्धो लास्यगीतैः कलाभिःसुभगयुवतिरूपैः ख्यातसंज्ञो विदर्भः।
इयमपि च मनोज्ञा मालवी मालभूमिर्विलसति भुवि रेवा यत्र चैतेदशार्णाः॥

कोमल नृत्यों, गीतों तथा लोककलाओं से भरा-पुरा तथा कमनीय नारी-सौंदर्य से प्रख्यात यश वाला यह है विदर्भ जनपद! और यह है मनोहर मालव-मण्डल की गोइँड़ जमीन जिसकी माटी में विलस रही है नर्मदा नदी! ये हैं दशार्ण जनपद के क्षेत्र।

अयि विधुमुखिसीते ! चित्रकूटं मनोज्ञं वयमिममुपयाता लक्ष्यते कामदोऽसौ ।
स्मरसि सुतनु!वृत्तं धृष्टइन्द्रात्मजोऽसौ प्रहितशरविपन्नो दण्डितोऽत्रैव मूढः ॥

चन्द्रमुखि सीते ! अब हम लोग रमणीय चित्रकूट तक आ पहुँचे हैं। वह दिखाई पड़ रहा है कामदगिरि ! सुतनु ! उस घटना की स्मृति तो है न । ढीठ तथा मूढ़ इन्द्रपुत्र जयन्त, सन्धानित किए गए मेरे बाण से दुर्दशाग्रस्त होकर यहीं पर दण्डित हुआ था ।

अयमुपनदि वृक्षैः सत्फलैः सान्द्रकुञ्जैरमृतसलिलवारिस्रोतसा सम्परीतः ।
गिरिशिखरविलीनश्चाश्रमोऽत्रेर्महर्षेरिह सकृदनसूया त्वां दिदेशात्रिभार्या ॥

स्वादिष्ट फलों वाले वृक्षों, सघन निकुञ्जों तथा अमृतमय जल वाले पर्वतीय प्रपातों से ओतप्रोत एवं पर्वत-शिखरों से तिरोहित, पयस्विनी नदी के तट पर विद्यमान यह है महर्षि अत्रि का आश्रम ! महर्षि अत्रि की भार्या देवी अनसूया ने यहीं एक बार तुम्हें (नारी-धर्म का) उपदेश दिया था !

निहत इह विराधो बाधको राधकानां भरत इह विनेतुं मामुपागच्छदार्तः ।
अनुदिनमिह जाता शास्त्रचर्चा सहैव स्फुटनिगमरहस्यैस्तापसैर्ज्ञानवृद्धैः ॥४२॥

आराधकों का बाधक विराध यहीं (मेरे द्वारा) मारा गया था और यहीं, मुझे मनाने के लिए आर्त कुमार भरत आये थे। वेद के रहस्यों से अवगत ज्ञानवृद्ध तपोधनियों के साथ यहीं रोज-रोज शास्त्रचर्चा हुआ करती थी !

किमिह परिचिनोषि प्राप्यवाल्मीकिगेहम् उपरि शिखरिशृङ्गे पूर्वदृष्टं समृद्धम् ।
सुखदवसतियोग्यं शान्तकान्तारदेशं ननु महितमहर्षिं साध्वपृच्छं तदाऽहम् !!

ऊपर पर्वत की चोटी पर स्थित, फल-फूल से समृद्ध, पहले भी देखे गये महर्षि वाल्मीकि के इस कुटीर को पहचान रही हो न ? वन-यात्रा के समय तब मैंने श्रेष्ठ महर्षि से शान्त वनप्रदेश के विषय में पूछा था ।

प्रणम विबुधसिन्धुं भानुकन्याञ्च सीते! वयमिममुपयातास्तीर्थराजं मनोज्ञम् ।
रघुकुलनृपतीनां सिद्धसाम्राज्यभूमेर्विधिमखपरिपूतो गोपुराभःप्रयागः ॥४४॥

सीते ! प्रणाम करो देवनदी गंगा एवं रविकन्या यमुना को ! अब हम आ पहुँचे हैं तीर्थराज प्रयाग ! यह प्रयाग, रघुवंशी भूपतियों की महीयसी साम्राज्य-भूमि का प्रवेश-द्वार सरीखा है जो कि प्रजापति के अश्वमेध यज्ञों से पवित्रित है ।

अमृतधवलतोया राजहंसीव गंगा शबलतनुमयूरीसन्निभा भानुकन्या ।
सरभसमिह बद्ध्वा देवि! गाढोपगूढं चिरविरतिजखेदं साधु रिक्तः प्रगाढम् ।।

अमृतमय स्वच्छ जल वाली गंगा राजहंसी के समान तथा भानुकन्या (यमुना) चितकवरी देह वाली मयूरी सी लगती है । हे देवि ! दोनों नदियाँ यहाँ वेगपूर्वक (परस्पर) प्रगाढ़ आलिंगन में बँध कर अपने चिरकालीन वियोगजन्य खेद को पूरे मन से समाप्त करती हैं ।

चरणकमलचर्यामत्र सम्पाद्य सम्यक् सुरमुनिजनपूज्यश्रीभरद्वाजसूरेः ।
अधिभरतमभीष्टञ्चापि विज्ञायवृत्तं तदनु जिगमिषामिप्राप्तसीमामयोध्याम् ।।

अब इस प्रयाग में, देवताओं, मुनियों तथा सामान्य गृहस्थों द्वारा पूजित महामहिम महर्षि भरद्वाज के चरणकमलों की भलीभाँति पूजा सम्पन्न कर तथा प्रिय कुमार भरत के विषय में अभीष्ट (मंगलमय) समाचार जानकर ही प्राप्त सीमा वाली अयोध्या की ओर प्रस्थान करना चाहता हूँ ।

इति जनकतनूजां साधु सम्बोध्य रामः पवनगति विमानं स्थातुमत्रादिदेश ।
रघुपतिमवलोक्य प्रीतदृष्ट्या महर्षिः पुलकभरवृताङ्गस्सौम्यवाग्भिर्ननन्द ।।४७

इस प्रकार जनकनन्दिनी को सम्यक् रूप से समझाकर श्रीराम ने वायुसरीखी गति वाले विमान को उतरने का आदेश दिया (उतरने पर) राघव को प्रेमभरी दृष्टि से देखते हुए, पुलकभार से ओतप्रोत अंगों वाले महर्षि भरद्वाज ने सौम्य वचनों द्वारा अभिनन्दन किया ।

जयतु जयतु रामो राघवस्सिद्धमंत्रो हृदयकलुषमोहोत्सारणानाममोघः ।
जयतु दशमुखारिर्धर्मरक्षाप्रदक्षो वयमिह सविशेषं स्वागतं व्याहरामः ।।४८।।

हृदय के कलुषों तथा अज्ञानों को दूर भगाने के लिए अमोघ एवं सिद्ध मंत्र स्वरूप हे राम ! तुम्हारी जय हो, जय हो ! धर्म की रक्षा में समर्थ, दशानन विध्वंसक की जय हो । इस प्रयागभूमि में हम सब विशेष रूप से आपका स्वागत करते हैं ।

निखिलविपिनवृत्तं वेद्मि रुद्धैस्तपोभिर्न खलु किमपि गूढं मत्कृते रामभद्र !
श्रितकपिपतिसख्यो बद्धसिन्धुर्जितारिर्विलससि ननुदिष्ट्यातीर्णकान्तारवासः ।।

हे रामभद्र ! मेरे लिये कुछ भी अज्ञात नहीं है । अपनी उदग्र तपश्चर्या के कारण मैं वनवास अवधि में घटे समस्त वृत्तों को जानता हूँ । सुग्रीव की मैत्री का आश्रय लेकर, सागर पर सेतु बाँधने वाले तथा शत्रु (रावण) पर विजय पाने वाले आप, अब सचमुच वनवास की अवधि को पार करके, शोभा प्राप्त कर रहे हैं ।

श्रयति निरवधीतिं भीतिमक्षुण्णतेजा विरहविशिखविद्धो नित्यनव्यप्रतीक्षः ।
भरत उषितनन्दिग्रामजीर्णो विशीर्णस्तमनुजमणिरत्नं राम!सम्भावयाशु ।।५०।।

अक्षुण्ण तेज वाले, वियोगरूपी शराघात से विद्ध, नित्यप्रति (आपकी नूतन) प्रतीक्षा वाले, नन्दिग्राम के (घोर) एकान्तवास से जीर्ण-शीर्ण कुमार भरत, अनन्त ईति (दैवी भय) एवं भीति (सांसारिक भय) से संत्रस्त हो रहे हैं। हे राघव! अपने मणिरत्न सरीखे सहोदर को शीघ्र ही कृपान्वित करें।

जिगमिषति दिशान्तं वारुणं वाऽरुणोऽयं सपदिनलिनबन्धुस्तन्न युक्तं प्रयातुम् ।
प्लवगबलसमेतस्साधु विश्रम्य रात्रौ समशितमधुपर्कः श्वः प्रभाते क्रमेथाः ।।

नलिनबन्धु भास्कर अब कुछ ही क्षणों में वारुणी दिशा की तलहटी में जा छिपना चाहता है। इसलिये सम्प्रति आपका प्रस्थान करना उचित नहीं है। कपिसैन्य के साथ, आज रात में (यहीं आश्रम में) पूर्ण विश्राम कर तथा कुछ खा-पीकर कल प्रभातवेला में जाइयेगा।

इति रघुपतिमिष्टं प्राघुणं प्राघुणानां मधुरविशदवाग्भिर्भावयन् मामतेयः ।
महितविबुधभोगैरातिथेयं विधातुं प्रवरनिजतपोभिः सत्प्रबन्धांश्चकार ।।

पाहुनों के भी पाहुन, परमप्रिय राघव को इस प्रकार स्नेहपगी सुस्पष्ट वाणी से प्रसन्न करते हुए देवी ममता के पुत्र महर्षि भरद्वाज ने उच्च स्तरीय देवोचित भोगों से (राम का) आतिथ्य सम्पन्न करने के लिए अपने श्रेष्ठ तपोबल से शोभन प्रबन्ध किये।

अथ नवनिधयस्ते सिद्धयश्चाष्टसंख्याः पुरुषयुवतिरूपा दिव्यभोगान्महार्घान् ।
झटिति समुपनिन्युर्वासभोज्यानुरूपानभवदतनुकामा साऽभिरामा त्रियामा ।।

इसके अनन्तर पुरुष एवं महिला के रूप में (सदेह) उपस्थित, नवों निधियों तथा आठों सिद्धियों ने क्षण भर में (राम तथा उनके सहचरों के) रहने तथा खाने के योग्य बहु मूल्य दिव्य भोगों को प्रस्तुत किया। फलतः वह मनोहर त्रियामा परिपूर्ण मनोरथ वाली सिद्ध हुई।

अथ विकसति भानौ भानुवंशावतंसः पवनसुतमवोचद्राघवो भद्र ! तूर्णम् ।
धृतवरनरवेषः सर्वमावेद्य वृत्तं सुखय भरतमाशु प्रोत्सुकं तं मदर्थम् ।।५४।।

दूसरे दिन सूर्योदय होते ही सूर्यवंशावतंस राघव ने पवनपुत्र हनूमान् से कहा—भद्र मारुते ! सत्पुरुष का वेष धारण कर शीघ्र ही जाओ और मेरे लिए समुत्कण्ठित कुमार भरत को सारा समाचार बताकर उसे शीघ्र ही आह्लादित करो।

शिरसि धृतनिदेशो वायुजो वायुरूढो वनजनपदभूमिं स्यन्दिकां गोमतीञ्च ।
अतिलघुतमसाख्यांनिम्नगास्ता अतीत्य द्रुमनिकरपरीतं नन्दिवासं ददर्श ।।५५

स्वामी का आदेश सिर-माथे लगाकर वायुनन्दन ने आकाशमार्ग से वनों, जनपदभूमियों, स्यन्दिका (सई) गोमती तथा अत्यन्त लघु तमसा नाम वाली— उन सारी नदियों को पार कर, वृक्षसमूहों से घिरे नन्दिग्राम को देखा ।

समशितफलमूलं रुक्षगात्रं कृशाङ्गं जटिलमतनुशोकं वल्कलं संवसानम् ।
रघुपतिपदलीनं वेष्टितं साध्वमात्यैः कुलगुरुबलमुख्यैः पौरवर्गप्रजाभिः ।।५६

इसके अनन्तर, मारुति ने दूर से ही फलमूल (मात्र) का भक्षण करने वाले, रूखे गात्र एवं दुर्बल अंगों वाले, जटाजूट से सुशोभित, अपार सन्ताप से बोझिल, बल्कल वस्त्रों को धारण किए हुए, रघुपति के श्रीचरणों में निलीन, श्रेष्ठ अमात्यों कुलगुरु (वशिष्ठ) सेनापतियों तथा नागरिकों-प्रजाजनों से घिरे हुए ।

विमलमणिविटङ्के पादुके राघवस्य चतुरुदधिधरित्रीं पालयन्तं निधाय ।
अथ भरतमुदारं ब्रह्मतेजःप्रकर्षं दधतमवलुलोके मारुतिर्दूरतोऽपि ।।५७।।

विमल मणियों से निर्मित वेदिका पर राघव की चरणपादुकाओं को संस्थापित करके, चतुस्सागरपर्यन्त भूमण्डल का पालन करते हुए, ब्रह्मतेज के प्रकर्ष (गरिमा) से श्रीमण्डित उदार भरत को देखा ।

निभृतमवनितल्पं क्षिप्रमेत्य द्विजातिः प्रकटितवरवेषस्तत्समीपञ्च गत्वा ।
पवनतनय ऊचे साधु वर्धस्व तात ! सुभगममृतवादं त्वत्कृते व्याहरामि ।।५८

ब्राह्मणवेषधारी हनूमान् वेगपूर्वक (आकाश से) पृथ्वी पर उतरे तथा सत्पुरुपोचित वेषभूषा में कुमार भरत के पास पहुँच कर बोले —हे तात ! सम्यक् ऐश्वर्य प्राप्त करो ! तुम्हारे लिये एक मनोरम अमृतमय सन्देश ले आया हूँ !

त्यज हृदयजदाहं दारुणं भो मनस्विन् भवति सदभिलाषस्तेऽधुना पूर्णकामः ।
अयि भरत!यमित्थंनीलमेघाभदेहंविगणयसि समाधौ सोऽभ्युपेतस्समक्षम् ।।५९

हे मनस्विन् ! अपने दारुण हृदयदाह को अब समाप्त कर दीजिए । आपकी श्रेष्ठ आकांक्षा अब कृतार्थ होने को है ! हे भरत ! इस कठोर तप द्वारा, जिस नीलमेघ के समान श्यामल मूर्ति वाले राघव का दर्शन आप समाधि में करते रहे हैं, वहीं (अब) आपके समक्ष उपस्थित हैं ।

विततसमरभूमौ रावणं कुम्भकर्णं नमुचिरिपुविजेत्रं रावणिं योधमुख्यान् ।
प्लवगबलसहायो राघवेन्द्रः प्रमथ्य क्षपितविजनवासोऽभ्येति तूर्णं ससीतः ।।६०

विस्तृत समरभूमि में, रावण-कुम्भकर्ण तथा नमुचिरिपु (देवराज इन्द्र) के विजेता रावणपुत्र मेघनाद तथा अन्य वीर योद्धाओं को विनष्ट करके, वनवास की अवधि पूर्ण करने वाले राघवेन्द्र श्रीराम, सीता-समेत, वानरवाहिनी के साथ शीघ्र ही यहाँ आ रहे हैं !

इति कथयति वाचं वायुसूनौ प्रहृष्टो विशदनयनदृष्टिः कैकयीनन्दनोऽसौ ।
विपुलपुलकभारैर्द्राक्पपात क्षमायां क्षणमपि बुबुधे नो चित्तचैतन्यमार्तः ।।

वायुपुत्र हनूमान् द्वारा यह सन्देश प्रकट करते ही आह्लाद से ओतप्रोत, देदीप्यमान नेत्रदृष्टि वाले कुमार कैकयीनन्दन (भरत) अपार पुलक के वेगवश, अकस्मात् पृथ्वी पर गिर पड़े । आर्त भरत, क्षण भर के लिये, चित्त की चेतना ही भूल बैठे !

अथ सपदि मुहूर्तात्लब्धसंज्ञः समुत्थः पवनतनयमङ्के सन्निधाय प्रगाढम् ।
निखिलविजनवृत्तं साधु पप्रच्छ वीरः कपिपतिरपि तस्मायाचचक्षे क्रमेण ।।

तदनन्तर दूसरे ही क्षण, चेतना लौटते ही वह वेगपूर्वक उठ खड़े हुए तथा पवनतनय को प्रगाढ़ आलिंगनपाश में बाँध कर वीर भरत ने सम्पूर्ण अरण्य-वृत्तान्त को आमूलचूड पूछा । कपिश्रेष्ठ मारुति ने भी उन्हें (सब कुछ) क्रमानुसार बताया ।

स्वजननिवहमध्ये पौरवर्गे च तूर्णं प्रजवपवनवेगात् कर्णरूढा प्रवृत्तिः ।
अभवदखिललोके चर्चिता सौख्यदात्री युवतिरिवसकामाऽलङ्कृताभूदयोध्या ।।

राम के लौटने का वह समाचार स्वजन-समूह के बीच तथा पौर-मण्डली में भी, तीव्रगामी पवन (आँधी) के वेग से कानों-कान व्याप्त हो गया । सम्पूर्ण जवार (क्षेत्र) में वह सुखदायक समाचार फैल गया तथा अयोध्या नगरी भी स्वाधीनपतिका नायिका के समान नख-शिख अलंकृत हो उठी ।

विततकुसुमलाजाःसाक्षताश्चन्दनार्द्राश्चलितशतपताकाःक्षालिता गन्धतोयैः ।
पणवमुरजभेरीशङ्खश्रृङ्गप्रणादा निखिलनगरवीथ्यःसज्जिताःसंबभूवुः ।।

बिछे हुए पुष्पों एवं तालमखानों (लाजा) वाली, अक्षतों से युक्त, चन्दन-मिश्रित जल से आर्द्र, फहराती हुई सैकड़ों पताकाओं वाली, सुगन्धित जल से प्रक्षालित की गई, पणव (नगाड़ा) मुरज (मृदंग) भेरी (तुरही) शंख तथा श्रृंगों की ध्वनियों से निनादित सम्पूर्ण अयोध्या की गलियाँ (राम की आगवानी में) सुसज्जित हो उठीं ।

स्तवनकुशलसूताः सर्ववादित्रदक्षा रघुकुलसृतिविज्ञा वन्दिवैतालिकाश्च ।
सरसललितलास्योन्मादिता वारवध्वो रघुपतिमभिषेक्तुं निर्ययुस्ता गृहेभ्यः ॥

संस्तवन करने में कुशल सूत, समस्त प्रकार के वाद्यों में निष्णात वादकगण, रघुकुल की परम्परा के मर्मज्ञ चारण एवं वैतालिक, सरस एवं ललित कोमल नृत्यों से सिरचढ़ी वारांगनाएँ—सबके सब राघवेन्द्र श्रीराम के स्वागतार्थ घरों से बाहर निकल पड़े ।

रथतुरगगजस्था हेमपल्यङ्कनद्धाः समरविजयदक्षा निर्ययुः सैन्यवीराः ।
कनकरथविरूढा राजदाराश्च सर्वा रघुपतिमभिषेक्तुं नन्दिभूमिं समीयुः ॥६६

रथों, घोड़ों तथा हाथियों पर सवार अथवा सुवर्णखचित शिविकाओं पर आरूढ़, समर जीतने में समर्थ सैन्यवीर भी (राम के अभिनन्दनार्थ) चले पड़े । रघु-पति का अभिषेक करने के लिये राजपरिवार की समस्त महिलाएँ भी सुवर्ण-खचित रथों पर बैठ कर, नन्दिग्राम की ओर चल पड़ीं ।

द्विजकुलगुरुबन्धुश्रेष्ठवीरैरमात्यैर्विजयजयसुमंत्राशोकसिद्धार्थमुख्यैः ।
अनुगत उपगूढश्चापि शत्रुघ्नकेन नभसि विततदृष्टिः कैकयीजोऽवतस्थे ॥६७

ब्राह्मण-मण्डली, गुरु वसिष्ठ, बन्धुजनों तथा विजय-जय-अशोक एवं सिद्धार्थ आदि अमात्यों द्वारा अनुगत तथा (छोटे भाई) शत्रुघ्न द्वारा बाहों में सँभाले गए, कैकयीनन्दन भरत भी (पुष्पकविमान के दर्शनार्थ) आकाश की ओर टकटकी बाँधे खड़े हो गए ।

त्वरितमथ मुहूर्तात्पुष्पकं व्योम्निनीले जलदमदिरमन्द्रोद्घोषविस्ताररम्यम् ।
विबुधनगरकल्पं किङ्किणीनादनद्धं विततशतपताकं हंसतुल्यं व्यलोकि ॥६८

तभी अकस्मात् क्षणभर में ही, नीले आकाश में राजहंस के समान पुष्पक विमान दिखाई पड़ा जो कि बादलों की तरह मदिर एवं मन्द्र उद्घोष उत्पादित करने के कारण रमणीय, देवनगरी (अमरावती) के समान, किंकिणियों की झनझना-हट से ओतप्रोत तथा दोधूयमान शत-शत पताकाओं से अलंकृत था ।

अवतरति विमाने निर्ययौ राघवेन्द्रस्तदनु जनकजाऽसौ लक्ष्मणश्च प्रसन्नः ।
प्लवगसुभटभार्या राक्षसेन्द्रः प्लवङ्गास्तदनु बहिरुपेताः सर्व एव क्रमेण ॥६९

विमान के पृथ्वी पर उतरते ही (सर्वप्रथम) राघवेन्द्र श्रीराम बाहर निकले । उनके बाद, जनकनन्दिनी तथा प्रसन्नचित्त कुमार लक्ष्मण बाहर आये । तदनन्तर वानरेन्द्र सुग्रीव की महिषियाँ, राक्षसराज विभीषण तथा कपि यूथपति—सबके सब क्रमशः बाहर निकले ।

कथमिव ननु कः कः केन केन क्रमेण प्रियजनमिह कं कं कैश्च रूपैर्ननाम ।
तदखिलवरवृत्तं शारदाख्येयमेव प्रकृतकविकवित्वं क्षीणशक्त्येव तत्र ।।

अब उसके बाद वहाँ किस-किस ने, किस- किस क्रम से, किस-किस प्रियजन को, किन-किन विधियों से प्रणाम किया—वह सारा का सारा श्रेष्ठ समाचार देवी सरस्वती ही वर्णित कर सकती हैं। वह सब कुछ (सूक्ष्मता से) बता पाने में (इस) साधारण कवि की कविता तो क्षीणशक्ति (असमर्थ) ही है।

रघुपतिपदलीनं दण्डवद्भूमितल्पे नयनसलिलसेकक्लिन्नगात्रञ्च पश्यन् ।
भरतमतिविपन्नं राघवञ्चाऽप्यधीरं क इह नहि रुरोद ग्लानिहर्षप्रवेगैः ।।७१

पृथ्वी पर दण्ड के समान पड़े, रघुपति के चरणों में विलीन, अश्रु वर्षा से भींगी देह वाले अत्यन्त विपन्न कुमार भरत एवं धैर्यविहीन राघव को देखता हुआ कौन व्यक्ति (वियोग-जन्य) ग्लानि तथा (पुनर्मिलनजन्य) हर्ष के प्रवेगों से नहीं रो पड़ा ?

अथ रघुपतिरङ्के सोदरं सन्निधाय भरतमतिविनीतं लालयंश्च प्रगाढम् ।
अवददतिशयार्द्रः मा शुचं याहि तात ! ननु युगपदिदानीमावयोर्दुःखनाशः ।।

इसके पश्चात् राघव ने, अत्यन्त विनीत भाई भरत को गोद में लेकर, प्रगाढ़-रूप से दुलराते हुए, अतिशय आर्द्र होकर कहा—हे तात ! शोक मत करो। सचमुच इस समय, एक ही साथ हम दोनों की वेदनाओं का अन्त हो रहा है !

वन्द्यं वसिष्ठमपि राम उपेत्य तूर्णं सीतासहोदरयुतोऽविकलो ववन्दे ।
पश्चात्समस्तजननीः भटमंत्रिमुख्यान् पौरान् प्रजाश्च गतवान् सदयं क्रमेण ।।

तदनन्तर सीता एवं लक्ष्मण को साथ लेकर धैर्यशाली राघव ने क्षिप्रगति से पास पहुँच कर, वन्दनीय गुरुवर्य महर्षि वसिष्ठ की वन्दना की। उसके पश्चात् वह बड़ी विनम्रता के साथ क्रमशः समस्त जननियों, सेनापतियों, अमात्यों, नागरिकों तथा प्रजाजनों के पास (प्रणामार्थ) पहुँचे।

सुग्रीवमारुतिविभीषणवालिसूनुऋक्षेशनीलनलधूम्रसुषेणजम्भान् ।
मैन्दार्कगन्धमदनोल्कमुखादिवीरान् रामः सशौर्यगुणपुञ्जकथं चचक्षे ।।७४।।

सुग्रीव मारुति, विभीषण, अंगद, जाम्बवान्, नील, नल, धूम्र, सुषेण, जम्म, मैन्द, अर्क, गन्धमादन तथा उल्कामुख आदि रणवीरों का परिचय राघव ने (अयोध्यावासियों को) उनके शौर्य एवं गुणसमूह की प्रशंसा करते हुए, कराया।

आयोध्यकान् प्रियजनान् समुवाच राम एषामृणं निखिलजीवनमुद्वहिष्ये ।
एतद्बलेन समरं विजितं मया तत्सत्यं ब्रवीमि हृदयेन शपेऽधमर्णः ॥

अयोध्या के (अपने) प्रियजनों से राम ने कहा—इन रणवीरों का ऋण (उपकार) मैं आजीवन वहन करूँगा। इन्हीं के बलबूते पर मैंने वह महासमर जीता। अपने हृदय की शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं सचमुच (इन सब का) कर्जदार हूँ !

दिव्यान् विभीषणगुणान् महितं वसिष्ठम् अश्रावयद्रघुपतिर्विनयाऽभ्युपेतः ।
वृद्धं शशंस पृतनापतिजाम्बवन्तं वातात्मजं प्रथितविक्रममङ्गदञ्च ॥

विनयावनत रघुनाथ ने, वन्दनीय गुरु वसिष्ठ को विभीषण के दिव्य गुण सुनाए। उन्होंने वृद्ध सेनापति जाम्बवान्, वातात्मज (हनूमान्) तथा प्रख्यात पराक्रम वाले युवराज अंगद की भी प्रशंसा की।

पूर्तिङ्गते परिचये शनकैर्भटानां स्वाम्याज्ञया च नभसि प्रहिते विमाने ।
दिव्यं रथं जनकजासहितोऽधिरूढो रामो विवेश नगरे जयनादघुष्टः ॥७७॥

धीरे-धीरे, युद्धवीरों का परिचय-प्रसंग पूर्ण हो जाने पर तथा स्वामी (राघव) की आज्ञा से, पुष्पक विमान के भी नभोमण्डल में आरूढ़ हो उठने पर, जनकनन्दिनी के साथ दिव्य-रथ पर आरूढ़ हुए राम, जयजयकार-ध्वनि के साथ राजधानी में प्रविष्ट हुए।

लाजाक्षतान् कुसुममाल्यसुगन्धजातं बाला मधूकमधुगीतलया अवाक्षुः ।
मार्गस्थपौरविकसज्जयजीवशब्दैः संवर्धितो रघुपतिर्भवनं ससाद ॥७८॥

महुवे की मिठास के समान (मधुर) गीतध्वनि वाली पुरबालाओं ने लाजा (लावा) अक्षत, पुष्प, माला एवं इत्र आदि (राम एवं सीता के ऊपर) बरसाए। राजमार्ग में (दोनों ओर) खड़े नागरिकों के मुखों से निःसृत 'विजयी हों, चिरजीवी हों' सरीखे शब्दों से अभिनन्दित रघुपति (अपने) भवन को पहुँचे।

प्राप्ते राजमहालयं रघुपतौ राज्याभिषेकोत्सवो
निर्विघ्नं समपादि वंशगुरुणा मध्येसभं वासरे ।
रामोऽभून्नृपतिर्विदेहतनया राज्ञी च पट्टाऽनघा
साऽयोध्या महिता पुनः सुखमयी सम्प्राप्य स्वं वल्लभम् ॥७९॥

रघुपति के, राजभवन में पहुँच जाने पर, वंशगुरु वसिष्ठ द्वारा, राजसभा के बीच दिन में ही श्रीराम का राज्याभिषेकोत्सव सम्पन्न किया गया। राम अयोध्या-नरेश बने तथा निष्पाप विदेहनन्दिनी उनकी पट्टमहिषी बनीं। अपने वल्लभ को पाकर, सौभाग्यशालिनी वह अयोध्या नगरी भी पुनः सुखों से भर उठी।

हृद्यैर्वादननृत्यनाट्यविकसच्छैलूषकृत्यैस्ततः
वीराणां नगरावलोकनसुखैर्दिव्यैश्च भोजोत्सवैः ।
माङ्गल्यप्रचुरा प्रमोदजलधौ हंसीव निर्यत्स्वना
मासान्तं ह्यमरावतीव विभवं भेजे रघूणां पुरी ।।८०।।

उसके अनन्तर, नृत्य-वाद्य एवं नाट्य से ओतप्रोत नटों की कलाओं से, युद्ध-वीरों के नगरावलोकनजन्य सुखों से तथा उत्तम कोटि के भोजोत्सवों से आनन्द-मंगलमयी, प्रमोदरूपी समुद्र में कलरव करती राजहंसी के समान, रघुवंशियों की वह पुरी (अयोध्या) एक महीने तक अमरावती जैसे वैभव में डूबी रही।

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं सीताप्रमाणैः कृतम् ।
सर्गः षोडशको जगाम विरतिं राज्याभिषेकाभिधः
तत्रायं महिषीत्ववर्णनपरः श्रीजानकीजीवने ।।८१।।

घनीभूत आनन्दरूपी मरन्दविन्दुओं से रमणीय, नव्य घटनाओं से युक्त, नूतन कथापरम्परा वाला जो मधुवर्षी काव्य देवी वैदेही की ही अन्तःप्रेरणा से प्रणीत किया गया है, उस जानकीजीवन नामक महाकाव्य में, सीता के राजमहिषीत्व का वर्णन करने वाला 'राज्याभिषेक' शीर्षक यह सोलहवाँ सर्ग विराम को प्राप्त हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।८२।।

महाकवि कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की देववाणी जिसका पत्रसमूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल हैं—अपनी ही नियति से उत्पन्न, अभिराजराजेन्द्ररूपी वह काव्यतरु चिरकाल तक जीवित रहे।

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
राज्याभिषेकसंज्ञकः षोडशः सर्गः ।

●

सप्तदशः सर्गः

राघवे वसुधां प्रशासत्यञ्जसा स्थापितं परितोऽपि सौराज्यं नवम् ।
ईतिभीतिविमोचिताऽऽयोध्या बभौ नायिका श्रितवल्लभेव प्रोन्मदा ।।१।।

राघव द्वारा भूमण्डल का प्रशासन किये जाने पर, चतुर्दिक तीव्रता के साथ एक नवीन सौराज्य की स्थापना हुई। ईति (दैवी प्रकोप) भीति (दस्यु आदि का आतंक) से मुक्त की गई अयोध्या (साम्राज्य) स्वाधीनपतिका रूपगर्विता नायिका के समान इठलाने लगी।

प्रस्नुतस्तनिका नवा गृष्टिर्यथा क्षीरमुद्गिरति स्वयं वत्साशया ।
मेदिनी रघुनाथशौर्योल्लासिता सा बभौ फलमूलसस्याच्छादिता ।।२।।

जैसे थनों में उतरे हुए दूधवाली(पेन्हाई)पहिलौठी गाय बछड़े के प्रेमवश स्वयं दूध पिलाने लगती है ठीक उसी प्रकार रघुनाथ के बल-विक्रम से उल्लासित पृथ्वी भी फलों, मूलों (कन्दों) तथा हरी फसलों से लहलहा उठी।

स्यन्दिकाः सरितस्तडागाः साम्बुजाः सत्त्वनिर्भयजीवितं जातं वनम् ।
यज्ञधूमसमन्वितं नीलं नभो राघवप्रथिमानमाचख्शौ ध्रुवम् ।।३।।

नदियाँ जलप्रवाहों से भर गईं, पोखरों में डबाडब पानी भर गया और वन-प्रदेश भी हिंस्र पशुओं से निर्भय वातावरण वाला बन गया। नीला आकाश, यज्ञों की धूमराशियों से समन्वित हो उठा, मानो निश्चित रूप से, रघुनाथ के यश का विस्तार कर रहा हो।

धूलयश्शमिता ववुर्गन्धानिला वारिदा ववृषुर्यथाकालं सदा ।
नाधिकं प्रतताप नैदाघेऽथवा नाधिकं प्रशशाम शीततौ रविः ।।४।।

धूलियाँ शान्त हो गईं, सुरभित हवाएँ (निरन्तर) बहने लगीं तथा मेघ यथा-वसर वर्षा करने लगे। सूर्य, ग्रीष्मऋतु में न तो सीमा से अधिक तपता था और न ही शीत ऋतु में, बहुत अधिक ऊष्माविहीन रहता था।

धर्मसंस्कृतिशीलसौजन्यादिका हृत्सु भावचयाः प्रजानां तस्थिरे।
लौकिकाऽभ्युदये स्फुरन्निःश्रेयसे व्यापृता मनुजाः स्वयं सौवस्तिकाः ॥५॥

प्रजाजनों के हृदयों में धर्म, संस्कृति, शील एवं सौजन्य आदि सद्भाव-समूह संस्कारानुप्राणित हो चले। कल्याण की कामना करने वाले सभी मनुष्य, लौकिक अभ्युदयों एवं प्रशस्त पारलौकिक कल्याणों की प्राप्ति में लग गये।

वर्णधर्मरतस्समाजो भारते रामराज्यसुखन्दधे मोदावहम्।
स्वस्थितौ परितोषिताः सर्वेजनाः कारणं न बभूव कोऽप्यन्यैनसाम् ॥६॥

सभी मनुष्य अपनी-अपनी परिस्थिति में सन्तुष्ट थे। कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे के दोष-पाप का कारण नहीं था। फलतः वर्णाश्रम-धर्म में प्रतिष्ठित भारतीय समाज, आह्लादकारी रामराज्य का सुख भोगने लगा।

नित्यमेव समाययुर्विद्यालवः पण्डिता निगमागमज्ञाः शास्त्रिणः।
शास्त्रगूढरहस्यचर्चार्थं मुदा राघवेण च तोषिता गेहान्ययुः ॥७॥

शास्त्रसम्बन्धी गूढ़ रहस्यचर्चाओं के लिये नित्य ही विद्याविलासी, निगम एवं आगम-परम्परा में निष्णात, शास्त्रज्ञानसम्पन्न पण्डित (अयोध्या) आया करते थे तथा (शास्त्रमर्मज्ञ) राघव से परितुष्ट होकर घरों को लौटते थे।

सूत्रकर्मविशारदाः कर्मान्तिका यंत्रकाः खनका नयज्ञा वेधकाः।
कुम्भकम्बलमाल्यकारा गान्धिकाः क्राकचा रजकाः कुविन्दाः शौण्डिकाः॥८॥

सूत्रकर्मविशारद (जरी का काम करने वाले) कर्मान्तिक, यन्त्रक (इञ्जीनियर) खनक (सुरंग-निर्माता) नयज्ञ, वेधक, कुम्भकार, मालाकार, कम्बलनिर्माता, गान्धिक (इत्रनिर्माता) क्राकच (आराकस) रजक, कुविन्द जुलाहे) शौण्डिक (मदिराबिक्रेता)।

ग्रामघोषमहत्तराः शैलूषका रत्नवैकटिका नदी कैवर्तकाः।
स्नापका रथकारका मायूरका रोचका मणिहारिणश्चोष्णोदकाः ॥९॥

गाँव तथा पुरवों के महतो (मुखिया) नट-नर्तक, रत्नवैकटिक (जौहरी) नदी-कैवतर्क (मल्लाह, गोताखोर) स्नापक (नहलाने वाले, बारी-कहार) रथकार, मायूरक (मोर पकड़ने वाले) रोचक (रंग-पालिश करने वाले)मनिहार, पानी गरमाने वाले।

दान्तिका भिषजः कृषाणाः शिल्पिनो वंशचर्मसुधाकृतो दौवारिकाः ।
सूतमागधवन्दिनो वैतालिकाः सेतुदुर्गसभाकृतः सन्तक्षकाः ।।१०।।

दन्तवैद्य, किसान, शिल्पी (स्थपति) वंशकार (धरिकार) चर्मकार, सुधाकार (पोताई करने वाले) द्वारपाल, सूत, मागध, बन्दी, वैतालिक, पुल-निर्माता, दुर्ग-निर्माता, सभानिर्माता, तथा बढ़ई ।

नर्तका गणिकाऽभिनेतारोऽथवा गायकाः कवयो बुधाः श्रुतिकोविदाः ।
मन्त्रिणो रणयोधिनो वैखानसा पण्डिताश्च पुरोधसो राज्याश्रिताः ।।११।।

नर्तक, गणिकाएँ (नृत्यांगनाएँ) अभिनेता अथवा गायक, कवि, विद्वान्, वेदमर्मज्ञ, मन्त्री, सैनिक, ब्रह्मचारी , पण्डित तथा राज्याश्रित पुरोहित-गण ।

स्वेषु कर्मसु निर्भरं सर्वेऽपि ते राघवेऽवति मेदिनीं भक्त्यार्पिताः ।
येन राघवशासनं सर्वोदयं स्वर्गमप्यतिचक्रमे दिव्यैर्गुणैः ।।१२।।

वे सबके सब, राघव के शासन-काल में, अपने-अपने कर्तव्यों में पूर्णरूप से, निष्ठापूर्वक समर्पित थे, जिससे कि सर्वोदय-सम्पन्न राम का शासन, अपने दिव्यगुणों से स्वर्ग को भी अतिक्रान्त कर गया ।

लालिता स्वसृभिः सखीभिर्देवरैर्मातृभिश्च विदेहजा रामप्रिया ।
पावनं रघुवंशसूत्रोन्नायकं गर्भमक्षतमादधे तेजस्विनम् ।।१३।।

बहनों (माण्डवी, उर्मिला, श्रुतकीर्ति) सखियों, देवरों (भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न) तथा जननियों (कौशल्या, कैकयी सुमित्रा) द्वारा लालित की जाती हुई, राघव की प्रिया सीता ने तभी रघुकुल की परम्परा के उन्नायक, पवित्र एवं तेजस्वी, अक्षत गर्भ को धारण किया ।

गर्भगौरवमन्थरा सा नोऽधिकम् आजगाम बहिः स्वसौधाद् व्रीडिता ।
देवरैरधरोत्तरं सम्भाषिता साध्वसाद् विजहे तदीयं सौहृदम् ।।१४।।

गर्भ की गुरुता के कारण मंथर गति वाली, लज्जाशील वैदेही अब अपने राजमहल से बाहर अधिक नहीं निकलती थी । देवर लोग (परिहास में) उल्टी-पल्टी बातें कहते थे, बस इसी भय से सीता ने उन सब के पास (ज्यादा) उठना-बैठना भी छोड़ दिया ।

भक्षितं विपुलं किमार्ये ? येन ते स्थूलमद्य हि लक्ष्यते नम्रोदरम् ।
तुन्दिला भव माऽन्यथा सन्द्रक्ष्यसे सत्वरं स्थविरा ततोऽहं वेदये ।।१५।।

'भाभी ! आज बहुत ज्यादा खा लिया है क्या ? तभी तो तुम्हारा पिचका हुआ पेट आज भारी-भरकम दिख रहा है ! बहुत मोटी मत बनो ! नहीं तो बहुत जल्दी बूढ़ी दिखाई पड़ने लगोगी । इसीलिये तो तुम्हें सावधान कर रहा हूँ !'

आननं कथमीक्ष्यते पीतं नु ते मन्थरं यतसेऽतितुं किं कारणम् ?
कण्टकं यदि पादलग्नं स्यादहं देवि ! तत्करवाणि साहाय्यं तव !!१६!!

'भाभी ! तुम्हारा चेहरा पीला क्यों दिखाई पड़ रहा है ! इतना धीरे चलने का यत्न क्यों कर रही हो ? कारण क्या है ? यदि तुम्हारे पैर में काँटा चुभ गया हो तो देवि ! तुम्हारी सहायता करूँ !,

एवमादिकटूक्तिभिस्तां गर्भिणीं लक्ष्मणः प्रजहास शत्रुघ्नोऽथवा ।
भर्त्सितोऽपि सुमित्रया श्रुत्वा वचो मैथिली स्मितमेदुरा त्रेपे चिरम् ।।१७।।

इस प्रकार नानाविध जलीकटी बातों से लक्ष्मण अथवा शत्रुघ्न, उस गर्भिणी (वैदेही) का मजाक बनाते थे, माता सुमित्रा दोनों को इसके लिए डाटती भी थीं । परन्तु बेचारी मैथिली, देवरों के व्यंग्य सुनकर (भी) बस मुसका कर चिरकाल तक लज्जा में डूबी रहती थी ।

सा क्वचिन्निजगाद सोल्लुण्ठं च तावूर्मिलां श्रुतकीर्तिमालक्ष्य द्रुतम् ।
स्थूलतामनयोर्द्वयोः सम्प्राप्तयोः कोविदौ ! निभृतं तदा प्रक्ष्याम्यहम् ।।१८।।

उर्मिला तथा श्रुतकीर्ति को देखकर (उनके सामने ही) कभी सीता ने उन दोनों (लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न) को व्यंग्यपूर्वक आड़े हाथों लिया— बच्चू ! जब ये दोनों (गर्भभार से) मोटी-मुटल्ली होंगी तब मैं तुम दोनों से भी चुपचाप (मोटाई का कारण) पूछूंगी ।

वाटिका हिमलुप्तपत्रा नीरवा पक्षिकौतुकवञ्चिता ध्वस्तोत्सवा ।
वैभवं तनुते यथा वासन्तिकं पुष्पकोरकमञ्जरीगन्धाश्रितम् ।।१९।।

जैसे हिमपातवश पत्रविहीन, पक्षियों के खेल-खिलवाड़ से वंचित, आमोद-रहित शान्त वाटिका, वसन्तऋतु के आते ही पुनः पुष्पकोरक, मञ्जरी एवं सौरभ से ओतप्रोत वैभव का प्रकाशन करने लगती है ।

भग्नसौधसुखाऽप्ययोध्या साम्प्रतं राघवेन्द्रसमागमैर्ज्योतिष्मती ।
हर्षसिन्धुविलोलवीचीनर्तनैर्यौवनं समवाप सा विष्वङ्मुखम् ।।२०।।

ठीक उसी प्रकार, भग्न सौधसुख वाली अयोध्या नगरी भी अब राघवेन्द्र श्रीराम के लौट आने से ज्योतिष्मती बन गई। हर्षरूपी सागर की चंचल लहरों के नर्तनों से राजधानी ने, हर दृष्टि से यौवन (विकास) प्राप्त कर लिया।

एवमेव सुखोत्सवप्राये दिने याति कश्चिदुपाययौ प्रायोजितः ।
राघवप्रणिधिः प्रजावृत्ताञ्चितो दुर्मुखाभिध आश्रये श्रद्धारतः ।।२१।।

सुखों एवं उत्सवों से भरे-पुरे दिन, इस प्रकार बीत ही रहे थे कि तभी प्रायो-जित (नियुक्त) किया गया, आश्रय (स्वामी रघुनाथ) के प्रति सर्वात्मना समर्पित, दुर्मुख नामक राघव का कोई गुप्तचर, प्रजावर्ग का समाचार लेकर आ पहुँचा।

स्वामिनं स विविक्त सौधस्थायिनं सत्वरं समुपेत्य चञ्चद्रोचिषम् ।
जानुपीडितभूतलो बद्धाञ्जलिस्सादरं प्रणनाम दैन्यप्लावितः ।।२२।।

जनशून्य (एकान्त) राजभवन में स्थित, प्रभामण्डल से उद्दीप्त स्वामी राघव के पास, द्रुतगति से पहुँच कर, घुटनों के बल पृथ्वी पर बैठे हुए, दीनता से अभिभूत उस गुप्तचर ने हाथ जोड़कर, सादर प्रणाम किया।

तं तथाविधमात्मकर्तव्यार्पितं निर्भयं सुपरीक्षितं सिद्धक्रियम् ।
प्रत्ययैश्च जितं विलोक्याधोमुखं राघवः प्रणिधिं प्रियं ग्लानिं ययौ ।।२३।।

अपने कर्तव्य में दत्तचित्त, निर्भय, अच्छी तरह परीक्षित, दायित्वों को सिद्ध करने वाले, बिश्वासपात्र तथा अन्तरंग उस गुप्तचर को, उस प्रकार अधोमुख बैठा देख, राघव ग्लानि से भर उठे।

निश्चितं श्रुतविप्रियो मर्माहतो दुर्मुखोऽयमुपैति नो ब्रूतेऽनघः ।
तन्मयाऽपि रहस्यमस्याशेषतो ज्ञेयमेव नृपासनस्थेनोचितम् ।।२४।।

(उन्होंने मन ही मन सोचा कि) 'निश्चय ही किसी अप्रिय समाचार को सुन कर मर्माहत हुआ यह दुर्मुख मेरे पास (सेवा-विवशतावश) आया है और बेचारा कुछ कह नही पा रहा हैं। अतएव राजा के आसन पर बैठे हुए, मेरे द्वारा भी उचित रूप से, इसका रहस्य राई-रत्ती जान ही लेना चाहिये।'

राघवः परिसान्त्वयन्नूचे ततो भद्र दुर्मुख ! किंकृतोऽयं सम्भ्रमः ?
विप्रतीपमुपाश्रितं वृत्तं नु किं तन्निवेदय निर्भयं रामोऽस्म्यहम् ॥२१॥

तदनन्तर (दुर्मुख को) सान्त्वना देते हुए, राघव ने कहा—भद्र दुर्मुख ! तुम्हारी इस घबराहट का कारण क्या है ? क्या कोई प्रतिकूल (अप्रिय) समाचार लाये हो ? उसे निर्भय होकर कहो न ! मैं राम हूँ (सब कुछ सहूँगा)।

भूपतिस्सहतेऽखिलं ह्युच्चावचं नैव चित्रमिदं नवा किञ्चिन्नवम् ।
लोकतन्त्रमिदं द्विधा सम्भुज्यते शंसयाऽथ विनिन्दया पर्यायतः ॥२६॥

राजा तो अच्छा-बुरा, सब कुछ सहता (ही) है। न यह कोई आश्चर्य है और न ही कोई नई बात ! यह लोकतन्त्र (शासन) दो प्रकार से (राजा द्वारा) भोगा जाता है, बारी-बारी, लोक-प्रशंसा अथवा लोक-निन्दा द्वारा !

यश्चतुर्दशवत्सरान् रौद्रे वने सत्त्वराक्षसमध्यगस्तस्थौ मुदा ।
घस्मरे समरे च यो लङ्कापतिं सञ्जघान विदेहजासन्तापिनम् ॥२७॥

जो चौदह वर्षों तक हिंस्र पशुओं एवं राक्षसों के बीच, भयावह वन में (भी) प्रसन्नतापूर्वक रहा और जिसने वैदेही को सन्तप्त करने वाले, लंकापति रावण को तुमुल संग्राम में मारा।

तत्कृते किल दारुणं सर्वं च यत् विद्यते ननु भद्र !सामान्यं ततः ।
यच्छ्रुतं भण तन्मुदा गुप्तं रहः सर्वथाऽभयमेव ते सन्धीयते ॥२८॥

भद्र ! उसके लिये तो निश्चित रूप से, औरों को दारुण प्रतीत होने वाली, सारी की सारी घटनाएँ भी—सामान्य (मामूली) ही हैं। अतः जो कोई भी रहस्य तुमने छिप कर सुना हो, उसे प्रसन्नता-पूर्वक कह डालो। मैं तुम्हें हर तरह से अभय कर रहा हूँ !

भूपतेर्वचनं निशम्योर्ध्वाननो नेत्रवारिनिषिक्तगात्रो दुर्मुखः ।
कम्पितैर्ननु वाचिकैरूचे प्रभो ! मैथिलीचरितं प्रजाऽलं शंकते ॥२९॥

भूपति का वचन सुन कर, मुंह ऊपर उठा कर, आँसुओं से भींगी देह वाले दुर्मुख ने, अत्यन्त कम्पनभरी वाणी में कहा—'अन्नदाता ! प्रजा देवी सीता के चरित्र पर भरपूर टीका-टिप्पणीं कर रही है !'

शर्वरीगहनान्धकारे भ्राम्यता भर्त्सिता रजकेन गेहोत्सारिता।
गेहिनी जननाथ ! सन्दृष्टा मया वल्लभाङ्घ्रिसमर्पिता क्लेशार्दिता ॥३०॥

हे जननाथ ! रात्रि के गहन अन्धकार में भ्रमण करते हुए मैंने, एक धोबी द्वारा डाँट-फटकार कर घर से निकाली गई (परन्तु शरण पाने के लिये पुनः) अपने स्वामी के चरणों में समर्पित, क्लेश से मूर्छित उसकी घरवाली (धोबन) को देखा।

तामुवाच पतिर्न चाऽहं राघवः स्वीकरोति दशास्यनीतां यः स्त्रियम्।
याहि शीघ्रमितोऽथवा दण्डान्तरं चिन्तयानि सुदारुणं पापापगे ??३१॥

पति (धोबी) उससे कह रहा था—'मैं राम नहीं हूँ जो रावण द्वारा भगाई गई (अपनी) स्त्री को (पुनः) स्वीकार कर लेता है ! भाग जा यहाँ से जल्दी कुलच्छनी ! या फिर तेरे लिये किसी दूसरे, भरपूर भीषण दण्ड की बात सोचूँ ?,

तन्मयेति निवेदितं वृत्तं श्रुतं दुर्नियोगनियोजितेन क्ष्मापते !
देव एव ननु प्रमाणं साम्प्रतं दुर्मुखो विरराम दत्वा वाचिकम् ॥३२॥

'हे पृथ्वीपति ! अत्यन्त दुखद दायित्व में नियुक्त किये गये मैंने जो कुछ सुना उसे निवेदित कर दिया। अव तो बस स्वामी ही प्रमाण हैं !'—अपनी बात कह कर दुर्मुख चुप हो गया !

दुर्मुखेऽपसृते व्यथार्तो भूपतिः कालकूटदहद्वपुः सम्मूर्च्छितः।
राजसौधकपाटरुद्धं सार्गलं सत्वरं प्रविधाय चात्मानं स्थितः ॥३३॥

(समाचार निवेदित कर) दुर्मुख के चले जाने पर, व्यथा से आर्त भूपति (राम) सम्मूर्छित हो उठे। उनका शरीर मानो कालकूटविष (के पान) से दग्ध होने लगा। उन्होंने तत्काल ही स्वयं को राजभवन की किवाड़ों के भीतर बन्द कर लिया तथा (भीतर से) साँकल चढ़ा ली।

नाऽगतो जननीः प्रणन्तुं नोऽथवा सोदरैस्सह पूर्ववद् वार्तां दधे।
मैथिलीमपि गर्भिणीं पप्रच्छ नो वल्लभां कुशलं न वाऽऽदन्नो पपौ ॥३४॥

वह पहले की तरह (उस दिन) न तो माताओं को प्रणाम निवेदित करने आये अथवा न ही भाइयों के साथ बातचीत की। यहाँ तक कि प्राणप्रिया गर्भिणी वैदेही से भी (उसका) कुशल-मंगल नहीं पूछा। न ही (कुछ) खाया, न पिया।

दर्शनं न ददौ प्रजाभ्यो नोऽथवा राजकार्यमियेष साकं मन्त्रिभिः ।
वंशपूज्यवसिष्ठमभ्यासाद्य नो मन्त्रितानि समादधे सायन्तने ।।३५।।

न उन्होंने (उस सन्ध्या में) प्रजाओं को दर्शन दिया और न अमात्यों के साथ बैठ कर राजकार्यों पर विचार-विमर्श किया। रघुकुल के पूज्य (धर्मगुरु) वसिष्ठ के साथ भी उन्होंने सान्ध्यगोष्ठी नहीं सम्पन्न की।

मैथिली स्वयमेत्य सौधं भूरिशः स्नेहपूर्णवचोभिरार्तं वाचिकम् ।
नव्यया विपदा जगादाशङ्किता किन्तु नो विवृतौ कपाटौ सार्गलौ ।।३६।।

मैथिली स्वयं अनेक बार राजभवन तक आईं। किसी नई विपत्ति से भयभीत होकर उसने, स्नेहपूर्ण स्वर में, आर्तवचन व्यक्त किये, फिर भी साँकल से जकड़ी किवाड़ें खुली नहीं।

चर्चिताऽप्यवरोधगेहेऽभूदियं राघवस्य दशा झटित्युन्माथिनी ।
विक्लवाश्च सहोदरा आतङ्किता नोऽभ्युपायममासिषुर्दैन्यार्दिताः ।।३७।।

जन-जन को उन्मथित (अशान्त) कर देने वाली राघव की यह दशा सम्पूर्ण अन्तःपुर में चर्चित हो उठी। विकलता से भरे तीनों सहोदर आतंकित हो उठे। दैन्य से पीड़ित हुए वे (समस्या को सुलझाने का) कोई उपाय नहीं खोज सके।

लक्ष्मणोऽथ गवेषणैर्जज्ञे द्रुतं दुर्मुखागमनप्रवृत्तिं गोपिताम् ।
आजुहाव स तं वरं गुप्तेचरं ज्ञातवानखिलन्नु वात्याकारणम् ।।३८।।

इसके अनन्तर, गहरी छानबीन के सहारे कुमार लक्ष्मण ने रहस्यमय, दुर्मुख के आने की घटना का शीघ्रता से पता लगा लिया। वह उस कर्मठ गुप्तचर से मिले और वात्याचक्र के कारणों को पूर्ण रूप से समझ गये।

द्रागुपेत्य गुरुं रघूणां सम्मतं व्याजहार यथायथं वृत्तान्यसौ ।
क्रोधरोषविलीनधैर्यालम्बनो निर्भयञ्च जगाद तं भीष्मं वचः ।।३९।।

वह तत्काल ही रघुवंशियों के सम्मत कुलगुरु वसिष्ठ से मिले तथा उन्हें सारा समाचार, जैसा का तैसा, निवेदित किया। क्रोध एवं रोष से उनका धैर्यरूपी अवलम्ब विनष्ट हो चुका था, फलतः उन्होंने निर्भय होकर, गुरु के समक्ष, भयावह वचन कहे।

देव हे रघुवंशपूज्यास्मद्गुरो ! राघवं परिसामयन्तां मूर्च्छितम् ।
अन्यथा क्षयमेष्यति क्ष्मा कौसला दारुणैः किल निर्णयैस्तस्याचिरम् ।।४०।।

हे देव ! रघुवंशपूज्य ! हे गुरुप्रवर ! रोषमूर्छित राघव को आप शान्त करें। अन्यथा उनके दारुण निर्णय से, निश्चय ही कोसलसाम्राज्य की धरती, शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जायेगी ।

यत्पुना रजकाभिधेयोन्मादितो मैथिलीं जनरञ्जने बद्धादरः ।
निश्चुकोष जिघाय वाऽयोध्यापतिस्तद् भविष्यति दारुणं निश्चप्रचम् ।।४१।।

प्रजानुरञ्जन में निष्ठा रखने वाले अयोध्यापति श्रीराम ने यदि पुनः रजक के (कलंक) वचनों से उन्मादित होकर, देवी मैथिली को निर्वासित किया अथवा त्याग दिया तो निश्चय ही वह महान् अनर्थ होगा ।

सत्यमेव वदामि देवेमां पुरीमित्वरैर्निमिषे शरैर्धक्ष्याम्यहम् ।
मज्जितस्सरयूजले पश्चात्स्वयमात्मदेहमपि प्रभो ! नंक्षाम्यमुम्।।४२।।

गुरुदेव ! मैं सच कह रहा हूँ (यदि आर्या के साथ ऐसा कुछ हुआ तो) वेगगामी शरों से मैं इस (अयोध्या) नगरी को ही, क्षण भर में जला कर भस्म कर दूंगा और बाद में स्वयं भी सरयू के जल में डूब कर, अपनी इस काया को भी नष्ट कर दूंगा ।

मैथिली ननु मैथिली दिव्योद्भवा सूर्यवंशमहीयसी सा देवता ।
साऽत्मजा जनकस्य राजर्षेः स्नुषा स्वर्गिणोऽपि च तातपादस्याञ्जिता ।।४३।।

मैथिली, दिव्य उद्भव वाली मिथिला की राजकन्या है (कोई सामान्य नारी नहीं) वह (वधू के रूप में) सूर्यवंश की महीयसी कुलदेवी है। वह राजर्षि जनक की पुत्री तथा हमारे स्वर्गीय पिताश्री (महाराज दशरथ) की दुलारी पुत्रवधू भी है।

राघवस्य करे न सा क्रीडाशुकी सा प्रभो ! जनपट्टराज्ञी सम्मता ।
नोऽधिकार इहावमन्तुं कस्यचित् तां यशोविमलां तिरस्कर्तुं ततः ।।४४।।

प्रभो ! वह राघव के हाथ की क्रीडाशुकी नहीं है (कि जब चाहा तब हाथ पर बैठाया और फिर पिंजरे में ठूंस दिया) वह कोसल साम्राज्य की लोकसम्मत्त पट्टमहिषी (साम्राज्ञी) भी है। अतएव उस यशस्विनी को तिरस्कृत अथवा अपमानित करने का अधिकार किसी को नहीं है ।

मल्लिकाक्षसुतेव सा हित्वा सरो मानसं वनवासकष्टान्यादधे।
सन्ततं निजसेवया स्नेहैश्च सा काननेऽपि सुखानि कान्तायाददात् ॥४५॥

राजहंस-कन्या के समान उसने मानसरोवर (अयोध्या का राजप्रासाद) को त्याग कर, वनवास के कष्टों को भोगा। फिर भी अपनी सेवा एवं स्नेह-प्रेम से, उसने वन में भी अपने स्वामी (राघव) को निरन्तर सुख प्रदान किया।

नीचरावणधर्षिता सीता सती वल्लभस्य कृते दुरन्तां वेदनाम्।
साऽन्वभून्निहता प्रविद्धा पीडिता रामजीवितजीविता पतिदेवता ॥४६॥

राम के ही जीवन से जीवित रहने वाली, पति को ही परमेश्वर मानने वाली पतिव्रता सीता ने, अधम राक्षस रावण से धर्षित (अपमानित) हो कर, अपने वल्लभ के वियोग में दुरन्त वेदनाओं को सहा। वह (वेदना से) बिंध उठी, पीड़ित हुई तथा मृतकल्प बन गई।

शत्रुधाम्नि तिरस्कृता सा निर्दयं सर्वलोकसमक्षमेवानादृता।
प्राणलोभमपोह्य संरूढा चितां मत्करै रचितां न दग्धा पावकैः ॥४७॥

शत्रु (रावण) की नगरी में ही (पति द्वारा) निर्दयता-पूर्वक तिरस्कृत की गई, सारे समाज के सामने (ही) अनादृत की गई देवी सीता, प्राणों का मोह छोड़ कर, मेरे ही हाथों रची गई चिता पर (अपनी चरित्र-परीक्षा के लिये) जा बैठी, फिर भी आग की लपटों से जली नहीं!

मैथिलीमभिनन्द्य धाता धूर्जटिः पावको मम तातपादोऽपि स्वयम्।
ग्राहयां किल चक्रतुः श्रीराघवं वेद्म्यहं किमतः परं तद्गौरवम् ॥४८॥

प्रजापति ब्रह्मा, धूर्जटी शिव, अग्निदेवता तथा स्वयं मेरे पिताश्री (महाराज दशरथ) ने मैथिली (के पवित्र चरित्र) का अभिनन्दन करते हुए, उसे श्री राघव को ग्रहण कराया। वह सब मैं जानता हूँ। भला इससे महान् उसका और कौन गौरव होगा?

एष नीचकृमिश्चरित्रं शङ्कते नारको रजकः प्रकृतया दुर्मतिः।
क्षालितं वसनं नु तेनाऽजीवनं मानसं न तमोऽद्य यावत्क्षालितम् ॥४९॥

और यह क्षुद्र कीट, प्रकृति से ही दुर्बुद्धि, नारकीय (प्राणी) धोबी (देवी सीता के) चरित्र पर टीका-टिप्पणीं कर रहा है? जिन्दगी भर उसने केवल कपड़े ही धोये परन्तु आज तक वह अपने मन का अन्धकार (मल) नहीं धो सका!

**निन्दितोऽपि श्रृगालकैः किं केसरी दैन्यमेति, परन्तु भूपो नेदृशः ।
स प्रजारञ्जनकृतेऽनर्थं गुरो ! कर्तुमुत्सहते कमप्याशीविषम् ।।५०।।**

सियारों द्वारा निन्दित होने पर भी क्या सिंह दैन्य का अनुभव करता है ? परन्तु (हमारे) महाराजाधिराज जी उस स्वभाव के नहीं हैं। गुरुवर्य ! वह तो प्रजानुरंजन के नाम पर, किसी भी विषाक्त अनर्थ को करने पर तुले रहते हैं।

**तद्भवन्तमुपागतोऽहं मङ्गलं रक्षकं शरणं समेषां शर्मदम् ।
राघवं दृढनिश्चयं क्रोधोद्धुरं दीक्षितुं क्षमते भवान् नान्यो जनः ।।५१।।**

मैं इसीलिये आपके पास आया हूँ। क्यों कि आप ही कोसल-साम्राज्य के मंगल हैं, रक्षक हैं, शरण्य हैं और कल्याणकर्ता हैं। दृढ़ संकल्प वाले, क्रोधोद्धुर राघव को दीक्षित (नरम) करने में बस आप ही समर्थ हैं, कोई और नहीं !

**वज्रघातसमां प्रवृत्तिं दारुणां लक्ष्मणेन निवेदितां श्रुत्वाऽखिलाम् ।
भैरवं प्रतिरोषमप्यालोकयन् क्लेशितो व्यथया वशिष्ठो व्याहरत् ।।५२।।**

कुमार लक्ष्मण द्वारा निवेदित, वज्राघात के समान (उस) दारुण घटना को आमूलचूड सुन कर तथा कुमार के भयानक प्रतिरोष को देखकर, व्यथा से पीड़ित हुए (गुरु) वसिष्ठ ने कहा।

**माऽतिमात्रमुपेहि दैन्यं लक्ष्मण ! जीवितेभविता न मय्युत्सादनम् ।
कैकयीमुपशिक्षितुं कामं पुरा नाऽशकं ननु सान्त्वयिष्ये राघवम् ।।५३।।**

वत्स लक्ष्मण ! अत्यधिक दैन्य का अनुभव मत करो। मेरे जीवित रहते यह उत्सादन (उत्पात) नहीं होगा। इससे पूर्व (अनर्थ करने पर तुली) रानी कैकयी को समझा-बुझा पाने में, मैं भले ही समर्थ नही हो सका, परन्तु राघव को समझा लूंगा।

**राघवाश्रितमेव नो सिंहासनं मत्तपोभिरिहोह्यते भारं भुवः ।
भूपतिर्न निरङ्कुशत्वं यास्यति चेष्टिते मयि तद्दिधास्येऽप्यंकुशम् ।।५४।।**

(कोसल-साम्राज्य का) यह राजसिंहासन केवल राघव पर ही नहीं आश्रित है। पृथ्वीपालन के दायित्व का निर्वाह मेरी तपश्चर्याओं से ही संभव हो सका है, । अतएव, मेरे (प्रयत्न) करने पर भूपति (राम) निरंकुशता (स्वेच्छाचारिता) नहीं बरतेगें ! मैं उन पर अंकुश भी लगाऊँगा।

गच्छ वत्स ! कवाटरन्ध्रोद्घोषितैः श्रावय द्रुतमेव रामं मद्वचः ।
मामुपेक्ष्य न निर्णयो ग्राह्यस्त्वया कोऽपि राघव ! सन्दिशत्येवं गुरुः ॥५५॥

वत्स लक्ष्मण ! जाओ । किवाड़ों की दरार से की गई उद्घोषणाओं द्वारा अभी इसी क्षण, राम को मेरा सन्देश सुना दो कि गुरुवर्य वसिष्ठ ने यह सन्देश भेजा है—'हे राघव ! मेरी उपेक्षा करके तुम्हें कोई भी (मनमाना) निर्णय नहीं लेना है !'

प्रातरेव पुनस्त्वयाऽहं लक्ष्मण ! राजसंसदि वीक्षणीयः सत्वरम् ।
मैथिलीं कृपणां न किञ्चिज्ज्ञापयेरन्यथा परितापमेष्यत्याकुला ॥५६॥

कुमार लक्ष्मण ! कल प्रातःकाल तुम पुनः राजसभागार में शीघ्रतापूर्वक मुझसे मिलना ! बेचारी मैथिली को कुछ भी न बताना अन्यथा व्याकुल होकर, वह सन्ताप में डूब जायेगी ।

नो भविष्यति मैथिली हव्यं पुनर्भूपतिप्रकृतिप्ररोषस्याध्वरे ।
इत्यहं प्रतिजान एव स्वात्मनो निष्ठया रविवंशमाङ्गल्यव्रती ॥५७॥

सूर्यवंश के कल्याण का व्रत लेने वाला मैं (वसिष्ठ) अपने हृदय की पूर्णनिष्ठा से यह शपथ लेता हूँ कि महाराज राम अथवा प्रजाजनों के रोष (ईर्ष्या-द्वेष) रूपी यज्ञ में, मैथिली को आहुति नहीं बनने दूँगा ?

इति निगदति वाचं धर्मनिष्ठे वसिष्ठे
तरणिकुलमहिष्ठे तातपादप्रतिष्ठे ।
शमितकलुषरोषो मन्दिरं सोऽभ्युपेत-
स्सपदि निशि सुमित्रासूनुराविद्धदेहः ॥५८॥

पिताश्री के ही समान प्रतिष्ठा वाले, सूर्यवंश के (भूपतियों के) लिये सर्वाधिक महिमामय, धर्मनिष्ठ गुरु वसिष्ठ के ऐसा कहने पर, शोकविद्ध शरीर वाले सुमित्रा-नन्दन कुमार लक्ष्मण. मन के कलुष एवं रोष को नियन्त्रित कर, रात्रिवेला में ही तत्काल राजभवन की ओर लौटे ।

विजनभवनकक्षे द्वावपि भ्रातरौ तौ
धृतरघुपतिचिन्तौ लक्ष्मणोऽथाजुहाव ।
निखिलघटितवृत्तं श्रावयामास ताभ्यां
प्रवरगुरुनिदेशञ्चापि प्राभातिकं तम् ।।५९।।

इसके अनन्तर कुमार लक्ष्मण ने, जनशून्य राजभवन के कक्ष में, राघव के विषय में चिन्ताग्रस्त उन दोनों ही भाइयों (भरत एवं शत्रुघ्न) के साथ मंत्रणा की । उन्होंने सारी की सारी घटना से उन्हें अवगत कराया तथा अगले प्रभात में कार्यान्वित होने वाले, पूज्य गुरुवर्य के सन्देश को भी सुनाया ।

भवनजनसमक्षं नो समुद्घाटनीयं
हतकरजकवृत्तं मैथिली नो शृणोतु ।
रघुकुलमणिदीपं सा विभर्त्येव गर्भे
ननु परिहरणीयो भ्रान्तझञ्झाप्रकोपः ।।६०।।

'घर के प्राणियों के समक्ष, नीच धोबी से सम्बद्ध घटना का प्रकाशन नहीं होना चाहिये । देवो वैदेही (वह सब) न सुन पायें? वह अपने गर्भ में (सम्प्रति) रघुकुल के मणिदीप को धारण कर रही हैं इसलिये (दीप बुझाने वाले) उद्भ्रान्त झञ्झानिल के प्रकोप का परिहार होना ही चाहिये ।'

रघुपतिविषयेऽतोऽस्माभिरन्यैव कापि
गृहजनसमवाये ख्यापनीयाऽति वार्ता ।
इतिसमुदितमन्त्रो लक्ष्मणो वीतनिद्रो
ऽभिहितगुरुनिदेशश्रावणाय प्रतस्थे ।।६१।।

इसलिये, कुटुम्बीजनों के बीच, श्री राघव के (आज के व्यवहार के) सन्दर्भ में हमें कोई दूसरी ही बात बतानी चाहिये (कि अमुक प्रयोजनवश आज वह एकान्त का सेवन कर रहे हैं)—इस प्रकार, भाइयों से अपना विचार व्यक्त कर, उचटी नींद वाले कुमार लक्ष्मण, पूज्यगुरु का सन्देश (राघव को) सुनाने के लिये चल पड़े ।

गत्वा सौधकवाटरन्ध्रनिकटं सौमित्रिरार्तस्वरै-
र्वासिष्ठं वचनं निदेशसदृशं रामं तदाऽश्रावयत् ।
प्रोवाच स्वयमेव देव ! हृदयं मैवं भृशं तापय
त्वद्धस्ते किल जीवितं रघुपते ! तद्रक्ष लोकं गृहम् ।।६२।।

राजभवन की किवाड़ों की दरार के पास पहुँच कर, कुमार लक्ष्मण ने तब आर्तवाणी में, आदेश के समान गुरुवर्य वसिष्ठ का सन्देश राघव को सुना दिया और अपनी ओर से भी कहा —हे देव ! इस प्रकार अपने हृदय को अतिशय सन्तप्त न करें । हे रघुपते ! लोक का जीवन (योग-क्षेम) आपके ही हाथ में है, अतएव समाज तथा अपने कुटुम्ब की रक्षा करें ।

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं सीताप्रमाणैः कृतम् ।
सर्गः सप्तदशो जनापवदनप्रख्यो नु तस्मिन्नयं
सीतां संशयितां निवेद्य विरतश्श्रीजानकीजीवने ।।६३।।

घनीभूत आनन्दरूपी मरन्दविन्दुओं के कारण रमणीय, नवीन घटनाओं वाला तथा नूतन प्रस्थान (काव्यपरम्परा) वाला जो मधुवर्षी काव्य देवी सीता की ही अन्तः-प्रेरणा से लिखा गया है, उस जानकीजीवन नामक महाकाव्य में, सीता को संशयित निरूपित करने वाला, जनापवाद-संज्ञक यह सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।६४।।

महाकवि कालिदास की कविता ही जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पत्रसमूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—अपनी ही नियति से उत्पन्न अभिराजराजेन्द्ररूपी यह काव्यतरु चिरजीवी बने !

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
जनापवादसंज्ञकः सप्तदशः सर्गः ।

अष्टादशः सर्गः

अथ प्रभाते भगवान् वसिष्ठः सम्प्रेष्य दूतान् परितो नगर्याम् ।
आमंत्रयामास समग्रपौरान् विशेषतस्तं रजकं सभार्यम् ॥१॥

प्रभातवेला में ही भगवान् वसिष्ठ ने, अयोध्या नगरी में, चारो ओर (अपने) दूतों को भेजकर, समस्त नागरिकों को—विशेष रूप से पत्नी-सहित उस रजक (धोबी) को आमंत्रित किया ।

वसिष्ठसन्देशमवाप्य सर्वे विहाय कार्याणि विलोलचित्ताः ।
समाययू राजसभान्तरालं यथोचितस्थानमवेक्ष्य तस्थुः ॥२॥

गुरु वसिष्ठ का सन्देश पाते ही, अशान्त मन वाले समस्त पौरजन (अपने-अपने) कार्यों को छोड़ कर, राजसभा में आ पहुँचे तथा यथोचित स्थान देखकर बैठ गये ।

अशेषशास्त्राम्बुधिमन्थनोत्थज्ञानामृतापानकपूतदेहाः ।
विपश्चितो वेदविधानदक्षाः समाययुः पार्थिवदेवसंघाः ॥३॥

समस्त शास्त्ररूपी सागर के मंथन से उठे (निकले) ज्ञानरूपी अमृत के पानक से पवित्र देह वाले, वैदिक कर्मकाण्ड में दक्ष, विद्वान् पार्थिव देवताओं (ब्राह्मणों) के संघ (राजसभा में) पधारे ।

विभिन्नविख्यातकुलप्रसूताः सामन्तवर्गा हयपृष्ठरूढाः ।
समाययुर्वंशगुरोर्निदेशात् रणाङ्गणे दर्शितविक्रमास्ते ॥४॥

विभिन्न यशस्वी राजवंशों में उत्पन्न तथा समरांगण में पराक्रम का प्रदर्शन कर चुके, घोड़ों की पीठ पर सवार सामन्तवर्ग रघुवंशियो के कुलगुरु (वसिष्ठ) का आदेश पाकर (राजसभा में) आ जुड़े ।

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं सीताप्रमाणैः कृतम् ।
सर्गः सप्तदशो जनापवदनप्रख्यो नु तस्मिन्नयं
सीतां संशयितां निवेद्य विरतश्श्रीजानकीजीवने ।।६३।।

घनीभूत आनन्दरूपी मरन्दविन्दुओं के कारण रमणीय, नवीन घटनाओं वाला तथा नूतन प्रस्थान (काव्यपरम्परा) वाला जो मधुवर्षी काव्य देवी सीता की ही अन्तः-प्रेरणा से लिखा गया है, उस जानकीजीवन नामक महाकाव्य में, सीता को संशयित निरूपित करने वाला, जनापवाद-संज्ञक यह सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।६४।।

महाकवि कालिदास की कविता ही जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पत्रसमूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—अपनी ही नियति से उत्पन्न अभिराजराजेन्द्ररूपी यह काव्यतरु चिरजीवी बने !

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
जनापवादसंज्ञकः सप्तदशः सर्गः ।

अष्टादशः सर्गः

अथ प्रभाते भगवान् वसिष्ठः सम्प्रेष्य दूतान् परितो नगर्याम् ।
आमंत्रयामास समग्रपौरान् विशेषतस्तं रजकं सभार्यम् ।।१।।

प्रभातवेला में ही भगवान् वसिष्ठ ने, अयोध्या नगरी में, चारो ओर (अपने) दूतों को भेजकर, समस्त नागरिकों को—विशेष रूप से पत्नी-सहित उस रजक (धोबी) को आमंत्रित किया ।

वसिष्ठसन्देशमवाप्य सर्वे विहाय कार्याणि विलोलचित्ताः ।
समाययू राजसभान्तरालं यथोचितस्थानमवेक्ष्य तस्थुः ।।२।।

गुरु वसिष्ठ का सन्देश पाते ही, अशान्त मन वाले समस्त पौरजन (अपने-अपने) कार्यों को छोड़ कर, राजसभा में आ पहुँचे तथा यथोचित स्थान देखकर बैठ गये ।

अशेषशास्त्राम्बुधिमन्थनोत्थज्ञानामृतापानकपूतदेहाः ।
विपश्चितो वेदविधानदक्षाः समाययुः पार्थिवदेवसंघाः ।।३।।

समस्त शास्त्ररूपी सागर के मंथन से उठे (निकले) ज्ञानरूपी अमृत के पानक से पवित्र देह वाले, वैदिक कर्मकाण्ड में दक्ष, विद्वान् पार्थिव देवताओं (ब्राह्मणों) के संघ (राजसभा में) पधारे ।

विभिन्नविख्यातकुलप्रसूताः सामन्तवर्गा हयपृष्ठरूढाः ।
समाययुर्वंशगुरोर्निदेशात् रणाङ्गणे दर्शितविक्रमास्ते ।।४।।

विभिन्न यशस्वी राजवंशों में उत्पन्न तथा समरांगण में पराक्रम का प्रदर्शन कर चुके, घोड़ों की पीठ पर सवार सामन्तवर्ग रघुवंशियों के कुलगुरु (वसिष्ठ) का आदेश पाकर (राजसभा में) आ जुड़े ।

सहस्रलक्षायुतकोटिपद्माधीशास्ततो वैश्यकुलावतंसाः ।
समागता वैकटिका धनाढ्या व्यापारिणो नागरसार्थवाहाः ।।५।।

उसके अनन्तर, अन्यान्य, हजार, लाख, दस लाख, करोड़ अथवा पद्म सरीखी निधियों के स्वामी, वैश्यकुलों के आभूषणस्वरूप जौहरी, धनाढ्य व्यापारी तथा नगर में रहने वाले सार्थवाह आये ।

ततोऽपरे तक्षककारुशिल्पिकुविन्दधानुष्कनिषादवर्गाः ।
सुवर्णलौहासवकुम्भचर्मप्रवेश्मकारा रजकादयश्च ।।६।।

उसके अनन्तर, अन्यान्य तक्षक (आराकस) कारु (वढ़ई) शिल्पी (मिस्त्री) कुविन्द, धानुष्क, निषाद, सुवर्णकार, लौहकार, आसवकार (मदिरानिर्माता) कुम्भकार, चर्मकार, प्रवेश्मकार (राजगीर) तथा रजकादि जन (राजसभा में) पधारे ।

नटा विटा वर्षवरा वरेण्याः कलाधरा भूपतिशंसिता ये ।
समाययुः प्राप्य गुरोर्निदेशं जिज्ञासमानाश्च सभारहस्यम् ।।७।।

नट, विट (भाँड़) वर्षवर (हिंजड़े) तथा राजसम्मान-प्राप्त श्रेष्ठ कलाकार भी, गुरु वसिष्ठ का आदेश पा कर (आकस्मिक) समायोजन के रहस्य को जानने की आकांक्षावश, आये ।

सभा च सा दाशरथी महार्घा निरन्तरा लक्षमितैर्नु पौरैः ।
ऐन्द्रीं सभामिन्द्रवृहस्पतीद्धामादित्यदीप्तां स्फुटमन्वकार्षीत् ।।८।।

लाखों नागरिकों से खचाखच भरी, महाराज दशरथ द्वारा बनवाई गई वह आलीशान राजसभा, पूर्णरूप से, देवराज इन्द्र तथा देवगुरु वृहस्पति से गौरवान्वित तथा आदित्य से प्रभासित ऐन्द्री सभा का अनुकरण कर रही थी ।

ततोऽधिमञ्चं विरराज मध्ये स्वयं वसिष्ठो भगवान् महर्षिः ।
रामादयो बन्धुजनाश्च सर्वे सव्येतरीभूय गुरोर्निषेदुः ।।९।।

इसके अनन्तर, सभा के मञ्च पर, बीचोंबीच भगवान् महर्षि वसिष्ठ, स्वयमेव विराजमान हुए । राम आदि चारों भाई गुरु वसिष्ठ के दाहिने-पार्श्व में बैठे ।

अमात्यवर्याश्च सुमन्त्रमुख्यास्ततोऽष्टसंख्याः प्रमुखो बलानाम् ।
मञ्चेऽवतस्थुर्ननु वामभागे प्रणम्य वन्द्यं प्रगुरुं वसिष्ठम् ।।१०।।

वन्दनीय श्रेष्ठ राजगुरु वसिष्ठ को प्रणाम करके सभामञ्च के वामपार्श्व में सुमन्त्र आदि आठ मन्त्रिमण्डल के सदस्यों तथा सेनाओं के प्रमुख (सेनापति) ने स्थान ग्रहण किया ।

व्यवस्थितायाञ्च तथा सभायां ब्रह्मर्षिरुत्थाय ततो वसिष्ठः ।
पयोदमन्द्राक्षतकण्ठनिर्यत्स्वरेण सम्बोध्य वचांस्यवोचत् ।।११।।

जब राजसभा उस रूप में सुव्यवस्थित हो गई, तब ब्रह्मर्षि वसिष्ठ उठे तथा जलधर-सरीखे मन्द्र (गम्भीर) एवं अक्षत (सुस्पष्ट, निर्बाध) कण्ठ से फूटती वाणी में सभासदों को सम्बोधित कर उन्होंने उद्गार व्यक्त किये ।

आयोध्यकाः पौरजनाः समग्राः ! मया वसिष्ठेन निवेद्य यूयम् ।
आकारिता राजभये नृशंसे ह्युपस्थिते द्रागिह जीवने वः ।।१२।।

अयोध्यावासी समस्त नागरिकों ! आप लोगों के जीवन में अकस्मात् एक नृशंस राजभय उपस्थित हो गया है जिसके समाधान के लिये ही मुझ (राजपुरोहित) वसिष्ठ द्वारा आप लोग, प्रार्थनापूर्वक (यहाँ) बुलाये गये हैं ।

जलौघभूभ्रंशहिमावपातप्रवातझञ्झाशलभैकमूलम् ।
नेदं भयं नापि च बाह्यशत्रुयुद्धोद्यमोत्पन्नमथापि नान्यत् ।।१३।।

परन्तु यह भय जलौघ (बाढ़) भूभ्रंश, हिमावपात, प्रवात (आँधी) झञ्झा (तूफान) अथवा शलभ (टिड्डियों) के कारण नहीं उत्पन्न हुआ हे और न ही यह भय किसी बाहरी शत्रु के युद्धोद्यम (आक्रमण) से उद्भूत है । और न ही (उस प्रकार का) कोई अन्य भय है ।

आभ्यन्तरं मानसिकं करालं भयं भयानां प्रमुखं तदूर्ध्वम् ।
आतङ्कमुत्पादयदात्मसृष्टं लुनाति भव्यं ननु कोसलानाम् ।।१४।।

वह (भय) तो समस्त प्रकार के भयों में प्रमुख तथा शीर्षस्थ, एक आभ्यन्तर मानसिक भय है, जो अत्यन्त लोभहर्षक है । अपने ही द्वारा निर्मित किये गये आतंक को विस्तारित करता हुआ वह भय निश्चय ही कोसल-साम्राज्य के सुखों का विनाश करने को है !

पौराः प्रियाः ! मद्वचनं शृणुध्वं सनिष्ठमास्थाय च सावधानम् ।
अहं ब्रवीम्यात्महितं समेषामायोध्यकानाञ्च हितं महार्घम् ।।१५।।

प्रिय नागरिकों ! निष्ठापूर्वक बैठ कर, सावधान मन से आप लोग मेरी बातें सुनें । मैं अपने हित की बात कह रहा हूँ जो कि समस्त अयोध्यावासियों का भी सर्वोच्च हित है ।

त्रिकालवेदी स्वतपःप्रभावैः ऋतस्य सत्यस्य च तत्त्वगोऽहम् ।
सप्तर्षिवृन्दे गणितो महिम्ना विरञ्चिपुत्रोऽस्मि वसिष्ठनामा ।।१६।।

अपनी तपश्चर्या के प्रभाव से मैं भूत-भविष्य-वर्तमान, तीनो ही कालों का ज्ञाता हूँ । ऋत (ब्रह्माण्डीय) तथा सत्य सांसारिक (नियमबद्धता) के मर्म को समझता हूँ । अपनी (तपो) महिमा के ही कारण सप्तर्षियों में गिना जाता हूँ । मैं प्रजापति ब्रह्मा का (मानस) पुत्र हूँ और मेरा नाम है वसिष्ठ !

धातुर्निदेशादथ जीवलोकभव्याय सूर्यान्वयभूपतीनाम् ।
अङ्गीकृता वंशगुरुप्रतिष्ठा मया चिरन्तनात्समयात्पृथिव्याम् ।।१७।।

प्रजापति ब्रह्मा के आदेशवश तथा मर्त्यलोक के कल्याण-मंगल हेतु ही मैंने इस धराधाम में, चिरकाल से, सूर्यवंशी नरपतियों के कुलगुरु बनने की प्रतिष्ठा स्वीकार कर रखी है ।

कियन्त एवाक्षतशौर्यभूपा मार्तण्डवंशेऽभ्युदिता मृताश्च ।
यशोऽवशिष्टाः खलु किन्तु सोऽहम् अकालपच्यः स्वतनुं विभर्मि ।।१८।।

इस सूर्यवंश में अक्षत शौर्य-पराक्रम वाले कितने ही भूपाल उत्पन्न हुए और मृत्यु का वरण कर कीर्तिशेष बन गए । परन्तु अकालपच्य (कालजयी) मैं अपना (वही प्राचीन) शरीर धारण किये हूँ ।

भगीरथं मित्रसहं दिलीपं रघुं जिगीषुञ्च तमिन्द्रमित्रम् ।
भूपोत्तमं पङ्क्तिरथं स्वधाम्ना निनाय लोकाभ्युदयं वसिष्ठः ।।१९।।

भगीरथ, मित्रसह, दिलीप, दिग्विजयी रघु तथा देवराज इन्द्र के सखा, यशस्वी महाराज दशरथ को (इसी) वसिष्ठ ने अपने तपस्तेज से, लौकिक अभ्युदयों का अधिकारी बनाया ।

परन्तु सोऽहं तपसाऽऽर्जवैश्च स्वतेजसा चापि शपामि मान्याः ।
यदात्मपुण्याक्षतभूरिभाग्यैः श्रीराघवं सम्प्रति निर्दिशामि ।।२०।।

सम्मान्य नागरिकों ! परन्तु वही महामहिम मैं (वसिष्ठ) अपनी तपश्चर्या, क्षमाशीलता तथा ब्राह्मतेज की सौगन्ध खाकर घोषित करता हूँ कि अपने (सञ्चित) पुण्यों के अखण्ड, भूरिभाग्यों की महिमावश ही सम्प्रति मैं श्रीरामभद्र (सरीखे देव-पुरुष) का पौरोहित्य सम्पादित कर रहा हूँ ।

न मानवो .दाशरथिः पृथिव्यां स्वयं महाविष्णुरिहाऽवतीर्णः ।
दृष्टया यया तत्त्वविमर्शशक्त्या पश्यामि रामं सुलभा न सा ते ।।२१।।

(क्योंकि) दशरथनन्दन राम (सामान्य) मानव नहीं हैं । स्वयं महाविष्णु ही (राम के रूप में) इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं । तत्त्वविमर्शिनी जिस दिव्यदृष्टि से मैं राम को देख (पा) रहा हूँ वह (दुर्भाग्यवश) आप लोगों को उपलब्ध नहीं है ।

न यत्र गन्तुं क्षमते शरीरं सूक्ष्मं मनस्तत्र च यात्यशङ्कम् ।
मनोऽपि यत्राऽक्षमते प्रयातुं सर्वज्ञ आत्मा सहजं प्रयाति ।।२२।।

जहाँ पहुँच जाने में शरीर समर्थ नहीं होता वहाँ सूक्ष्म मन निर्विशंक भाव से प्रवेश कर जाता है । और जहाँ प्रविष्ट होने में मन भी असमर्थ हो जाता है वहाँ सर्वज्ञ आत्मा, सहजरूप से प्रविष्ट हो जाती है ।

सौक्ष्म्यं हि शक्तेरिदमापनीयं तपोबलेनैव न चान्ययोगैः ।
अतीन्द्रियं योगमुपार्जितं स्वं प्रस्तौम्यहं तत्तपसाऽनुभूतम् ।।२३।।

शक्ति-सामर्थ्य की यह (उत्तरोत्तर) सूक्ष्मता तपोबल से ही प्राप्त करने योग्य है, किसी अन्य उपाय से नहीं ! (अपने उसी) तपोबल से उपार्जित एवं अनुभूत अपने अतीन्द्रिय योग को (आज) मैं (आप सबके समक्ष) प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

रामस्य देवत्वमपीह लोके न चास्ति साधारणजीववेद्यम् ।
अगस्त्यवाल्मीकिसुतीक्ष्णविश्वामित्रा विजानन्ति सुवेद्मि चाहम् ।।१४।।

राम का देवत्व (ईश्वरीयता) भी इस लोक में साधारण प्राणियों द्वारा अनुभव करने योग्य वस्तु नहीं है । अगस्त्य, वाल्मीकि, सुतीक्ष्ण और विश्वामित्र (सरीखे महातपस्वी) ही उस दिव्यरूप को जानते हैं । और मैं भी उस रूप से भलीभाँति अवगत हूँ ।

जघान यः पञ्चदशे हि वर्षे सुबाहुमुग्रामपि ताटकाञ्च ।
चिक्षेप पारेजलधि प्रविद्धं मारीचकं शैवधनुर्बभञ्ज ।।२५।।

(आयु के) पन्द्रहवें ही वर्ष में जिसने सुबाहु तथा विकराल (राक्षसी) ताटका को भी मार डाला, शरविद्ध मारींच को समुद्र के पार (दूसरे द्वीप में) फेंक दिया तथा (जिसे संसार का कोई महावीर उठा तक नहीं सका, उस) भगवान् शिव के धनुष 'पिनाक' को जिसने तोड़ डाला !

विराधमिद्धं खरदूषणादीन् हत्वा जनस्थानमपेतविघ्नम् ।
चकार यो लोकहिताय तूर्णं प्रियावियुक्तोऽप्यवधीत्कबन्धम् ।।२६।।

नृशंस विराध तथा खर-दूषण आदि को मार कर जिसने लोक हित के लिये, देखते ही देखते, जनस्थान (दण्डकारण्य) को विघ्न-बाधा से निर्मुक्त बना दिया तथा प्रिया वैदेही के वियोग में दुखी होते हुए भी जिन्होंने (आततायी राक्षस) कवन्ध का वध कर डाला।

त्रिलोकसंराविणमिष्टवैरं गन्धर्वविद्याधरकिन्नराणाम् ।
सुरोत्तमानामपि घोरशत्रुं प्रनष्टसौजन्यविवेकशीलम् ।।२७।।

गन्धर्वों, विद्याधरों, किन्नरों तथा (यम, कुवेर, वायु, इन्द्र आदि) श्रेष्ठ देवों के भी घोर शत्रु, सुजनता-विवेक तथा शील (चरित्र) से विरहित, वैर-विरोध में ही जीने वाले तथा सारी त्रिलोकी को रुलाने वाले।

मदोद्धतं चारुचरित्रशून्यं सबान्धवं यो निजघान युद्धे ।
विदेहजादस्युमुपेतमृत्युं तं रावणं लोकभयं ननाश ।।२८।।

दुरभिमान से उद्धत, शोभन आचरण से शून्य, मृत्यु के समीप पहुँचे हुए, देवी सीता का अपहरण करने वाले कुख्यात रावण को जिसने, बन्धु-बान्धवों सहित, समरभूमि में मार गिराया तथा लोकभय को शान्त कर दिया।

अहो स रामः किमु मर्त्यं एव युष्मादृशः संशयितात्मशक्तिः ?
अपूर्वकर्मा न च किं स आस्ते आयोध्यकाः ! पृच्छत मानसानि ।।२९।।

आश्चर्य है ! क्या वह राम ! तुम्हीं लोगों की तरह, जिन्हें अपनी ही शक्ति पर भरोसा नहीं हैं, (साधारण) मनुष्य ही हैं ? क्या वह राम अपूर्वकर्मा (महा-मानव) नहीं ? अयोध्यावासियों ! अपने ही मन से (यह प्रश्न) पूछो !

मत्स्यादिनं यो गुहमङ्कपाल्यां संस्कारहीनं कृतवान् सहर्षम् ।
स्वसौहृदे तं नियुयोज सद्यः स राघवः किं मनुजो न देवः ??३३।।

मछली खाने वाले, संस्कारहीन निषादराज गुह को जिसने, हर्षविभोर होकर गले से लगा लिया तथा उसी क्षण उसे अपना अन्तरंग मित्र बना लिया, क्या वह राघव मनुष्य (ही) हैं ? देवता नहीं हैं ?

जटायुषं तातसखं वनान्ते सीतार्थमुत्सृष्टशरीरजीवम् ।
ददाह तं योऽधिचितं सुतीयन् गृद्ध्रं स रामः किमहो मनुष्यः ??३१।।

देवी सीता की रक्षा के लिये दण्डकवन में शरीर एवं प्राणों का उत्सर्ग करने वाले, अपने पिता दशरथ के मित्र, गृद्धराज जटायु का जिसने पुत्र बन कर चिता के ऊपर दाह-संस्कार किया— आश्चर्य है, क्या वह राम मनुष्य ही हैं ? (देवता नहीं ?)

प्रेम्णा शवर्या वशगो जघास यो दण्डकायां बदरीफलानि ।
स्वादावबोधाय तयैव पूर्वं भुक्तानि रामः किमसौ मनुष्यः ??३२।।

दण्दकवन में जिसने, शवरी के वशीभूत होकर, प्रेमपूर्वक वेर के फल खाये जिन्हें कि शवरी ने, स्वाद जानने की इच्छा से (खिलाने से पूर्व ही) चख लिया था, क्या वह राम मनुष्य ही हैं ? (देवता नहीं ?)

जानन्नपि प्रीततमां स्वभार्यां चरित्रशुद्धां महितामनन्याम् ।
ज्योत्स्नानिभां राघवपूर्णचन्द्रस्तत्याज तां लोकसमक्षमेव ।।३३।।

अतिशय वल्लभा, महीयसी, पतिव्रतपरायण अपनी अर्धाङ्गिनी सीता को, चरित्रशुद्ध जानते हुए भी राघवरूपी पूर्णचन्द्र ने चन्द्रिका के समान उसे सारे समाज के समक्ष ही (लोकापवाद के भय से) त्याग दिया ।

यशस्विनीमग्निपरीक्षितां तां विरञ्चिशम्भ्वादिसुरैः प्रशस्ताम् ।
महीयसीं पावकपावयित्रीं पश्चाच्च जग्राह स किं मनुष्यः ??३४।।

और बाद में, अग्नि-परीक्षिता, ब्रह्मा एवं शिवादि देवों द्वारा प्रशंसित, यशस्विनी तथा महिमामयी उसी पत्नी को स्वीकार (भी) किया—वह राम क्या मनुष्य ही हैं ? (देवता नहीं ?)

न काकिणीं नाऽपि वराटिकां वा मूढो जनो मुञ्चति मोहविद्धः।
भ्रात्राऽर्पितं किन्तु न राज्यमैच्छत् यो राघवो हन्त स किं मनुष्यः ॥३५॥

माया-मोह से बिंधा मूढ़ प्राणी (अपने अधिकार की) एक कानी कौड़ी भी नहीं छोड़ता है। परन्तु भाई भरत द्वारा अर्पित किये गये साम्राज्य की जिसने कामना तक नहीं की (स्वीकार करना तो दूर रहा) आह! वह राघव क्या मनुष्य हैं?

अये जना नागरकाः प्रवीणाः! सर्वेऽपि यूयं किल भाग्यवन्तः।
यद्रामराज्ये ससुखं वसन्तश्चकास्थ शेध्वे सहजं निशायाम् ॥३६॥

अरे ओ अयोध्यावासी प्रवीण नागरिकों! तुम सब के सब निश्चित रूप से (परम) सौभाग्यशाली हो जो कि (नारायणावतार भगवान्) राम के राज्य में सुख-पूर्वक जीवन यापन करते हुए अभ्युदय प्राप्त कर रहे हो तथा रात में सुख की नींद सो रहे हो।

लौहान्यपि स्पर्शमणिप्रभावात्सद्यो यथा काञ्चनतां भजन्ते।
तथैव विष्णुप्रभरामदृष्ट्या विलोकिता यूयमपि द्युवासाः ॥३७॥

स्पर्शमणि(पारस पत्थर) के प्रभाव से जैसे लोहे भी तत्क्षण सुवर्णता प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार नारायण के अंशभूत राम की कृपादृष्टि के अवलोकन-मात्र से आप लोग भी द्युवास (देवता) बन गए हैं।

स एव रामो भगवान् नृपेन्द्रः प्रजोपकाराय हुतात्मसौख्यः।
अनन्तसन्तापचये निमग्नो व्यथार्दितस्सम्प्रति दैन्यमेति ॥३८॥

प्रजाजनों की भलाई के लिये, अपने सुखों की आहुति दे देने वाले वही भूपालरत्न भगवान् राम, अनन्त सन्ताप में डूब कर, व्यथा से बिंधे हुए इस समय दैन्य को प्राप्त हो उठे हैं।

सायन्तने ह्यः किल दुर्मुखस्तं जगाद गुप्तं प्रणिधिर्नियुक्तः।
यन्मैथिलीमाक्षिपतीह कोऽपि चरित्रदृष्ट्या रजको नगर्याम् ॥३९॥

राजनियुक्त गुप्तचर दुर्मुख ने, कल सन्ध्यावेला में उन्हें चुपचाप यह सूचना दी है कि इस अयोध्या नगरी में (ही) कोई रजक, देवी सीता पर, चरित्र की दृष्टि से आक्षेप कर रहा है।

तदाप्रभृत्येव विवृद्धतापः प्रजाहितार्थाय दृढप्रतिज्ञः ।
विमुक्तभोज्यान्नजलो निरुद्धद्वारो निशायां शयितुं न शेके ।।४०।।

बस उसी क्षण से, पराकाष्टागत मनोव्यथा वाले तथा प्रजा के अनुरंजनार्थ दृढ़ संकल्प राघव ने भोज्यान्न एवं जल का त्याग कर दिया है। राजभवन का कपाट बन्द कर वह रात्रिवेला में सो भी नहीं सके हैं।

सौमित्रितो वृत्तमिदं निशम्य मयापि रात्रौ प्रहितःस्वमन्त्रः ।
यन्मामनामन्त्र्य न कापि राम ! कार्या त्वयाऽनर्थकरी प्रतिज्ञा ।।४१।।

कुमार लक्ष्मण से यह सारा समाचार पाकर मैंने भी रात में ही अपना सन्देश (राघव के पास) भेजा कि 'राम ! विना मुझसे पूछे तुम्हारे द्वारा कोई भी अनर्थकरी प्रतिज्ञा नहीं की जानी चाहिए !'

मन्ये प्रयत्नैः किल लक्ष्मणस्य युष्माकमप्यञ्चितभागधेयैः ।
महाविनाशोऽपगतो निशायां भवन्त एवात्र पुनः प्रमाणम् ।।४२।।

मैं समझता हूँ कि कुमार लक्ष्मण के (उन) प्रयत्नों और आप सब के महान् सौभाग्य से ही, वह महाविनाश रात में टल गया। अब, आज की इस प्रभातवेला में जो कुछ होने की है, उसके प्रमाण तो आप सब स्वयं है।

ससागरायाः कुशलं धरित्र्याः पौराः इदानीं रजकाश्रितं तत् ।
तस्मान्मयाऽनीत इहैव सोऽपि तिष्ठत्ययं पार्श्वगतः सभार्यः ।।४३।।

नगरनिवासियों ! सागरपर्यन्त सीमा वाली पृथ्वी (कोसल-साम्राज्य) का कल्याण अब उस धोबी के अधीन है, इसीलिये मैंने उसे भी, इसी राजसभा में बुलवाया है। पत्नी के साथ वह धोबी, यहीं मेरी बगल में बैठा है।

इयं सभा लोकमतैकनिष्ठा लोकानुगा लोकसमिद्धतंत्रा ।
गवेषणे लोकमतस्य नूनं न राजभीतिर्न च दैन्यभावः ।।४४।।

यह संसद एकमात्र जनमत में निष्ठा(श्रद्धा) रखने वाली है, लोकमत का अनुगमन करने वाली तथा लोक के ही द्वारा विकसित व्यवस्था वाली है, अतएव इस सभा में लोकमत (जनता की राय) की गवेषणा करने में, निश्चितरूप से न तो किसी को राजा का भय होना चाहिए और न ही दैन्यभाव (संकोच)

पौराः ! इदं पावनरामराज्यं हिनस्ति वैयक्तिकपारतन्त्र्यम् ।
राज्ञोऽधिकारे प्रकृतिर्न बद्धा प्रजाधिकारे नृप एव बद्धः ॥४५॥

पौरजनों ! यह पवित्र रामराज्य वैयक्तिक परतन्त्रता का विरोध करता है। (इस रामराज्य में) प्रजा राजा के अधिकारों से नियन्त्रित नहीं है प्रत्युत राजा स्वयमेव प्रजा के अधिकारों में आबद्ध है।

पूर्वं प्रतिज्ञातमिदं नृपेण यत्सेवकोऽसौ विनतः प्रजानाम् ।
प्रजामनोवृत्तिपरीतराज्यं भुनक्ति रामो न निरङ्कुशोऽसौ ॥४६॥

हमारे नृपति राघव पहले ही (यह) प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि वह प्रजाजनों के विनम्र सेवक (मात्र) हैं। ऐसे राजा राम निरंकुश (स्वेच्छाचारी) नहीं है। वस्तुतः वह तो प्रजाजनों की मनोवृत्ति से सञ्चालित साम्राज्य का पालन कर रहे हैं।

तस्मान्न भेतव्यमिहाल्पमात्रं वाच्यो त्वभिप्राय उपेत्य मञ्चम् ।
विदेहजां क्षालक भद्र ! नूनं प्रवेत्सि दुष्टां यदि हीनशीलाम् ॥४७॥

इसलिये इस संसद् में तनिक भी डरने की आवश्यकता नहीं हैं। भद्र रजक ! यदि तुम सचमुच विदेहनन्दिनी सीता को चरित्रहीन एवं दुष्ट (व्यभिचारिणी) समझते हो तो मञ्च पर आकर अपना अभिप्राय (मन्तव्य खुल कर) प्रकट करो !

दृढा मतिस्ते यदि तत्स्वकीयं मतं ह्युपस्थापय निर्विशङ्कम् ।
सीताविरुद्धं वदसि त्वमेकश्चान्येऽपि वा तद्भविता प्रकाशम् ॥४८॥

यदि तुम्हारी स्थापना सुदृढ़ है तो अपना मन्तव्य, बिना किसी आशंका के (जनता के समक्ष) प्रस्तुत करो। इस बात का खुलासा तो हो ही जाना चाहिये कि देवी सीता के (शोभन चरित्र के) विरुद्ध बोलेने वाले एकमात्र तुम्ही हो अथवा (तुम्हारे मत के समर्थक) और लोग भी हैं ?

प्रास्ताविकं किन्तु मयोपनीतं शृणुष्व पूर्वं हतपक्षपातम् ।
तपःप्रभावैर्गुरुगौरवैश्च सर्वेशितत्वं तनुते वसिष्ठः ॥४९॥

परन्तु (देवी वेदेही के विषय में) मेरे द्वारा निष्पक्ष प्रस्तुत की गई प्रस्तावना को (कुछ कहने से) पहले ही सुन लो। क्योंकि वसिष्ठ, राजपुरोहित होने के गौरववश तथा तपश्चर्या के प्रभाववश—सब पर शासन करने का अधिकार रखता है।

किमस्ति राजर्षिरिह क्षमायामन्योऽपि सीरध्वजतुल्यशीलः !
यस्यात्मजेयं खलु पट्टराज्ञी रामप्रियाऽस्माकमधीश्वरी च ??५०।।

क्या इस भूतल पर सीरध्वज (जनक) के समान (दिव्य) आचरण वाला कोई और भी राजर्षि है जिसकी दुहिता, राघव की अर्धाङ्गिनी यह सीता, हम सबकी पट्टमहिषी एवं साम्राज्ञी है ?

पितुर्महिम्नैव विदेहजेयं ख्याता पृथिव्यामपि जानकी सा।
क्वचिच्च वैदेह्यपि बोध्यते सा सा मैथिली मैथिलभूपकन्या ।।५१।।

विदेहराज की यह कन्या (सीता) अपने तातश्री की महिमा के ही कारण संसार में 'जानकी' के नाम से विख्यात है। कभी-कभी वह 'वैदेही, भी कही जाती है और मिथिला-नरेश की कन्या होने के कारण 'मैथिली' भी !

अयोनिजां क्षेत्रकृषिप्रजातामन्यामपि त्वं श्रुतवानसि प्राक् ?
कन्यामुदारां गुणरूपयुक्तां सीतासदृक्षीं यदि तद् वदेथाः ।।५२।।

क्षेत्र-कर्षण से उत्पन्न होने वाली, रूप एवं गुण से श्रीमण्डित, उदार प्रकृति वाली, सीता-सरीखी किसी दूसरी आयोनिजा(दैवी उत्पत्ति वाली) कन्या के विषय में भी यदि तुमने अब से पहले सुन रखा हो तो बताओ !

प्रदीप्तवैश्वानरवेदिकायां स्थिताऽपि या काञ्चनतामवाप।
तां देववन्द्यामपि मैथिलीं त्वं जानासि सत्यं चरितावलीढाम् !!५३।।

धधकती हुई आग की चिता पर आरूढ़ हो कर भी जिसने सुवर्णता (चरित्र-शुद्धि एवं तेजस्विता) प्राप्त की, देवताओं द्वारा भी संस्तवन करने योग्य, मैथिली को क्या तुम सचमुच कलंकित चरित्र वाली समझते हो ?

यन्नेत्रदीप्ताग्निभयाऽभिभूतश्शशाक नो स्प्रष्टुमसौ दशास्यः।
स्वपापपश्चात्तपनप्रविद्धः सा जानकी किं चरितैर्विलुप्ता ??५४।।

जिसकी आँखों में दहकती (पातिव्रत-तेज की) आग के भय से सहमा हुआ महाबली दशानन (रावण) उसे छू तक नहीं सका और (मन ही मन) अपने पापों के पश्चात्ताप से निरन्तर बिंधा रहा—वह देवी जानकी क्या चरित्रहीन हैं ?

पतिव्रता सौम्यसतीत्वमूर्तिः सकृन्न या रावणमालुलोके ।
सा राघवप्राणगतिर्द्वितीया सीता चरित्रैर्विकला विभाति ??५५।।

सौम्य सतीत्व की साकार मूर्ति जिस पतिव्रता ने रावण को एक बार भी नहीं देखा, अपने वल्लभ राघव की दूसरी प्राणगति (हृदयस्पन्दन) वह सीता, तुम्हें, अपने आचरणों से कलंकित प्रतीत हो रही है ?

स्वयं समेषामपि जीवभाजां चरित्रमारक्षति या महिम्ना ।
तस्याश्चरित्रं ननु शङ्कसे त्वं स्वबुद्धिमेधाऽहितगर्वभारः !!५६।।

अपनी महिमा से जो(वैदेही)स्वयं समस्त प्राणधारियों के चरित्रकी पूर्णतः रक्षा करती है, तुम भला उसके चरित्र पर आशंका कर रहे हो ! अपनी बुद्धि और प्रतिभा का इतना घमण्ड है तुम्हें ?

अग्निर्भवेदन्यपदार्थतापमात्राप्रमाणं ज्वलनप्रभावात् ।
परन्तु तापोच्चयशक्तिभाजो भवेत्प्रमाणं किमहो कृशानोः !!५७।।

ज्वलनधर्मिता के प्रभाववश, अग्नि भले ही अन्य (अग्नीतर) पदार्थों की तापमात्रा का प्रमाण बने परन्तु तापोच्चयरूपी शक्ति से सम्पन्न स्वयमेव अग्नि (की तापमात्रा) का प्रमाण दूसरा भला कौन हो सकता है ?

शक्तिर्भवेच्छक्तिमतः प्रमाणं प्रमाणमन्यन्न परन्तु शक्तेः ।
स्वयं सृजत्यात्मगतं प्रमाणं ह्यनेहसि प्रार्थितपञ्चतत्त्वम् ।।५८।।

शक्ति शक्तिमान् का प्रमाण बन सकती है परन्तु स्वयं शक्ति का प्रमाण, कोई दूसरा नहीं बन सकता ! इस संसार में, सर्वजनकाम्य पञ्चतत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) अपना प्रमाण स्वयं होते हैं (उनके लिये परतः प्रामाण्य की आवश्यकता नहीं)

सम्भाव्यते नैव गुणप्रतीतिः स्फुटाऽपरेषां निजदोषदैर्घ्यात् ।
तृणाविलं पश्यति नैव नेत्रं ह्युशीरशीतामपि चन्द्रिकां ताम् ।।५९।।

अपने दोषों की दीर्घता के कारण, दूसरों के गुणों की असन्दिग्ध प्रतीति भी सम्भव नहीं हो पाती है । उशीर (खस) के समान शीतल चन्द्रिका को भी, किरकिरी से विकल आँख, नहीं ही देख पाती है ।

हृषीकदुर्भावमलं व्यपोह्य कार्यो मनुष्येण हि तत्त्वशोधः ।
न सीव्यते टङ्किकया दुकूलं स्यूतं भवेद्यत्किल सूक्ष्मसूच्या ।।६०।।

(इसलिये) इन्द्रियों की दुर्भावना एवं मल का परिहार करने के बाद ही मनुष्य को तत्त्व (सचाई) का अनुसन्धान करना चाहिए। रेशम का (महीन) कपड़ा टाँकी (छेनी) से नहीं सिला जाता है। वह तो महीन सूई से ही सिला जा सकता है!

देव्याश्चरित्रं न च तर्कबुद्ध्या ज्ञातुं हि शक्येत निरुद्धगत्या ।
तज्ज्ञापिका नाऽपि विपन्नदृष्टिरात्मैव तत्र क्षमते प्रदीप्तः ।।६१।।

देवी वैदेही का (दिव्य) चरित्र भी, अवरुद्ध (सीमित) गति वाली तर्कबुद्धि से नहीं जाना जा सकता। विपन्न (पूर्वाग्रह से ग्रस्त) दृष्टि भी, उस दिव्य चरित्र की ज्ञापिका नहीं बन सकती। वस्तुतः(निर्विकार) प्रकाशमान आत्मा (चैतन्य)ही उस कार्य में समर्थ है।

एकोऽहमस्म्याहिततत्त्वबोधः सीतां विजानामि जगत्प्रवन्द्याम् ।
यश्शङ्कते तच्चरितं प्रपूतं स चापरस्त्वं रजक ! प्रमादिन् ।।६२।।

तत्त्वबोध (आत्मज्ञान) सम्पन्न एक मैं (वसिष्ठ) हूँ जो देवी सीता को त्रिभुवन-वन्दनीय समझता हूँ! त्रिक्षिप्त रजक! और दूसरे वह तुम हो जो कि वैदेही के सर्वथा पवित्र चरित्र को कलंकित कर रहे हो!

प्रक्षालितं वस्त्रमलं त्वया भो मया स्वबुद्धिर्विमलीकृतेयम् ।
क आवयोः श्रेष्ठतरः प्रशस्तः प्रश्नो ह्ययं निर्णयनीय एव ।।६३।।

अरे भाई! तुमने (केवल) कपड़ों की मैल धोई, परन्तु मैं अपनी इस बुद्धि का ही मल धोता रहा! अब हम दोनों (धोबियों) में कौन अधिक श्रेष्ठ है, अधिक प्रशंसनीय है—इस प्रश्न का निर्णय (इस संसद में) हो ही जाना चाहिये!

अरुन्धि नाहं यदि रामभद्रं निश्चप्रचं सः प्रकृतेर्मुदर्थम् ।
द्वेषाग्निकुण्डे जुहुयात्सगर्भां मृगीमिवाऽराधितपट्टराज्ञीम् ।।६४।।

यदि मैं रामभद्र को (अपने विशिष्ट अधिकार से) न रोकता तो निश्चित था कि वह प्रजा की प्रसन्नता के लिये, द्वेषरूपी अग्निकुण्ड में, कोसल-साम्राज्य की वन्दनीया पट्टमहिषी (सगर्भा) मृगी के समान निर्दोष, गर्भवती सीता को हवन कर देते!

परन्तु नेदं भविता दुरन्तं पापं वसिष्ठे मयि विद्यमाने ।
नाहं भविष्यामि कृतावमानः सद्धर्मलुप्ते नगरे रघूणाम् ।।६५।।

परन्तु (धर्मव्यवस्थापक) मुझ वसिष्ठ के जीवित रहते, यह दुरन्त पाप नहीं होगा। और यदि मेरी अवमानना हुई (मेरी उपेक्षा कर राम ने सीता को निर्वासित किया) तो सद्धर्म-विहीन रघुवंशियों की इस पुरी (अयोध्या) में मैं स्वयं नहीं रहूँगा।

प्रवच्म्यतो राघवमप्युदारं तत्त्वं खलीकृत्य मनोऽनुरागम् ।
वयस्तपोवंशगुरुत्वदृष्ट्या क्षमोऽस्मि सम्यक्तमिहोपदेष्टुम् ।।६६।।

इसलिये, मन की आसक्ति (वात्सल्य) को तिलांजलि देकर मैं, उदारबुद्धि राघव से भी सिद्धान्त की बात कह रहा हूँ। अवस्था, तपश्चर्या तथा वंशगुरुत्व—तीनों ही दृष्टियों से मैं उन्हें भी इस सन्दर्भ में, सम्यक् रूप से उपदेश देने में समर्थ हूँ।

भार्यैव सीता नहि राघवस्य प्रजाऽपि सा प्राप्तसमाधिकारा ।
सौभाग्यलक्ष्मी रघुवंशिनां सा पौरप्रजानामपि पट्टराज्ञी ।।६७।।

सीता राघव की भार्यामात्र ही नहीं है। वह औरों के ही समान अधिकार-प्राप्त (कोसल की) प्रजा भी है। वह रघुवंशी नरपतियों की सौभाग्यलक्ष्मी है तथा नागरिकों एवं प्रजाजनों की साम्राज्ञी भी !

एकं मतं नैव मतं समेषां निरर्थकं तत्खलु लोकतन्त्रे ।
मतं बहूनां यदि पट्टराज्ञीं क्षिपेत्तदा लोक इह प्रमाणम् ।।६८।।

मात्र एक व्यक्ति का मत, जनसमूह का मत नहीं माना जा सकता। लोकतन्त्र में वह निश्चित रूप से निरर्थक है। हाँ यदि बहुमत, पट्टमहिषी देवी सीता को कलंकित करता हो तो उसका प्रमाण, इस संसद में जनता स्वयं है।

न दण्डनीया रजकापवादात् न चापि पत्युः परुषाधिकारात् ।
मतैः प्रजानामिह सांसदीनां निर्णेष्यते भाग्यमथो महिष्याः ।।६९।।

देवी सीता, न तो (एक) धोबी द्वारा की गई निन्दा के कारण दण्डनीय हैं और न ही (पत्नी होने के कारण अपने) पति के परुष (कठोर, निष्करुण) अधिकार मात्र से ! राजमहिषी के भाग्य का निर्णय तो इसी जनसभा में बैठी प्रजाओं के (बहु) मत से होगा।

रागेऽक्षते वल्लभसम्पदस्तु प्रियाऽङ्गना तत्र न मे विरोधः ।
परन्त्वसिद्धे खलु रागबन्धे न साऽप्रिया पत्युरुपार्जितं स्वम् ।।७०।।

पति और पत्नी के बीच यदि अनुराग (प्रेम) अक्षत (अनाहत, प्रगाढ़) हो तो पत्नीभूता महिला को, पति की सम्पत्ति (उसके अधिकार की वस्तु) मान लिया जाय । उस स्थिति का मैं विरोध नहीं करता । परन्तु यदि दोनों के बीच प्रेम का बन्धन, अन्तिम रूप से, टूट चुका हो तो वह प्रिया (पत्नी अथवा अप्रिया—पति को न भाने वाली महिला) अपने पति की उपार्जित सम्पत्ति नहीं रह जाती !

दाम्पत्यमस्ति प्रणयैकमूलं विपर्यये तन्न बिभर्ति संज्ञाम् ।
रागानुबन्धे त्रुटिते न काऽपि कस्यापि भार्या न च कोऽपि भर्ता ।।७१।।

'दाम्पत्य' कहते ही उसे हैं जिसके मूल में एकमात्र प्रणय (प्रेम) हो, परन्तु विपरीत स्थिति में (अर्थात् पति-पत्नी के बीच प्रेम न रह जाने पर) दाम्पत्य संज्ञा ही नहीं रह जाती । प्रेम का अनुबन्ध सर्वथा टूट जाने पर न कोई महिला किसी पुरुष की पत्नी रह जाती है और न ही कोई पुरुष (किसी महिला का) पति रह जाता है !

रामो यदि द्वेष्टि विदेहजातां नासौ तदा वल्लभतामुपैति ।
पत्नीं स्वकीयां दयिताधिकारैर्नासौ बहिष्कर्तुमपि क्षमोऽस्ति ।।७२।।

राम (कारण कुछ भी हो) यदि विदेहनन्दिनी से द्वेष करते हैं (प्रेम नहीं करते) तो फिर उस स्थिति में सीता उनकी वल्लभा (पत्नी) ही नहीं रह जाती । अब उस स्थिति में अपनी पत्नी मान कर, पति के अधिकार से, राघव वैदेही को निर्वासित करने में समर्थ नहीं रह जाते ।

दण्ड्योऽपराद्धः खलु धर्मशास्त्रे न साधुताशीलगुणार्जवानि ।
न वेद्मि वेदेहसुतापराधं कस्माद्धि दण्ड्या खलु पट्टराज्ञी !!७३!!

धर्मशास्त्र की व्यवस्था यह है कि अपराध करने वाला व्यक्ति दण्डनीय होता है । परन्तु साधुता, सच्चरित्रता, गुणवत्ता तथा ऋजुता के दण्डित होने का कोई विधान नहीं (देवी सीता जिनकी साकार मूर्ति हैं) मै तो विदेहनन्दिनी का (कोई) अपराध जानता ही नहीं ! तो फिर कोसल-साम्राज्य की साम्राज्ञी दण्डनीय कैसे हो सकती है ?

करोतु पापं मनसोऽपराधं कोऽप्यन्य एव प्रतिरोषबुद्ध्या ।
भुनक्तु दण्डं ह्यकृतापराधश्चान्यो जनो हन्त हतं प्रभुत्वम् ।।७४।।

प्रतिरोष (मन का गुबार निकालने) की दुर्भावना से मन का पाप अथवा (जघन्य) अपराध तो कोई और (एक धोबी) करे और उसका दण्ड भोगे अपराध न करने वाला कोई और व्यक्ति (सीता) आह ! मर चुकी ऐसी सम्प्रभुता !

समग्रलङ्काजनतासमक्षं प्लवङ्गसैन्येऽपि च विद्यमाने।
रुरोह सीताऽधिचितं मुमूर्षुः सा किं कथा लोकजनश्रुतिर्वा !!७५!!

लंका की समस्त जनता के समक्ष, वानरवाहिनी की उपस्थिति में, मरने के लिये कटिबद्ध, देवी सीता जो चितारिन पर आरूढ़ हुई थीं—क्या वह (मनगढ़न्त) कथामात्र है अथवा लोकप्रचलित जनश्रुति मात्र है ?

साक्षी स्वयं लक्ष्मण एष यो वै काष्ठानि संहृत्य चिताञ्चकार।
साक्षी स्वयं राघव उग्ररोषो यन्मूलमासीद् दुरितं तदूर्ध्वम् ।।७६।।

उस अग्निपरीक्षा के प्रमाण तो स्वयं यह कुमार लक्ष्मण हैं जिन्होंने काष्ठ एकत्रित कर, चिता का निर्माण (अपने ही हाथों) किया था। उग्ररोष वाले राघव भी उस अग्निपरीक्षा के साक्षी हैं जिनके कारण ही वह महान् पाप (निष्कलंक पत्नी के चरित्र पर सन्देह) हुआ था !

अतः स्फुटं वच्मि निजाधिकारैस्तपोमहिम्ना गुरुगौरवेण।
विरौम्यहं चण्डमुदूर्ध्वबाहुः शृण्वन्तु सर्वे किल पौरवर्गाः ।।७७।।

अतएव कुलपुरोहित (धर्मव्यवस्थापक) होने के अपने अधिकारों से, तपश्चर्या की महिमा से और कुलगुरु होने के गौरव से मैं खुल कर कह रहा हूँ। हाथ उठा कर (ललकार कर) प्रचण्ड स्वर में चिल्ला रहा हूँ। समस्त नागरिक-गण कान खोल कर सुन लें !

चरित्रमास्कन्दति पट्टराज्ञ्याः प्रजाजनो यो हि विरुद्धबुद्धिः।
चितां समारुह्य निजं चरित्रं प्रदर्शयेत्सोऽपि सकृत् पवित्रम् ।।७८।।

(अकारण) विरुद्ध बुद्धि रखने वाला जो कोई भी प्रजाजन राजमहिषी देवी सीता के चरित्र को लाञ्छित कर रहा है, वह स्वयं भी केवल एक बार, चिता पर चढ़ कर, अपने चरित्र की पवित्रता का प्रदर्शन करे !

मान्या जना नागरकाः प्रविज्ञाः ! एतावदेवास्ति ममाभिधेयम्।
निश्चेष्यते सम्प्रति लोकतंत्रै र्भाग्यं हि देव्या रजकार्दितायाः ।।७९।।

वैदुषीसम्पन्न, सम्मान्य पौरजनों ! मेरी प्रस्तावना बस इतनी ही है ! अब रजक द्वारा लाञ्छित देवी वैदेही के भाग्य का निर्णय- जनता-जनार्दन की राय से होगा।

पक्षे विपक्षे च विदेहजाया वादो मया प्रस्तुत आत्मबुद्ध्या ।
ऋतञ्च सत्यञ्च भवत्समक्षं प्रकाशिते शास्त्रपथानुकूलम् ॥८०॥

अपनी समझ के अनुसार (ही) मैंने विदेहजा के पक्ष एवं विपक्ष में वाद (प्रस्ताव) प्रस्तुत कर दिया है। शास्त्रोपदेश के अनुकूल ऋत एवं सत्य का स्वरूप भी मैंने आप लोगों के समक्ष प्रकाशित कर दिया है।

सीतास्वरूपं रजकप्रमोहं विशाम्पतेश्चापि गृहप्रभुत्वम् ।
निष्पक्षपातं परिभाष्य सोऽहं करोमि सर्वं भवतामधीनम् ॥८१॥

बिना किसी पक्षपात के, मैंने देवी सीता के दैवी रूप के सन्दर्भ में, रजक के (अकारण उत्पन्न द्वेषजन्य) महान् अज्ञान के सन्दर्भ में तथा प्रजापति राघव के भार्याविषयक अधिकार के सन्दर्भ में औचित्य को निरूपित कर दिया है। अब मैं आगे की सारी कार्यवाही आपके अधीन करता हूँ।

मृतो वसिष्ठः किमु धर्मसिन्धुर्यस्मादनर्थोऽयमभूद्दुरन्तः ।
मैवं वदन्त्वेष्यति कालखण्डे लोका इति प्राग्विहितः प्रयासः ॥८२॥

आने वाले युग में लोग यह न कहें कि 'धर्मतत्त्व का महासिन्धु (बूढ़ा ब्रह्मर्षि) वसिष्ठ क्या मर गया था जिसके परिणामस्वरूप यह दारुण अनर्थ (धोबी की लांछना से सीता का निर्वासन) हुआ ?' बस इसी कलंक से बचने के लिये मैंने, घटना घटने से पूर्व ही यह प्रयास किया है।

प्रोच्चार्य वाणीमिति तत्त्वगर्भां मोहान्धकारप्रसवप्रहन्त्रीम् ।
विदेहजाशीलचरित्रसाक्ष्यप्रसारयित्रीं परिपुष्टरामाम् ॥८३॥

तत्त्वविवेचन से भरी, अज्ञानरूपी अन्धकार के प्रसवों (विस्तार) का संहार करने वाली, देवी सीता के शील एवं सुचरित के प्रमाण का प्रसार करने वाली तथा (महाराज) राम को भी सान्त्वना प्रदान करने वाली इस प्रकार की वाणी (उद्गार) को उच्चारित करके।

निजासने तिष्ठति विश्ववन्द्ये गुरौ वसिष्ठे निखिला समज्या ।
निमज्जिता ग्लानिविषादसिन्धौ तूष्णीम्बभूवात्महता नताङ्गी ॥८४॥

विश्ववन्द्य गुरुवर्य वसिष्ठ के अपने आसन पर बैठते ही सारी की सारी जनसभा ग्लानि एवं विषाद के सागर में डूब गई। सब के मुखमण्डल (लज्जा से) अवनत हो उठे। अपने ही (पापकर्म) द्वारा मारे गये लोग एकदम चुप बैठे रहे।

विदेहजापूतचरित्रचर्चां श्रुत्वा च दैन्यं दयितावमानम् ।
चिताग्नितल्पानुगतं प्रविद्धा वृद्धाश्च केचिन्मुमुहुः सभायाम् ।।८५।।

विदेहनन्दिनी के पवित्र चरित्र की व्याख्या तथा स्वामी (राघव) द्वारा (लङ्का में) समाचरित दैन्यपूर्ण अपमान तथा उनकी अग्निपरीक्षा का प्रसंग सुन कर, शोकविद्ध कुछ बड़े-बूढ़े तो संसद में ही मूर्छित हो उठे।

अजस्रनेत्राम्बुनिमग्नदेहा नार्यो नरा वर्षवराश्च सर्वे ।
महासतीं मैथिलभूपकन्यां श्रद्धाभिभूता मनसा प्रणेमुः ।।८६।।

अनवरत गिरती अश्रुधारा से भींगी देह वाली महिलाएँ, पुरुष तथा वर्षवर (नपुंसक) सब के सब, श्रद्धा से अभिभूत हो कर, महासती मैथिलभूप-कन्या को मन ही मन प्रणाम करने लगे।

भटाश्च केचिद्रणभूमिदक्षा आप्लाविताः क्रोधरयप्रकर्षैः ।
तमेव मूढं रजकं प्रहन्तुं मध्येसभं बुद्धिमकार्षुरुग्राम् ।।८७।।

समरभूमि में जौहर दिखाने वाले कुछ योद्धा तो, क्रोध-संवेग के आधिक्यवश अशान्त होकर, सभाभवन में, उस मूर्ख रजक को ही मार डालने के लिये, भयावह साँठ-गाँठ करने लगे।

परस्परं शून्यदृशा पठन्तः सर्वेऽपि तस्थुर्विकला विषण्णाः ।
लघूकृताः पापभरैः स्वकीयैर्हतप्रभा रुद्धमुखा बभूवुः ।।८८।।

भावशून्य नेत्रों से एक-दूसरे का मनोभाव पढ़ते हुए, अपने ही पाप के भार से महत्त्वहीन सिद्ध हुए, हतप्रभ तथा चुप्पी साधे हुए सभी सभासद विकल एवं विषाद-ग्रस्त से बैठे रहे।

ततो ह्यकस्माद्रजको विपन्नः स्खलद्गतिर्नेत्रजलावमग्नः ।
उपेत्य मञ्चं ननु वातगत्या वसिष्ठपादेषु पपात तूर्णम् ।।८९।।

तभी अचानक, लड़खड़ाती हुई पदगति वाला तथा आँसुओं से सराबोर वह विपत्ति का मारा धोबी, वायु की गति से मञ्च पर पहुँच कर, ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के चरणों में, वेगपूर्वक गिर पड़ा।

पुनस्समुत्थाय निषेव्य रामं प्रगृह्य पादौ निहतो व्यथाभिः ।
प्रोवाच सन्ताड्य निजं ललाटं संस्तम्भितै रोदनगर्भवाक्यैः ।।६०।।

फिर वहाँ से उठकर वह राघव के पास पहुँचा और उनके चरणों को पकड़ कर, व्यथाओं से मृतप्राय हुआ सा, अपना ललाट पीटते हुए, संस्तम्भित एवं रुआँसे स्वर में बोला ।

अत्रैव मामद्य हिनस्तु देवः प्रकिल्विषं पापिनमात्तदोषम् ।
जहाम्यहं वा स्वयमेव नाथ ! प्राणान् मदीयांस्त्वयि सम्मुखीने ।।६१।।

स्वामी ! मुझ जैसे महापराधी, पापी एवं भाग्यहीन को आज, यहीं मार डालिये । अथवा हे अन्नदाता ! आपके सम्मुख रहते हुए, मैं स्वयं अपने प्राणों का विसर्जन किये दे रहा हूँ !

महाजना जानपदा महार्घाः ! शृण्वन्तु सर्वे मम दीनवाचम् ।
रुणद्धु मे श्वासगतिं पिनष्टु कलेवरं हन्तु च कोऽपि तूर्णम् ।।६२।।

हे श्रेष्ठ महाजनों ! नगरवासियों !! आप सब मेरी आर्त वाणी को सुनें ! (आप में से) कोई शीघ्रातिशीघ्र मेरी श्वासगति को अवरुद्ध करदे (मेरा गला घोंट दे) मेरी देह की चटनी बना दे, मुझे मार डाले !

कलङ्कभूतोऽस्म्यहमध्ययोध्यं स्थातुं च नार्हामि कृतावसादः ।
निमेषमात्रं श्वसितुं शरीरे स्वयं नु जिह्रेमि दधद्विवेकः ।।६३।।

मैं कलंक हूँ (आप सब का) आप सब को दुखी बनाने वाला मैं अयोध्यापुरी में रहने योग्य नहीं हूँ ! विवेक का उदय हो जाने के बाद (अब) इस शरीर में, एक पल भी श्वाँस लेने में मैं लज्जा का अनुभव कर रहा हूँ !

जिह्वामिमां स्वैरगतिं विलोलां स्तभ्नन्तु छिन्दन्तु यथायथं भोः !
न शास्मि यां वच्मि च पापगर्भं व्यलीकवादं किल मन्दबुद्धिः ।।६४।।

मेरे भाइयों ! नियंत्रण-विहीन (उच्छृङ्खल) तथा चटुल मेरी इस जीभ को आप लोग स्तंभित कर दें अथवा काट डालें जिस पर मैं लगाम नहीं लगा सका । निश्चितरूप से मैं मन्दबुद्धि (विमूढ़) हूँ जिसने कि पापपूर्ण झूठे कलंक से (देवी वैदेही को) लाञ्छित किया ।

एकेन नीचेन मया पुरीयं निजापराधेन कृताऽवसन्ना ।
वापीव हालाहलबिन्दुनेव न मे गतिः सम्प्रति कल्मषाणाम् ।।६५।।

मुझ सरीखे एक क्षुद्र प्राणी ने, अपने अपराध से इस सम्पूर्ण अयोध्यानगरी को ही अवसाद-ग्रस्त बना दिया, जैसे हलाहल की एक बूंद पूरी बावली को जहर बना देती है । अब मेरे पापों का कोई प्रायश्चित्त नहीं है ।

हे राम ! हे राघव ! दीनबन्धो ! क्षमस्व मां देव ! कृतापराधम् ।
आयोध्यका जानपदाश्च सर्वे यूयं क्षमध्वं रजकं व्यथार्तम् ।।६६।।

हे राम ! हे राघव ! हे दीनबन्धो ! हे स्वामी ! मुझ अपराधी को क्षमा करें ! अयोध्यावासी नागरिकों ! आप लोग भी मनोव्यथा के कारण आर्त इस (अभागे) रजक को क्षमा करें ।

न मेऽक्षरज्ञानमकुण्ठसुप्तेर्न चापि विद्वज्जनसाधुसङ्गः ।
न वंशसंस्कार इहास्मि जातो जन्तुः पृथिव्यां रजकाभिमानी ।।६७।।

अज्ञान-निद्रा में निरन्तर डूबा रहने वाला मैं (तो) अक्षर तक नहीं पहचानता! न ही मुझे कभी विद्वज्जनों तथा सत्पुरुषों की संगति मिली । न मेरे वंश में कोई (उदात्त) संस्कार रहा । मैं तो बस अपने धोबीपने पर ऐंठने वाला, इस भूतल पर उत्पन्न, एक क्षुद्र कीट-मात्र हूँ ।

तिमिङ्गिलो गाङ्गजलैकपायी भवन्नपि क्लिश्यत एव यद्वत् ।
जीवामि हा राममये पुरेऽस्मिन् रामच्युतोऽहं रजकः प्रमूढः ।।६८।।

निरन्तर केवल गङ्गाजल पीने वाला तिमिंगल (महामत्स्य) होते हुए भी जैसे कोई प्राणी क्लेश भोगता ही है ठीक उसी प्रकार हाय ! मैं मूढ़ धोबी, इस राममयी (मुक्तिदात्री) नगरी में भी राम (मुक्ति) से च्युत होकर ही जी रहा हूँ ।

अवादिषं क्रोधविनष्टबुद्धिर्मुखेन यद्देव ! निशि स्वभार्याम् ।
न तस्य मूलं हृदये ममासीत् न वर्तते नाथ ! शपामि धर्मैः ।।६९।।

हे अन्नदाता ! क्रोध के कारण विनष्ट विवेक वाला मैं रात में, अपनी पत्नी को जो कुछ भी (पापवचन) कह गया, हे स्वामी ! धर्म की सौगन्ध खाकर कह रहा हूँ कि उसका मूल (पूर्वनियोजित संस्कार) न मेरे हृदय में था और न ही इस समय है !

यथा वहन् मन्दगतिस्समीरः सृजत्यकस्मादपि भीष्मझञ्झाम् ।
जितो महारोषचयैस्तथैव ह्युच्चावचं देव ! जगाद मूढः ।।१००।।

महाराज ! जैसे मन्दगति से बहता हुआ समीर कभी-कभी अकस्मात् ही दारुण आँधी-बवण्डर की भी सृष्टि कर देता है उसी प्रकार असह्य क्रोध-समूह के वशीभूत होकर ही, मुझ बुद्धिहीन ने भी उल्टा-पल्टा बक डाला ।

ब्रह्मर्षिवाण्या अमृतं निपीय किन्तु प्रलीनं मम बुद्धिजाड्यम् ।
विलोकये सम्प्रति विष्णुरूपं लक्ष्मीनिभां भूमिसुताञ्च दिव्याम् ।।१०१।।

परन्तु (अब) ब्रह्मर्षि वसिष्ठ की वाणी का अमृत पीकर मेरी बुद्धि की जड़ता विनष्ट हो चुकी है । अब मैं अयोध्यापति राम के विष्णुरूप को तथा भूमिजा देवी सीता के दिव्य लक्ष्मीरूप को (स्पष्ट) देख रहा हूँ ।

जातं पुनर्जन्म ममाद्य देव ! प्रत्नं वपुः किन्तु नवश्चिदंशः ।
ज्ञातम्मया राघवदिव्यतत्त्वं समुद्धराऽङ्घ्रयम्बुजलीनगात्रम् ।।१०२।।

हे स्वामी ! आज मेरा पुनर्जन्म हुआ है । शरीर (मात्र) पुराना है परन्तु चिदंश (चैतन्य आत्मा) सर्वथा नवीन है । राघवरूपी दिव्यतत्त्व को मैंने (अब) समझ लिया है । हे प्रभो ! चरणकमलों में लीन गात्र वाले इस दासानुदास का उद्धार करिये ।

निषादराजशबरीजटायुः सर्वेऽपि मत्तोऽभ्यधिकप्रशस्ताः ।
तथापि हे नाथ ! दयैकसिन्धो ! मामुद्धर त्राहि पदप्रलीनम् ।।१०३।।

(आप द्वारा समुद्धृत) निषादराज गुह, शबरी और गृद्धराज जटायु, निश्चय ही ये सब मुझसे कहीं अधिक प्रशस्त (भाग्यशाली) थे । फिर भी हे नाथ ! हे दया-सिन्धु ! चरणों में विलीन मुझ सेवक का उद्धार करिये, मेरी रक्षा करिये !

न सान्त्वितोऽहं यदि देव ! दीनः कृतापराधो विशदान्तरात्मा ।
अद्यैव मां श्रोष्यसि दीनबन्धो ! शरीरनष्टं स्वकृतैः प्रयासैः ।।१०४।।

हे नाथ ! कृतापराध परन्तु अब निर्मल आत्मा वाला दीन-हीन मैं यदि आप द्वारा क्षमा न किया गया तो हे दीनबन्धो ! आज ही आप सुनेंगे कि अपने ही द्वारा किये गये प्रयत्नों से मैंने अपना अन्त कर लिया ।

एकेन नीचेन मया पुरीयं निजापराधेन कृताऽवसन्ना ।
वापीव हालाहलविन्दुनेव न मे गतिः सम्प्रति कल्मषाणाम् ।।९५।।

मुझ सरीखे एक क्षुद्र प्राणी ने, अपने अपराध से इस सम्पूर्ण अयोध्यानगरी को ही अवसाद-ग्रस्त बना दिया, जैसे हलाहल की एक बूंद पूरी बावली को जहर बना देती है। अब मेरे पापों का कोई प्रायश्चित्त नहीं है।

हे राम ! हे राघव ! दीनबन्धो ! क्षमस्व मां देव ! कृतापराधम् ।
आयोध्यका जानपदाश्च सर्वे यूयं क्षमध्वं रजकं व्यथार्तम् ।।९६।।

हे राम ! हे राघव ! हे दीनबन्धो ! हे स्वामी ! मुझ अपराधी को क्षमा करें ! अयोध्यावासी नागरिकों ! आप लोग भी मनोव्यथा के कारण आर्त इस (अभागे) रजक को क्षमा करें।

न मेऽक्षरज्ञानमकुण्ठसुप्तेर्न चापि विद्वज्जनसाधुसङ्गः ।
न वंशसंस्कार इहास्मि जातो जन्तुः पृथिव्यां रजकाभिमानी ।।९७।।

अज्ञान-निद्रा में निरन्तर डूबा रहने वाला मैं (तो) अक्षर तक नहीं पहचानता! न ही मुझे कभी विद्वज्जनों तथा सत्पुरुषों की संगति मिली। न मेरे वंश में कोई (उदात्त) संस्कार रहा। मैं तो बस अपने धोबीपने पर ऐंठने वाला, इस भूतल पर उत्पन्न, एक क्षुद्र कीट-मात्र हूँ।

तिमिङ्गिलो गाङ्गजलैकपायी भवन्नपि क्लिश्यत एव यद्वत् ।
जीवामि हा राममये पुरेऽस्मिन् रामच्युतोऽहं रजकः प्रमूढः ।।९८।।

निरन्तर केवल गङ्गाजल पीने वाला तिमिंगल (महामत्स्य) होते हुए भी जैसे कोई प्राणी क्लेश भोगता ही है ठीक उसी प्रकार हाय ! मैं मूढ़ धोबी, इस राममयी (मुक्तिदात्री) नगरी में भी राम (मुक्ति) से च्युत होकर ही जी रहा हूँ।

अवादिषं क्रोधविनष्टबुद्धिर्मुखेन यद्देव ! निशि स्वभार्याम् ।
न तस्य मूलं हृदये ममासीत् न वर्तते नाथ ! शपामि धर्मैः ।।९९।।

हे अन्नदाता ! क्रोध के कारण विनष्ट विवेक वाला मैं रात में, अपनी पत्नी को जो कुछ भी (पापवचन) कह गया, हे स्वामी ! धर्म की सौगन्ध खाकर कह रहा हूँ कि उसका मूल (पूर्वनियोजित संस्कार) न मेरे हृदय में था और न ही इस समय है !

यथा वहन् मन्दगतिस्समीरः सृजत्यकस्मादपि भीष्मझञ्झाम् ।
जितो महारोषचयैस्तथैव ह्युच्चावचं देव ! जगाद मूढः ।।१००।।

महाराज ! जैसे मन्दगति से बहता हुआ समीर कभी-कभी अकस्मात् ही दारुण आँधी-बवण्डर की भी सृष्टि कर देता है उसी प्रकार असह्य क्रोध-समूह के वशीभूत होकर ही, मुझ बुद्धिहीन ने भी उल्टा-पल्टा बक डाला ।

ब्रह्मर्षिवाण्या अमृतं निपीय किन्तु प्रलीनं मम बुद्धिजाड्यम् ।
विलोकये सम्प्रति विष्णुरूपं लक्ष्मीनिभां भूमिसुताञ्च दिव्याम् ।।१०१।।

परन्तु (अब) ब्रह्मर्षि वसिष्ठ की वाणी का अमृत पीकर मेरी बुद्धि की जड़ता विनष्ट हो चुकी है । अब मैं अयोध्यापति राम के विष्णुरूप को तथा भूमिजा देवी सीता के दिव्य लक्ष्मीरूप को (स्पष्ट) देख रहा हूँ ।

जातं पुनर्जन्म ममाद्य देव ! प्रत्नं वपुः किन्तु नवश्चिदंशः ।
ज्ञातम्मया राघवदिव्यतत्त्वं समुद्धराऽङ्घ्रयम्बुजलीनगात्रम् ।।१०२।।

हे स्वामी ! आज मेरा पुनर्जन्म हुआ है । शरीर (मात्र) पुराना है परन्तु चिदंश (चैतन्य आत्मा) सर्वथा नवीन है । राघवरूपी दिव्यतत्त्व को मैंने (अब) समझ लिया है । हे प्रभो ! चरणकमलों में लीन गात्र वाले इस दासानुदास का उद्धार करिये ।

निषादराजश्शबरी जटायुः सर्वेऽपि मत्तोऽभ्यधिकप्रशस्ताः ।
तथापि हे नाथ ! दयैकसिन्धो ! मामुद्धर त्राहि पदप्रलीनम् ।।१०३।।

(आप द्वारा समुद्धृत) निषादराज गुह, शबरी और गृद्धराज जटायु, निश्चय ही ये सब मुझसे कहीं अधिक प्रशस्त (भाग्यशाली) थे । फिर भी हे नाथ ! हे दया-सिन्धु ! चरणों में विलीन मुझ सेवक का उद्धार करिये, मेरी रक्षा करिये !

न सान्त्वितोऽहं यदि देव ! दीनः कृतापराधो विशदान्तरात्मा ।
अद्यैव मां श्रोष्यसि दीनबन्धो ! शरीरनष्टं स्वकृतैः प्रयासैः ।।१०४।।

हे नाथ ! कृतापराध परन्तु अब निर्मल आत्मा वाला दीन-हीन मैं यदि आप द्वारा क्षमा न किया गया तो हे दीनबन्धो ! आज ही आप सुनेंगे कि अपने ही द्वारा किये गये प्रयत्नों से मैंने अपना अन्त कर लिया ।

स्खलत्स्वरैर्गद्गदकण्ठघोषैर्मध्येसभं स्वीयवचांसि चिन्वन् ।
रुरोद गाढं निपपात भूमौ विसंज्ञदेहो रजको व्यथार्तः ॥१०५॥

(इस प्रकार) लड़खड़ाते स्वरों तथा गद्गद कण्ठध्वनियों से, सभामण्डल के बीच, अपने उद्गारों को व्यक्त करता हुआ, व्यथा से आर्त वह रजक हिचकियाँ भर-भर कर विलखने लगा और अन्ततः संज्ञाहीन होकर भूतल पर गिर पड़ा ।

तदीयदैन्यं करुणां विमूर्च्छां विलोक्य संश्रुत्य च नम्रवाचम् ।
अमर्षरोषज्वलिता नु पौराः सर्वे दयाञ्चक्रुरुपेत्य तोषम् ॥१०६॥

उसकी दीनता, करुणा एवं संज्ञाहीनता को देख कर तथा (उसकी पश्चात्ताप-जन्य) विनम्र वाणी को सुन कर, अमर्ष एवं रोष से जलते हुए भी समस्त सभासद, परितुष्ट होकर, उसके प्रति दयार्द्र हो उठे ।

विलोक्य पश्चात्तपनं तदीयं निशम्य चार्तानि वचांसि सद्यः ।
हैयङ्गवीनं रघुनाथचित्तम् उदीर्णदैन्यं द्रवितं बभूव ॥१०७॥

उस रजक के पश्चात्ताप को देखकर तथा तत्काल ही अभिव्यक्त उसके आर्त वचनों को सुनकर, उमड़ी हुई सहानुभूति वाला रघुनाथ का नवनीत-सरीखा कोमल हृदय द्रवित हो उठा ।

सकृत् समालोक्य गुरुं वसिष्ठं दृशोरभिप्रायमवाप्य तस्य ।
सभासदाञ्चापि विभाव्य भावं भ्रातॄंश्च सर्वान् विनतान् निरीक्ष्य ॥१०८॥

गुरु-वसिष्ठ की ओर एक बार देख कर तथा उनकी दृष्टियों का अभिप्राय (रजक को क्षमादान) समझ कर, सभासदों की भी भावनाओं का अन्दाजा लगा कर तथा विनयावनत अपने तीनों भाइयों पर दृष्टिपात करके ।

स्वपाणिपाथोजसुधावलेपस्पर्शैर्हरन् दैन्यचयं प्रशोकम् ।
द्रुतं समुत्थाप्य निधाय चाङ्के रघूत्तमस्तं रजकं रराध ॥१०९॥

रघूत्तम श्रीराम ने (चरणों में लीन उस) धोबी को वेगपूर्वक उठाकर बाहों में भर लिया तथा अपने पाणिपङ्कज के सुधावलेपजन्य संस्पर्शों से उसके दुरन्त शोक तथा सम्पूर्ण दैन्य को समाप्त कर दिया ।

स सान्त्वयंस्तं स्वजनं जगाद मा याहि दैन्यं रजक ! प्रशाम्य ।
तुष्टोऽस्म्यहं ते हृदयं विलोक्य शपे प्रजाभिर्विशदोऽस्मि तात !!११०।।

उस आत्मीय जन को सान्त्वना प्रदान करते हुए राघव ने कहा—'हे रजक ! शान्त हो जाओ । दैन्य का अनुभव मत करो । तुम्हारे हृदय (की निर्मलता) को देख कर मैं परितुष्ट हूँ । हे तात ! मैं प्रजाजनों की सौगन्ध खाकर तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरा मन (एकदम)) साफ है ।

प्रजामनोवृत्तिसमर्थनम्मे श्रद्धेयकृत्यं प्रथमं वरिष्ठम् ।
प्रजाहितं प्रीततमं महिष्ठं प्रजैव सर्वं किल रामराज्ये ।।१११।।

प्रजाजनों की मनोवृत्ति का अनुमोदन ही मेरा सर्वप्रथम सर्वश्रेष्ठ श्रद्धेय कर्तव्य है । प्रजा का हित ही (मेरे लिये) सर्वाधिक प्रिय कार्य है, सर्वाधिक महान् कार्य है । वस्तुतः रामराज्य में प्रजा ही सब कुछ है ।

अयाहि गेहं ननु भद्र ! शान्तश्चित्तं समाधाय कुरुष्व कार्यम् ।
भयं न रामादिह सज्जनानामसज्जनानामपि नैव रक्षा ।।११२।।

इसलिये भद्र ! घर जाओ । शान्तमन को समाहित करके अपने कर्तव्य में जुट जाओ । इस कोसल-साम्राज्य में सज्जनों को राम से कोई भय नहीं है (परन्तु) असज्जनों (दुष्टों) की राम से रक्षा भी नहीं है ।

पृथ्वीमिमां स्वर्गसमृद्धितुल्यां विधातुमिच्छामि निजैः प्रयासैः ।
प्रजाजनानां सहयोगभावस्त्वपेक्ष्यते तत्र सदैव भद्र !!११३।।

अपने प्रयासों से मैं, इस वसुन्धरा को स्वर्गीय समृद्धि के ही समान बनाना चाहता हूँ (परन्तु) प्रियवर ! उस कार्य में प्रजाजनों का सहयोगभाव तो निरन्तर अपेक्षित है ।

यो यत्र यस्मिन् करणेऽवसक्तः समुन्नतस्तत्र भवेन्नितान्तम् ।
राष्ट्रं यथा स्याच्चतुरस्रसिद्धिप्रभान्वितं सिन्धुनगेन्द्रमध्यम् ।।११४।।

जो व्यक्ति, जहाँ कहीं भी कार्य में लगा हुआ है वहीं पर, भलीभाँति समुन्नत बने ताकि नगराज हिमालय एवं समुद्र का मध्यवर्ती भारत राष्ट्र, सर्वतोमुखी सफलता के प्रकाश से देदीप्यमान हो उठे ।

एवं राघवतोषितस्स रजकस्सम्प्राप्तसञ्चेतनः
चञ्चत्प्राण इवाभवद्रघुपतेः संस्पर्शसौख्यं दधत् ।
सर्वे जानपदाश्च खेदरहिताः सम्यक् पुनर्जीविताः
भूपालं मुदितं विलोक्य मुदितास्सर्वे बभूवुश्चिरम् ।।११५।।

इस प्रकार राघव द्वारा परितोषित किया गया वह रजक सम्यक् रूप से चैतन्यमण्डित हो गया। रघुपति के संस्पर्शजन्य सुखों के अनुभव से मानो उसके प्राण (पुनः) लौट आये। सारे के सारे पौरजन भी, खेदरहित तथा भलीभाँति पुनर्जीवित से हो उठे। अपने भूपाल (श्रीराम) को प्रसन्न देख, समस्त प्रजाजन भी अतिशय प्रसन्न हो उठे।

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं सीताप्रमाणैः कृतम् ।
तस्मिन् पूर्तिमितो वसिष्ठमहितस्सर्गोऽयमष्टादशः
प्रख्यातो ह्यपवादनिर्णय इति श्रीजानकीजीवने ।।११६।।

घनीभूत आनन्दरूपी मरन्दविन्दुओं के कारण रमणीय, नवीन घटनाओं तथा अभिनव कथापरम्परा वाला जो मधुवर्षी काव्य भगवती सीता की ही अन्तःप्रेरणा से लिखा गया है, उस जानकीजीवन महाकाव्य में गुरु वसिष्ठ के चरित्र से महनीय 'अपवादनिर्णय' संज्ञा वाला, यह अट्ठारहवाँ सर्ग पूर्णता को प्राप्त हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।११७।।

महाकवि कालिदास की कविता ही जिसका मूल है, श्रीहर्ष की वाणी तना है, जयदेव की कविता जिसका पत्रसमूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—अपनी ही नियति से उत्पन्न हुआ अभिराजराजेन्द्ररूपी यह काव्यतरु चिरकाल तक जीवित रहे।

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्येऽ
पवादनिर्णयसंज्ञकोऽष्टादशः सर्गः ।

●

एकोनविंशः सर्गः

अथ यथासमयं धरणीसुता रुचिरशारदसौम्यनिशीथके।
प्रथितवंशधरौ यमजौ सुतौ रघुपतिप्रतिमौ समजीजनत् ॥१॥

इसके अनन्तर, समय आने पर, भूमिसुता सीता ने रमणीय शरद ऋतु की सौम्य (निरुपद्रव) अर्धरात्रि में, रघुपति के ही समान रूप-सौन्दर्यसम्पन्न, यशस्वी वंशधरों—दो जुड़वे पुत्रों को—जन्म दिया।

पणववेणुमृदङ्गकझल्लरीमुरजदुन्दुभिशंखनिनादकैः ।
निखिलमेव नभोविवरं वृतं रघुकुले समजायत मङ्गलम् ॥२॥

(कुमारों का जन्म होते ही) पणव (नगाड़ा) वेणु, मृदंग, झल्लरी (तासा) मुरज (पखावज) दुन्दुभि (तुरही) तथा शंख के निनादों से सारा का सारा आकाश-मण्डल व्याप्त हो उठा और रघुकुल में मंगल होने लगा।

मधुरकण्ठनिनादितनिःस्वनैर्विशदसूतगृहाञ्चितगीतिकाः ।
प्रमुदिताः प्रतिवेशवधूजना द्रुतमुपेत्य जगुर्निशि संगताः ॥३॥

पास-पड़ोस की बहुएँ, रात में ही शीघ्रतापूर्वक एकत्र होकर, प्रसन्नता से ओतप्रोत हुई, सुरीले कण्ठों से कढ़ीं स्वरलहरियों द्वारा पारम्परिक 'सोहर' गीत गाने लगीं।

विशदवाद्यचयध्वनिबोधिताः श्रुतिपरम्परया सुतसम्भवम्।
समधिगम्य बभूवुरतन्द्रिताः सहृदयोत्तमकोसलनागराः ॥४॥

वाद्य-समूहों की सुस्पष्ट ध्वनियों से जागे हुए, सहृदयोत्तम अयोध्यापुरी के नागर-जन भी, कानों-कान (राजभवन में) पुत्रजन्म का समाचार सुनकर उत्साहित हो उठे।

रुचिरपौत्रमुखे विधुसन्निभे समवलोक्य मनोरथवर्धिताः ।
ननृतुरेव महोत्सवमेदुरा भरतलक्ष्मणराघवमातरः ।।५।।

चन्द्रमा से समान (दोनों) पौत्रों के मुखों को देखकर, मनोरथपूर्ति से विनोदित भरत, लक्ष्मण एवं राम की जननियाँ तो महोत्सव में डूबी हुई, नाच उठीं ।

अवनिजासहजा ननु माण्डवी सहृदया श्रुतकीर्तिरथोर्मिला ।
स्वसृसुखैः सुखिता विभृयुश्चिरं प्रथितमङ्गलमोदकदम्बकम् ।।६।।

अवनिजा (सीता) की बहनें—माण्डवी, सहृदया श्रुतिकीर्ति तथा उर्मिला—अपनी बहन के सुखों से सुखी हो उठीं तथा मंगल एवं आमोद—परम्परा का भरपूर आनन्द लेने लगीं ।

नृपतिसौधसमक्षमुपाययुः पुलकहर्षभरान्वितनागराः ।
निशि बभूव दिनं श्रितकौतुकं ह्यविदितं क्षपिताऽक्षियुगे क्षपा ।।७।।

पुलक एवं हर्ष के भार से बोझिल पौरजन राजभवन के समक्ष (वधाई देने) आ जुड़े । रात्रिवेला में हीं मानो कौतुकों से भरा दिन हो गया और पूरी की पूरी रात, अनजाने में ही, आँखों में बीत गई !

समुदिते नलिनीदयिते रवौ प्रथितमागधचारणवन्दिनः ।
गृहमुपेत्य जगुर्विरुदावलीं रघुनृपान्वयकीर्तिविसारिणीम् ।।८।।

कमलिनी-वल्लभ सूर्य के उदित होते ही प्रख्यात मागध, चारण एवं बन्दीजन राजभवन आ पहुँचे तथा रघुवंशी भूपतियों की कीर्ति का विस्तार करने वाली विरुदावली का गायन करने लगे ।

स्वकुलवृद्धिविनोदितमानसः प्रमुदितो भरतः प्रचुरैर्धनैः ।
सपदि याचकवृन्दमतोषयत् भवनमागतमागतवैभवः ।।९।।

अपनी वंशवृद्धि से विनोदित मन वाले, सम्प्राप्त अभ्युदय वाले, प्रमुदित कुमार भरत ने तत्काल ही राजद्वार पर आये हुए याचक-समूह को प्रचुर धन देकर सन्तुष्ट किया ।

पुरनिवासिभिरात्मगृहाण्यपि कुसुमपल्लवमङ्गलतोरणैः ।
सरभसं समलङ्करणैर्नवैर्विकसितानि सितानि सुधाचयैः ॥१०॥

(उस मंगलवेला में) नगरवासियों ने भी अपने भवनों को पुष्पों, पल्लवों, मंगल-तोरणों तथा नवीन अलंकरणों से शीघ्रतापूर्वक सज्जित कर दिया तथा श्वेतचूर्ण से रँगाकर सुन्दर बना दिया ।

न खलु सा सरणी रमणी न या न रमणी खलु याऽधृतगीतिका ।
न च सुगीतिरसौ न रराध या सुहृदयानि दयानिचयात्मनाम् ॥११॥

ऐसी कोई डगर नहीं थी जो मनपसन्द न हो । कोई ऐसी रमणी नहीं थी जो गीत न गुनगुना रही हो । कोई ऐसी सुन्दर गीतिका नहीं थी जो करुणावरुणालयों के कोमल हृदयों का अनुरंजन न कर रही हो !

जनकजाऽपि च सूतगृहान्तरे यदवधि न्यवसत्कुलसम्मतम् ।
नवमहोत्सवचारुकदम्बकम् अवृतदेव तदेवमहर्निशम् ॥१२॥

कुल-परम्परा के अनुसार, जनकजा (सीता) जब तक सूतिकागृह (सौर) में रहीं, नूतन महोत्सवों की यह रमणीय परिपाटी भी (तब तक) उसी प्रकार रात-दिन चलती रही ।

कतिपयेऽथ गते दिवसोच्चये निभृतसूतगृहाद्बहिरागतौ ।
जनकजाजनितौ युगलार्भकौ समुदिता मुदिता ददृशुर्जनाः ॥१३॥

कुछ दिन बीत जाने पर, एकान्त सूतिकागृह से बाहर आये, वैदेही से उत्पन्न, जुड़वे बच्चों को, समुत्कण्ठित एवं प्रहर्षित पौरजनों ने देखा ।

रघुपतिप्रतिमाविति काश्चन भरतगाविति लक्ष्मणगावथ ।
स्वरुचिमूचुरिति प्रथिताङ्गनाः समवलोक्य सुतौ ननु तौ नुतौ ॥१४॥

उन प्रशस्तियोग्य (जुड़वे) बच्चों को निहार कर, कुछ बड़ी-बूढ़ी महिलाओं ने अपनी मनपसन्द बात कही—'एकदम श्रीराम कीं तरह हैं!' कुछ ने कहा---'भरत पर गये हैं !' और कुछ ने कहा —'लक्ष्मण पर गये हैं !'

जनकजाऽपि निशम्य सुयोषितां रसमयं वचनं हृदि मोदिता ।
सविनयं निजगाद ममात्मजौ निखिलवंशधरांशधराविति ।।१५।।

उन श्रेष्ठ महिलाओं के रसमय वचनों को सुनकर, मन ही मन आह्लादित, वैदेही ने भी विनम्रतापूर्वक कहा—'मेरे दोनों बेटे (अपने) सभी वंशधरों के अंश से उत्पन्न हुए हैं ।

'पितृसमौ ननु तौ महितात्मना भरतलक्ष्मणशत्रुदमप्रभौ ।
हृदयविक्रमरूपचयैरिति स्वजननीसदृशौ सदृशौ न किम् ??१६।।

महनीय आत्मबल की दृष्टि से तो वे निश्चय ही (अपने) पिता के समान हैं । सहृदयता, पराक्रम तथा रूप-लावण्य की दृष्टि से वे कुमार भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न जैसे हैं ! और फिर, एक जैसी अनुहार वाले (मेरे बेटे) क्या अपनी माँ के समान (कोमल) नहीं हैं ?

सुतमुखेन्दुदिदृक्षुरपि त्रपाशिथिलितो न शशाक रघूत्तमः ।
ननु कुटुम्बिसमक्षमवेक्षितुं महितसंयमजौ यमजौ सुतौ ।।१७।।

पुत्रों के मुखचन्द्र को देखने के लिये उत्कण्ठित होते हुए भी, लाज के मारे संकुचित रघूत्तम, कुटुम्बियों की उपस्थिति में, महान् तपश्चर्या से उत्पन्न (अपने) जुड़वे बच्चों को देखने में समर्थ नहीं ही हो सके ।

अथ रघूत्तमगार्ध्यविभाविनी ह्यवसरं समवाप्य च कैकयी ।
चरणसंवरणाय समागतं स्फुटमुवाच मुदा नतराघवम् ।।१८।।

तभी एक दिन अवसर पाकर, श्रीराम के लोभ को भाँपने वाली (माता) कैकयी ने, चरण-वन्दना के लिये पधारे विनत राघव से, प्रसन्नतापूर्वक कहा ।

अयि नरेन्द्र ! रघूत्तम ! नन्दन ! कथमिव त्रपसे किल राघव !
विधुमुखौ यमजौ रघुवंशिनौ ननु विलोकय पङ्कजलोचनौ ।।१९।।

महाराज ! रघूत्तम ! राघव बेटा ! तुम सचमुच इतना लजा क्यों रहे हो ? पंकजलोचन तथा चन्द्रमुख इन जुड़वे रघुवंशियों को जरा देखो तो सही !

इति निगद्य सुतावतिकोमलौ कलरवं दधतौ विहगप्रभौ।
कुतुकिनावददात्क्रमशश्च तौ रघुवराय मुदा जननी स्वयम् ।।२०।।

इस प्रकार कह कर माता कैकयी ने; अत्यन्त कोमल, (नवजात) विहगों के समान गूँ-गाँ करने वाले तथा कौतुक से भरे उन शिशुओं को, रघुश्रेष्ठ श्रीराम की गोद में, बारी-बारी से दिया।

उपगता अपरेऽपि कुटुम्बिनो जनकजासहजा ननु मातरौ।
पुलकहर्षपयोनिधिवेल्लनैः स्फुटमदीर्यत राघवविन्नपा ।।२१।।

इसी बीच, अन्य दोनों माताएँ (कौशल्या तथा सुमित्रा) सीता की भगिनियाँ (माण्डवी, उर्मिला, श्रुतकीर्ति) तथा अन्यान्य कुटुम्बी जन (भी) आ गये। फिर तो पुलक एवं हर्षरूपी समुद्र के लहराने से राघव की उत्कट लज्जा स्वयं विनष्ट हो उठी।

क्वचिदलालयताशु पितामही क्वचिदथो जननीभगिनीचयः।
क्वचिदसौ जननीगृहसेविका ननु बभूवतुरीक्षणसन्निभौ ।।२२।।

(बच्चों को) कभी दादी (रानी कौशल्या) दुलारती थीं तो कभी माँ (सीता) की बहनें (अर्थात् मौसियाँ) कभी माँ स्वयं दुलारती थी तो कभी घर की परिचारिका (दासी) इस प्रकार दोनों शिशु (सबकी) आँखों के तारे बन गए थे।

अथ शनैर्दिवसा रविदीपिता विधुसिता मृदुशीतलरात्रयः।
तदनु मासचयैधितहायनं परिणतिं नु जगाम यथाक्रमम् ।।२३।।

इसी प्रकार, धीरे-धीरे सूर्य से विभासित दिन एवं चन्द्रमा से अवदात कोमल एवं शीतल रातें बीतती रहीं! फिर तो बारह महीनों से संवर्धित पूरा का पूरा वर्ष क्रमानुसार पूर्णता को प्राप्त होता रहा।

जनकजातनुजौ परिवर्धितौ सपदि हायनपञ्चकसंयुतौ।
मधुरया च गिरा धृतवाचिकौ स्वजनचित्तमरञ्जयतामुभौ ।।२४।।

(यत्नपूर्वक) पाले-पोसे गये वैदेही के पुत्र, देखते ही देखते पाँच वर्ष के हो गये। मीठी वाणी में बतियाने वाले उन दोनों कुमारों ने स्वजनों के चित्त को आह्लादित कर दिया।

समदृशौ समचन्द्रमुखावुभौ समरुची समभोजनपानकौ ।
सदृशरोदनगायननर्तनौ ननु कुटुम्बिमनांसि बबन्धतुः ॥२५॥

दोनों ही कुमार एक सरीखे नेत्रों वाले, एक सरीखे चन्द्रमुख वाले, एक जैसी रुचि (पसन्द) वाले तथा एक ही जैसे भोजन तथा पान वाले थे । रोना, गाना, नाचना भी एक जैसा ही था । (फलतः) दोनों शिशुओं ने कुटुम्बियों के मनों को बाँध लिया ।

प्रतिपलं जवनौ मृगशावकाविव गृहाङ्गण एधितधावनौ ।
जनकजाहृदयं किल जह्रतुः कमलकोमलकान्तकलेवरौ ॥२६॥

फुर्तीले मृगछौनों के समान प्रतिपल घर की अँगनाई में कुलाँचे भरने वाले, कमलपुष्प के समान कोमल एवं कमनीय काया वाले कुमारों ने जानकी के हृदय को बरबस चुरा रखा था ।

गुरुवसिष्ठकृतैः कुलसम्मतैर्विधिभिरिद्धतनू ऋतसंस्कृतौ ।
चपलशैशवलोलविहारणैः स्वजनहृन्दि च तौ प्रमुमोषतुः ॥२७॥

गुरु वसिष्ठ द्वारा सम्पन्न कराए गए, कुलसम्मत संस्कारों द्वारा पवित्रित शरीर वाले तथा ऋत (सत्य) संस्कृत उन दोनों कुमारों ने (अपने) चपल शैशव की उन्मुक्त क्रीडाओं द्वारा स्वजनों के हृदयों को भलीभाँति लूट लिया ।

अथ रघुप्रमुखं समुपागतः सकललोकसमर्च्यपदाम्बुजः ।
त्रिपथगातमसाजलसन्धिजप्रथितकाननवासिमुनीश्वरः ॥२८॥

इसके अनन्तर, एक दिन, सम्पूर्ण जगत् द्वारा समर्चनीय चरणकमलों वाले, गङ्गा एवं तमसा नदियों की संगमभूमि में अवस्थित प्रख्यात तपोवन में रहने वाले महामुनि (वाल्मीकि) रघुप्रमुख (श्रीराम) के पास आये ।

तरणिवंशभवोऽत्र पुरा क्वचित् नृपतिमित्रसहो बहुवार्षिकम् ।
गुरुवसिष्ठसमेधितमध्वरं ननु सुदाससुतस्समपूपुरत् ॥२९॥

जिस तपोवन में पहले कभी, सूर्यवंश में उत्पन्न (महाराज) सुदास के पुत्र राजा मित्रसह ने, गुरु वसिष्ठ द्वारा सम्पादित तथा अनेक वर्षों तक प्रवर्तमान महायज्ञ को विधिपूर्वक पूर्ण किया था ।

सुविदितं तमकुण्ठतपोनिधिं स्वयमुपागतमीक्ष्य रघूत्तमः ।
सविनयं सकुटुम्बमपूपुजन् मुनिजनोचितवेदविधानतः ॥३०॥

अकुण्ठित तपश्चर्या के भाण्डागार उन सुप्रसिद्ध महर्षि को स्वयमेव आया हुआ देख कर, रघूत्तम श्रीराम ने सपरिवार, विनम्रतापूर्वक महर्षिजनोचित वैदिक विधि के अनुसार उनकी पूजा की ।

कुशलमङ्गलमूलमनामयं प्रकृतिपोषणवृत्तमपि क्रमैः ।
रघुपतिं परिपृच्छ्य परां मुदं ह्युपगतो वलमीकमुनिस्तदा ॥३१॥

तदनन्तर वल्मीक (दीमक की बाँबी) से उत्पन्न महामुनि, कुशल-मंगलमूलक अनामय-प्रश्न तथा प्रजापालन-समाचार को क्रमानुसार राघव से पूछ कर परम प्रसन्न हुए ।

जनकजातनयौ स्फुटविग्रहौ रुचिरवेषधरावतिमोहनौ ।
समवलोक्य तयोरभिधानकं मुनिवरः समपृच्छदथाधिपम् ॥३२॥

सुडौल शरीर वाले, कमनीय वेषधारी तथा सम्मोहन उत्पन्न कर देने वाले, देवी सीता से उत्पन्न दोनों पुत्रों को देखकर, मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि ने महाराज से उन दोनों का नाम पूछा ।

रघुपतिर्निजगाद सुताविमावकृतसंज्ञितकौ तदितः परम् ।
भवदभीप्सितनामपदौ यदि प्रभवतां भवितास्मि कृती प्रभो !!३३॥

रघुपति ने बताया कि 'इन दोनों कुमारों का (अभी तक) नामकरण नहीं हुआ है । अतएव यदि आप द्वारा आकांक्षित नामों से ये दोनों कुमार भविष्य में बुलाये जाँय तो हे भगवन् ! हम कृतार्थ होंगे ।'

सविनयं पुनरेव निवेद्यते जनकजातनयौ यदिमौ भवान् ।
गुरुकुलेऽप्युपनीय निजाश्रमे प्रविदधातु यथारुचि संस्कृतौ ॥३४॥

'मैं बड़ी विनम्रता से यह भी निवेदन कर रहा हूँ कि देवी वैदेही से उत्पन्न (मेरे) इन दोनों पुत्रों को आप अपने आश्रम के गुरुकुल में ले जा कर, अपनी रुचि के अनुसार, इन्हें संकार-सम्पन्न करें !'

इति निशम्य रघूत्तममंत्रणां विनयहार्दमयीं मुदितो मुनिः ।
रघुसुतौ यमजावुपलालयन् स्फुरितमंत्रपदैरभिषेचयन् ।।३५।।

विनय तथा प्रेम से भरी, रघूत्तम की इस मंत्रणा को सुन कर प्रमुदित हुए महर्षि वाल्मीकि ने, उन रघुवंशी जुड़वे कुमारों को दुलारते हुए तथा संस्फुरित (प्रभावी) मंत्रपदों से उन्हें अभिषिक्त करते हुए ।

प्रथमजं तनुजं कुशभावितं स समबोधयदाशु कुशाभिधम् ।
अनुगतञ्च लवैरभिषेचितं मुनिरवोचदधीत्य लवाभिधम् ।।३६।।

कुश से भावित, सर्वप्रथम उत्पन्न हुए शिशु को तत्काल ही 'कुश' संज्ञा से सम्बोधित किया तथा जलविन्दुओं से अभिषिक्त, बाद में पैदा हुए शिशु को, रहस्य-वेत्ता महर्षि ने 'लव' संज्ञा से अभिषिक्त किया ।

कुशलवाविति नामपदे शुभे तनुजयोरवगम्य रघूत्तमः ।
परममोदमुपागमदूर्जितः स्वकुलजा अपरेऽपि च तुष्टुवुः ।।३७।।

अपने पुत्रों का 'कुश एवं लव' पवित्र नाम जान कर पुलकित हुए रघूत्तम श्री राम परम प्रसन्न हुए। अन्यान्य कुटुम्बी जन भी परितुष्ट हुए ।

अथ निशम्य हि दुग्धमुखार्भकौ गुरुकुलाभिमुखौ दयिताज्ञया ।
प्ररुदती विरहव्यथयाऽऽर्दिता जनकजा दयितं स्फुटमब्रवीत् ।।३८।।

तदनन्तर, स्वामी की आज्ञा से, अपने दुधमुँहे बच्चों को गुरुकुल (वाल्मीकि-आश्रम) की ओर प्रस्थित होते सुन कर (पुत्रों के) विछोह की पीड़ा से सन्तप्त देवी सीता, रोती हुईं पति से स्पष्टतापूर्वक बोलीं ।

कुशलवौ रघुनाथ ! सुकोमलौ परुषकाननदारुणजीवनम् ।
न किल सोढुमिमौ सहजं क्षमौ विरहितौ नु कदापि कुटुम्बतः ।।३९।।

हे रघुनाथ ! जो परिवार से कभी भी अलग नहीं रहे—ऐसे अत्यन्त कोमल ये कुश तथा लव (अभी) भयावह वन का संकटापन्न जीवन जी पाने में, किसी भी प्रकार समर्थ नहीं हैं ।

निमिषमात्रमपि क्षमते न वा जनकजाऽतनुजा किल जीवितुम् ।
तदपि नाथ विचारय दारुणं विशसनं मम यंत्रितमङ्गलम् ।।४०।।

(अपने) पुत्रों के अभाव में यह सीता एक भी क्षण जी पाने में, निश्चित रूप से समर्थ नहीं है ! इसलिये हे प्राणनाथ ! कल्याण-मंगल को विनष्ट करने वाली, मेरी इस दारुण विपत्ति पर भी विचार करें !

कुशलवौ तव कीर्तिकुशीलवौ रघुपतेऽत्र ममापि यशः परम् ।
ध्रुवमहं तनयस्मृतिकातरा मरणमेव गतास्मि न संशयः ।।४१।।

हे रघुपते ! कुश और लव आपके यश के कुशीलव (गायक) हैं । इसी में मेरी भी कीर्ति है । परन्तु इसमें कोई संशय नहीं कि पुत्रों की याद में घुल-घुल कर मैं निश्चित रूप से मर जाऊँगी !

इति निवेद्य परं करुणाभरं प्ररुदतीं विकलां किल जानकीम् ।
रघुपतिस्सदयं ह्युपलालयन् विधुमुखं परिमार्ज्य ततोऽब्रवीत् ।।४२।।

इस प्रकार, अपनी पुञ्जीभूत करुणा को निवेदित कर (पुत्रों के मोहवश) रोती-बिलखती, विकल जानकी को, अत्यन्त कृपापूर्वक पुचकारते हुए रघुपति ने (आँसुओं से भीगे उनके) चन्द्रमुख को मार्जित करते हुए कहा ।

हृदयदुर्बलतां त्यज मैथिलि ! प्रियतमे ! सुतमङ्गलमाश्रय ।
कुशलवाविह पञ्चवसन्तकान् अतिययुस्समयो दुरतिक्रमः ।।४३।।

हे मैथिलि ! छोड़ो हृदय की (इस) दुर्बलता को ! हे प्रियतमे ! पुत्रों के (भावी) मंगल की बात सोचो । समय दुरतिक्रम है प्रिये ! देखो न, कुश तथा लव इस राजभवन में ही पाँच वसन्त पार कर गये !

गुरुकुलाध्ययनस्य वयो न्विदं जनकजे ! स्वयमेव विचारय ।
क्व खलु लभ्य इह प्रथितो गुरुश्चिरयशा वलमीकजसन्निभः ??४४।।

अब यही (उचित) वय है कि उन्हें (विद्याध्ययनार्थ) गुरुकुल में भेज दिया जाय । जनकजे ! तुम स्वयं विचार करो । महर्षि वाल्मीकि जैसा अक्षत यशस्वी, प्रख्यात विद्यागुरु इस संसार में भला और कहाँ मिलेगा ?

यदि निवेद्य सकृन्न सुतौ ददे मुनिवरोऽपि भवेदवमानितः ।
विजहि तापमतः प्रियमैथिलि ! कुशलवौ त्वरितं ननु सज्जय ।।४५।।

एक बार (स्वयं) निवेदन करके, यदि बच्चों को (शिष्यरूप में) उन्हें अर्पित न करूँ तो मुनिश्रेष्ठ भी अपमानित होंगे । अतएव, प्रिये मैथिलि ! मन का सन्ताप दूर करो और कुश-लव को (प्रस्थान के लिये) शीघ्र ही तैयार कर दो ।

दयितसान्त्ववचोभिरुपस्नुता सुतवियोगहता निजगाद सा ।
हृदयवल्लभ ! रक्ष निवेदनं ननु वदामि निलीनमनोरथम् ।।४६।।

स्वामी के सान्त्वना-वचनों से द्रवीभूत (परन्तु साथ ही साथ) पुत्रों के (भावी) बिछोह से मृतकल्प वैदेही ने (पुनः) कहा—हृदयवल्लभ ! तो फिर मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कर लीजिये । अपने मन की गूढ़ आकांक्षा आपसे कह रही हूँ !

गुरुकुलं तनुजद्वयसङ्गता जिगमिषामि महर्षितपोवने ।
अनुमतं यदि ते भवतादिदं कुशलवौ सुखिनौ मम नो व्यथा ।।४७

यदि आपकी आज्ञा हो तो दोनों बच्चों के साथ ही साथ, मैं भी महर्षि वाल्मीकि के तपोवन में स्थित गुरुकुल तक जाना चाहूँगी । ऐसा होने से कुश और लव भी प्रसन्न रहेंगे और मुझे भी (बेटों के बिछोह का) दुख नहीं होगा ।

त्रिपथगाभिषवैर्ननु वृण्वती महितपुण्यमवेक्ष्य तपोवनम् ।
कुशलवौ च निवेश्य यथोचितं त्वरितमेव भवन्तमुपाश्रये ।।४८।।

गङ्गास्नान से श्रेष्ठ पुण्य का संचय करके, तपोवन को देख-भाल कर तथा कुश-लव को भी यथोचित रूप से वहाँ (गुरुकुल में) व्यवस्थित करके, बहुत शीघ्र ही मैं आपके पास लौट आऊँगी ।

परममोदमगाद्रघुनायको जनकजावचनं परिशीलयन् ।
सुभगबाहुलतामृदुबन्धने प्रियतमां विदधत्स जगाद ताम् ।।४९।।

देवी वैदेही के वचनों का मर्म समझकर रघुनायक (राम) परम प्रसन्न हो उठे । प्रियतमा को शोभन बाहुलताओं के कोमल पाश में बाँधते हुए वह सीता से बोले । ....

अयि शुभे ! रघुनायकनायिके ! अवनिजे विपदुत्सवसङ्गिनि !
प्रियतरौ तनयौ न च राघवः स्थविरकं खलु मां किमुपेक्षसे ??५०।।

शुभे ! रघुनायकनायिके ! अवनिजे ! मेरे विपदुत्सवों की संगिनि ! लव तथा कुश (अब) तुम्हें अधिक प्रिय लगने लगे हैं, (तुम्हारा प्राणवल्लभ) यह राघव नहीं ? मुझ जैसे दयनीय स्थविर (बूढ़े) की उपेक्षा क्यों कर रही हो ?

सुमुखि ! ते हृदयं सुतकेन्द्रितं मम पुनस्त्वयि लीनमनोरथम् ।
त्वमसि नो सुखिनी तनुजौ विना न च सुखी विरहे तव राघवः ।।५१।।

हे सुमुखि ! तुम्हारा हृदय तो बच्चों में केन्द्रित हो गया है ! परन्तु मेरा हृदय तो अभी भी अपना सारा मनोरथ तुम्हीं में केन्द्रित किये बैठा है ! तुम बच्चों के बिना सुखी नहीं रह सकतीं और तुम्हारे बिछोह में (यह) राघव सुखी नहीं रह सकता ।

कुशलवौ रुचितौ मम नेति नो तदपि मैथिलि ! राघवजीवितम् ।
त्वदनुगं प्रणये तव गूहितं कथमिति स्वयमेव न वेदये ।।५२।।

'कुश और लव मुझे प्रिय नहीं है । ऐसी बात नहीं है । फिर भी प्रिये मैथिलि ! राम का जीवन तो तुम्हीं पर आश्रित है, तुम्हारे ही प्रेम में डूब हुआ है । ऐसा क्यों है ? यह मैं स्वयं नहीं समझ पाता ।

हृदयवल्लभरागवचोऽम्बुधौ सुखनिमज्जनसौख्यमुपेयुषी ।
दयितवक्षसि लीनमुखाऽस्फुटं धरणिजाऽरुददश्रुमयी चिरम् ।।५५।।

प्राणवल्लभ राघव के प्रेमपूरित वचनरूपी सागर में अवगाहन-सुख का अनुभव करती धरणिजा (सीता) प्रियतम के वक्ष पर मुँह टिका कर, आँसुओं को ढरकाती, बड़ी देर तक रोती रही ।

स्वपदपद्ममरन्दकरोदरीं हृदयवल्लभ ! राघव ! मामिमाम् ।
गणयसि त्वमहो कथमन्यथा प्ररुदतीति जगाद विदेहजा ।।५४।।

(भावोद्रेकवश) बुरी तरह रोती हुई वैदेही ने कहा—हृदयवल्लभ ! राघव ! अपने चरणकमल-मकरन्द की मधुकरीभूता इस दासी को आप अन्यथा (परिवर्तित मनोवृत्ति वाली) क्यों समझ रहे हैं ? आश्चर्य हो रहा है मुझे !

तव कृते त्वहमस्मि प्रियाऽद्वयाऽप्युपचितः प्रणयो मयि ते ततः ।
त्रिषु विभक्तमिदं मम मानसं रघुवरेषु परन्तु समं समम् ।।५५।।

आपके लिये तो मैं आपकी इकलौती पत्नी हूँ ! शायद इसीलिए आपका सारा प्रेम मुझी में पुञ्जीभूत हो उठा है । परन्तु स्वामी ! मेरा यह मन तो तीन रघुवरों (रामों) में बराबर-बराबर बँट गया है ।

कुशलवौ रघुनाथ ! तवात्मजौ मम पुनर्वपुरात्मधरौ च तौ ।
ननु विभज्य निजं त्रिषु विग्रहं त्रितयमेव कृतं मम सौहृदम् ।।५६।।

हे रघुनाथ ! कुश और लव आपके तो आत्मजमात्र हैं परन्तु मेरे लिए तो वे दोनों, मेरी आत्मा तथा शरीर—दोनों को धारण करने वाले हैं । फलतः अपने शरीर को आप तीनों (की सेवा-सुश्रूषा) में विभक्त करके, मैंने अपने प्रेम को भी त्रिधा विभक्त कर डाला है ।

तदपि नाथ ! विदेहसुताऽश्रयस्त्वमसि केवलमत्र परत्र च ।
सुमफलप्रसवाऽपि लताऽनघा त्यजति नैव तरुं दयिताश्रयम् ।।५७।।

फिर भी हे स्वामी ! इस लोक तथा परलोक में (भी) सीता के एकमात्र आश्रय तो आप ही हैं । फूल एवं फल को उत्पन्न करने वाली होकर भी समृद्ध लता स्वामी के समान आश्रय प्रदान करने वाले वृक्ष को नहीं छोड़ती है ।

प्रियतमावचनं रतिमेदुरं विशदयुक्ति निशम्य रघूत्तमः ।
शिथिलयन् दयितां भुजबन्धनाद्रहसि तां निजगाद शुचिस्मितः ।।५८।।

प्रीतिपगे तथा विश्वस्त तर्कों से युक्त प्रियतमा सीता के वचनों को सुनकर रघूत्तम श्रीराम , उस एकान्त में, प्रिया को अपने आलिंगन-पाश से मुक्त करते हुए, मुसका कर बोले ।

भवतु गच्छ मतं तव रोचते कुशलवौ वृणुतां स्थिरतां त्वया ।
स्वयमहं भवतीमवलोकये गुरुकुले प्रथिते सह सोदरैः ।।५९।।

अच्छा, जाओ तुम ! तुम्हारा मन्तव्य मुझे भा रहा है । तुम्हारे वहाँ जाने से कुश एवं लव स्थिरता प्राप्त करेंगे । मैं (भी) भाइयों के साथ, उस विख्यात तपोवन में स्वयं तुमसे (शीघ्र ही) मिलूँगा ।

व्यतिकरे निखिले किल निश्चिते रघुवरोऽथ दिदेश सुमन्त्रकम् ।
जनकजां ससुतां मुनिपुङ्गवं गुरुकुलं स्वरथेन विमोक्षितुम् ॥६०॥

इस प्रकार, सम्पूर्ण कार्यक्रम सुनिश्चित हो जाने पर श्रीराघव ने, पुत्रों सहित देवी सीता एवं महर्षि वाल्मीकि को अपने रथ से, गुरुकुल (वाल्मीकि-आश्रम) तक पहुँचाने के लिये, महामात्य सुमंत्र को आदेश दिया ।

बहुविधन्नु महर्षिपदाम्बुजं रघुपतिः स्वजनैस्सह सन्नतः ।
सविनयं विससर्ज सुतान्वितां प्रियतमां पथि सारितलोचनः ॥६१॥

अपने स्वजनों के साथ रघुपति ने अनेक प्रकार से, महर्षि वाल्मीकि के चरण-कमलों में विनम्रतापूर्वक प्रणति अर्पित की और (ओझल होने तक) मार्ग में दृष्टि बिछाये हुए, उन्होंने पुत्रों के साथ जाती हुई प्रियतमा को विदा दी ।

भरतलक्ष्मणशत्रुदमास्त्रयो नगरसीम्नि गताः प्रियदारकौ ।
समुपलाल्य निवेद्य महर्षये प्रणतिमाययुराशु नृपालयम् ॥६२॥

भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न (रथ के साथ अयोध्या) नगर की सीमा तक गये और प्राणप्रिय शिशुओं (भतीजों) को दुलार कर तथा महर्षि वाल्मीकि को प्रणाम अर्पित कर शीघ्र ही राजभवन लौट आये ।

कुशलवावनवेक्ष्य च मातरः सुभगपौत्रमुखच्छविकातराः ।
नयननीरभरार्द्रकलेवरा विरहदैन्यमुपाययुरर्दिताः ॥६३॥

सलोने पोतों की मुखच्छवि देखने के लिये आतुर, नयन-निर्गत अश्रुभार से भींगे देह वाली राजमाताएँ (कौशल्यादि) कुश तथा लव को न देख कर व्यथित हो उठीं और विछोह की दीनता से भर गईं ।

कनकपञ्जरगौ विहगौ यथा नभसि मुक्तविहारपरायणौ ।
विघटितां समवाप्य सदर्गलां झटिति योजयतां स्वपलायनम् ॥६४॥

आकाश में उन्मुक्त-विहार करने वाले (परन्तु) सुवर्ण पिंजरे में प्रतिरुद्ध दो पंछी जैसे (पिंजरे की) मजबूत अर्गला (साँकल) को खुली पाकर झट से भाग खड़े होते हैं ।

कुशलवावपि तद्वदलक्षितौ प्रथितकोसलराजमहालयम् ।
समपहाय विमुक्ततपोवने जनकजाऽपि गता सुतरक्षिणी ।।६५।।

कुमार कुश तथा लव भी, उसी प्रकार (पिंजरे के समान) समृद्ध कोसल राजप्रासाद को छोड़कर, बन्धन-मुक्त तपोवन में अलक्षित हो गए । सुतरक्षिणी जानकी भी (उन्हीं के साथ) चली गई ।

पल्यङ्कतल्पशयितो रघुवंशभानुः पूर्वप्रतीतिवशगस्तनुजौ स्वपार्श्वे ।
सम्मार्गयन् निशि न तौ समवाप्य विद्धः उन्निद्र एव रजनीं क्षपयाञ्चकार ।।

रात्रिवेला में, पलंग के विस्तर पर सोए हुए रघुवंशभानु श्रीराम, पुरानी प्रतीति के वशीभूत होकर, दोनों बच्चों को अपने पास खोजते रहे, परन्तु उन्हें न पाकर वह शोकविद्ध हो उठे और बिना नींद के ही सारी रात बिता डाली ।

सीतां क्वचित्प्रहितबाहुलतोऽङ्कपाशे नोऽवाप्य भग्नहृदयो हतगाढनिद्रः ।
उत्थाय भूरिविरहार्दितकान्तकायो रात्रौ जजागर सहायपरोऽधिशय्यम् ।।६७

कभी-कभी बाहुलताओं को आगे बढ़ा कर भी प्रिया सीता को आलिंगन-पाश में न बाँध पाने के कारण, भग्न-हृदय तथा विनष्ट हुई गाढ़ी नींद वाले (अतएव, प्रभूत वियोगव्यथा से पीड़ित, कोमलकाया वाले राघव, वेदेही की स्मृति में डूबे हुए, शय्या पर सारी रात जागते ही रहते थे ।

प्राणप्रियांप्रियतमां ननु जीववल्लीं सीतांविना विरहिणो निखिलास्त्रियामाः ।
वत्साननेन्दुपरिवीक्षणसिन्धुकल्पश्रीराघवस्य प्रणयोर्मिहता अभूवन् ।।६८।।

जीवनलतिका-सरीखी प्राणप्रिया, प्रियतमा सीता के अभाव में—पुत्रों (कुश एवं लव) के मुखचन्द्र को देखने के लिये उत्कण्ठित सिन्धु-सरीखे विरही श्रीराम की—सारी रातें प्रणयरूपी ऊर्मियों (महातरंगों) से आहत होती रहीं (अर्थात् तरंगाहत सागर की ही भाँति वह निरन्तर अशान्त रहे)

द्वित्राण्येव दिनानि भूरितपने वीतानि सीतापतेः
वैदेहीप्रवियोगकातरतनोर्यद्यप्यदीनात्मनः ।
किन्त्वेवं प्रतिभातमाशु निखिलः कल्पो यथा निर्गतः
दाम्पत्यप्रणयच्युतो नु दयितः सर्वं चिनोत्यद्भुतम् ।।६९।।

आत्मबल से सम्पन्न होते हुए भी, वैदेही के दुस्सह वियोग से कातर (निर्बल) शरीर वाले सीतापति श्रीराम के मात्र दो-तीन दिन ही प्रभूत सन्ताप में बीते । परन्तु उन्हें ऐसा लगा मानो पूरा एक कल्प ही, क्षिप्र-गति से वीत गया ! सचमुच दाम्पत्य-प्रणय के अभाव में नायक को सब कुछ अद्भुत ही प्रतीत होता है !

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं सीताप्रमाणैः कृतम्।
सर्गः पूर्तिमगादयं लवकुशोत्थानाभिधस्तत्र वै
काव्ये जानकिजीवने गणनयाऽप्येकोनविंशोऽधुना ॥७०॥

नूतन घटनाओं तथा नूतन कथा-परम्परा वाला, घनीभूत आनन्दरूपी मरन्द-विन्दुओं के कारण रुचिर, जो मधुवर्षी काव्य देवी सीता की ही अन्तःप्रेरणा से लिखा गया है, जानकीजीवन-नामक उस महाकाव्य में लवकुशोत्थान-संज्ञक, गणना की दृष्टि से यह उन्नीसवाँ सर्ग, अब पूर्णता को प्राप्त हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेवदचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम्।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त ! निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ॥७१॥

महाकवि कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पत्रसमूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं और पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र फल है—अपनी ही नियति से समुद्भूत, अभिराजराजेन्द्ररूपी वह काव्यतरु चिरजीवी बने !!

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
लवकुशोदयसंज्ञकः ऊर्नविंशः सर्गः।

विंशः सर्गः

रामे प्रशासति महीं धनधान्यधर्मा आराधिता उपययुः परमां प्रतिष्ठाम् ।
सौराज्यरञ्जितमनाःप्रकृतिर्नितान्तं लेभे महार्घविभवं मनसाऽप्यचिन्त्यम् ।।१

श्रीराम के पृथ्वी का शासन करते समय धन (व्यापार) धान्य (कृषि) तथा धर्म (सदाचार) तीनों ही (प्रजा द्वारा) आराधित होकर पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए। सौराज्य से अनुरंजित मन वाली कोसल की प्रजा ने, मन के द्वारा भी अचिन्त्य बहुमूल्य वैभव को प्राप्त कर लिया ।

मृत्युं सुतस्य ददृशुर्न जना न नार्यो वैधव्यमीयुरखिलाः पतिधर्मवत्यः ।
नाभूत्कृशानुजलवातभयं प्रजानां नो क्षुद्‌भयं न च बबाध शरीररोगः ।।२।।

लोग (अपने जीवनकाल में) पुत्र की मृत्यु नहीं देखते थे। पातिव्रत-धर्म में अनुरक्त समस्त नारियाँ वैधव्य से मुक्त थीं। प्रजाजनों को अग्नि, जल (बाढ़) तथा बात(आँधी-तूफान)से कोई भय नहीं था। न कहीं भुखमरी थी और न ही शारीरिक रोग-व्याधि !

राष्ट्रं पुरं जनपदो वसतिर्जनानां लुण्ठाकदस्युखलतस्करभीतिशून्यम् ।
सर्वं बभूव धनधान्ययुतं सुवर्षं ह्यातङ्कदैन्यरहितं रघुनाथराज्ये ।।३।।

सम्पूर्ण (भारत) राष्ट्र, नगर, जनपद तथा प्रजाजनों की बस्ती-सबके सब लुटेरों, डाकुओं, गुण्डों तथा चोरों के आतंक से मुक्त थे। रघुनाथ के राज्य में सारा देश धनधान्य से सम्पन्न, आतंक तथा दैन्य से रहित तथा मनोनूकूल वृष्टि वाला बन गया था।

दुर्भिक्षभूच्चलनवातविषूचिकाद्या भावाश्चिराय ममृजुः प्रबभूव धर्मः ।
लोकः प्रहर्षमुदितो नितरां सिषेवेऽप्यामुष्मिकाभ्युदयहेतुमुदारकल्पम् ।।४।।

अकाल, भूकम्प, तूफान तथा महामारी आदि की घटनाएँ चिरकाल के लिये शान्त (समाप्त) हो गई। धर्म का (सर्वत्र) बोलबाला था। अतिशय आह्‌लाद में निमग्न समाज पारलौकिक अभ्युदय (सद्‌गति) प्रदान करने वाले उदार कल्पों (सहज उपायों) का निरन्तर सेवन करता था।

स्वं स्वं नियोगमनुजग्मुरथाप्रमत्ताः सद्भावमङ्गलयुताश्च तुरीयवर्णाः।
सत्यैस्तपोभिरतुलैस्सुमखैश्चदानैः धर्मश्चतुष्पदयुतस्समवाप काष्ठाम् ॥५॥

चारों ही वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) सावधान होकर, पारस्परिक सद्भाव एवं मंगलकामना से युक्त होकर अपने-अपने कर्तव्य का पालन करते थे। फलतः सत्यों, तपश्चर्याओं, अतुलनीय श्रेष्ठ यज्ञों तथा दानों से श्रीमण्डित चारों ही चरणों से युक्त धर्म पराकाष्ठा पर जा पहुँचा।

काले प्रयाति शनकैरिति राघवेन्द्रः सोदर्यमाह भरतं शृणु भो मनस्विन् !
यष्टुं सहानुजवरैर्मखमश्वमेधं सद्वंशकीर्तिनिलयं ननु कामयेऽहम् ॥६॥

इस प्रकार, धीरे-धीरे कुछ और समय बीत जाने पर राघवेन्द्र श्रीराम ने सहोदर कुमार भरत से कहा--मनस्वी भाई! सुनो। मैं अपने तीनों भाइयों के साथ, अपने श्रेष्ठ वंश का यश विस्तारित करने वाला, अश्वमेध यज्ञ सम्पादित करना चाहता हूँ।

तन्मुञ्च लक्षणयुतं हयकृष्णसारं संरक्षणे सुपृतनाऽन्वितलक्ष्मणस्य।
शीघ्रं निमन्त्रय महर्षिवरान् विधिज्ञान्यज्ञक्रियाऽखिलरहस्यविदः समर्च्यान् ॥

इसलिये यज्ञकर्म के समस्त रहस्यों को जानने वाले, विधिवेत्ता तथा समर्चन-योग्य श्रेष्ठ महर्षियों को शीघ्र ही निमंत्रित करो तथा विशाल सेना से अनुगत कुमार लक्ष्मण की देखरेख में श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त एक कृष्णवर्ण अश्व को (दिग्विजय के लिये) मुक्त करो।

क्षिप्रं विभीषणमुपाह्वय राक्षसेन्द्रम् ऋक्षाधिपं कपिपतिं सबलं समित्रम्।
राज्ञोऽखिलान्भरतभूमिसमृद्धराज्यान्अन्यांश्च बाह्यधरणीप्रभुतोपपन्नान् ॥

राक्षसेन्द्र (लंकापति) विभीषण, ऋक्षपति जाम्बवान्, सेना तथा मित्रमण्डली के साथ वानरेन्द्र सुग्रीव को शीघ्र ही बुला लो। भारतभूमि में समृद्ध राज्यों वाले समस्त (मित्र) नरपतियों को तथा भारतेतर राष्ट्रों के भी प्रभुता-सम्पन्न अन्यान्य भूपतियों को आमंत्रित करो।

देशान्तरे प्रवसतस्सकुलं द्विजातीन् ऋत्विग्वरानुपनिमंत्रय सिद्धमंत्रान्।
निर्मापय त्वरितमेव च नैमिषाख्येऽरण्ये विशालपरिधिं पृथुयज्ञवाटम् ॥९॥

देशान्तर में निवास करने वाले सिद्धमंत्र श्रेष्ठ ऋत्विजों तथा नैष्ठिक द्विजातियों को सपरिवार आमंत्रित करो तथा नैमिषारण्य में विशाल परिधि (सीमा) वाले एक विस्तृत यज्ञमण्डप का त्वरितगति से निर्माण कराओ।

गन्धं घृतं चणकमाषकुलित्थमुद्ग व्रीह्यन्नतण्डुलतिलादिविभोज्यजातम् ।
प्राज्यं विधेहि बहुलाश्च सुवर्णकोटीः गोवस्त्रभूषणचयं विपुलप्रमाणम् ।।१०।।

गन्धद्रव्य, घी, चना, उड़द, मूंग, चावल, धान तथा तिलादि समस्त भोज्यान्नों को प्रभूत मात्रा में एकत्र करो। विपुल मात्रा में गाय, वस्त्र तथा भूषण-समूह को, साथ ही साथ करोड़ों सुवर्णमुद्राओं का भी भण्डारण करो।

रक्षापरान् बहुभटान् शतशो निवासान् शैलूषसूतनटगायकवादकादीन् ।
सर्वान् पृथग्गुणयुतान् निवहान् जनानां संस्थापयाशु भरत ! प्रविधानदक्ष !!

प्रबन्धकार्य में दक्ष भैया भरत ! यज्ञभूमि में रक्षा करने वाले अनेक योद्धाओं को नियुक्त करो। सैकड़ों आवासगृहों की तथा शैलूष (बहुरूपिया) सूत (कथावाचक) नट, गायक तथा वादक आदि की व्यवस्था करो। पृथक्-पृथक् गुणों वाले मेहमानों की समस्त टोलियों (के रहने) की वैसी ही व्यवस्था करो।

शत्रुघ्नमानय नतं मधुरापुरीस्थम् अम्बाश्च वीर! परिवासय नैमिषे त्वम् ।
सौमित्रिणाऽप्यनुगतश्च सुमंत्रमुख्यैस्तूर्णं कुरुष्व निखिलं प्रवरैरमात्यैः ।।१२।।

मथुरानगरी में विद्यमान विनम्र भाई शत्रुघ्न को बुलवा लो। हे वीर ! जननियों को भी तुम नैमिषारण्य में अच्छी तरह व्यवस्थित कर दो। सुमंत्र आदि श्रेष्ठ अमात्यों तथा कुमार लक्ष्मण की सहायता से, यह सारा कार्य त्वरित गति से कर डालो।

आज्ञामवाप्य रघुवंशकुवेलभानोः सौहार्दरञ्जितमना भरतो मनस्वी ।
सर्वं चकार दिवसेष्वथ पञ्चषेषु भ्रातुर्मनोऽभिलषितं ननु कृत्यजातम् ।।१३।।

रघुवंशरूपी कुवेल (कमल) के लिये भानुस्वरूप श्रीराघव की आज्ञा पाकर, प्रेम में भींगे हुए मन वाले, मनस्वी कुमार भरत ने पाँच ही छह दिनों में, अग्रज श्रीराम के मनोऽभिलषित समस्त कार्यों को सम्पादित कर डाला।

जाबालिकाश्यपपुलस्त्यवसिष्ठगर्गमौद्गल्यवामनमृकण्डुसुताग्निपुत्राः ।
गाध्यात्मजच्यवननारदपर्वताद्यारामाध्वरे ऋषिवरा प्रवराःसमीयुः ।।१४।।

जाबालि काश्यप, पुलस्त्य, वसिष्ठ, गर्ग, मौद्गल्य, वामन, मार्कण्डेय, अग्नि-पुत्र, गाधिनन्दन विश्वामित्र, च्यवन, नारद तथा पर्वत आदि श्रेष्ठ ऋषिगण श्रीराम के (अश्वमेघ) यज्ञ में पधारे।

लङ्कापतिः कपिपतिश्च युतौ सहायैर्यज्ञे समाययतुरिद्धमहोपहारौ।
सामन्तयूथनिचिता प्रकृतिप्रपूर्णाऽभून्नैमिषी वनधराऽप्यपरा त्वयोध्या ॥१५॥

समृद्ध उत्कृष्ट उपहार-सामग्रियों वाले लंकापति (विभीषण) एवं कपिपति (सुग्रीव) अपने सहायकों के साथ यज्ञ में उपस्थित हुए। सामन्तों के जत्थों से भरी-पुरी तथा प्रकृति-सुषमा से श्रीमण्डित, नैमिषारण्य की वन्य-वसुन्धरा भी एक दूसरी अयोध्या ही बन गई।

देवान् गुरून् ऋषिवरान् जननीः प्रवृद्धान्पौरान्प्रणम्य विनयैरथ रामभद्रः।
सौम्यो विदेहसुतया सह यज्ञवाटे जग्राह दीप्तमनसा यजमानदीक्षाम् ॥१६॥

तदनन्तर, देवताओं, गुरुओं, श्रेष्ठ ऋषियों, जननियों तथा बड़े-बूढ़े नागरिकों को विनयपूर्वक प्रणाम अर्पित कर, सौम्य रामभद्र ने (अर्धाङ्गिनी) विदेहनन्दिनी के साथ, उत्साहित मन से, यज्ञवाट में यजमान के रूप में (यज्ञ की) दीक्षा ली।

दिव्येऽश्वमेधयजने प्रथितेनु तस्मिन् साज्यैस्तिलाक्षतमधूच्चयपायसाद्यैः।
पाटीरगन्धघनसारविमिश्रितैश्च हव्यै रराध विबुधान् रघुजस्ससीतः ॥१७॥

भार्या सीता के साथ श्रीराघव ने उस प्रख्यात एवं दिव्य अश्वमेध यज्ञ में, चन्दन, गन्धद्रव्य तथा कर्पूरमिश्रित, घृत से ओतप्रोत तिल, अक्षत, मधु तथा पायस (पुरोडाश, खीर) आदि हव्य-सामग्रियों द्वारा देवताओं को सन्तृप्त किया।

यज्ञार्पिताज्यनिवहैः प्रवहद्भिरेवं तोयं बभौ घृतमयं ननु धेनुमत्याः।
दानार्थिनामुपरतो ग्रहणाभिलाषो भोजार्थिनाञ्चशशशृङ्गनिभा बुभुक्षा ॥१८

इस प्रकार, उस अश्वमेध-यज्ञ में अर्पित किये गये घृत-समूह से गोमती नदी का जल भी निश्चित रूप से घृतमय हो उठा। दान चाहने वाले याचकों की दान लेने की इच्छा ही मर गई और भोजन चाहने वालों की खाने की इच्छा ही शशशृंग (खरगोश की सींग अर्थात् असंभव) बन गई।

लेभे तदेव विपुलं तदसौ चकांक्ष सौवर्णरत्नरजतं वसनञ्च भोज्यम्।
ओष्ठाद्वचस्यभिहिते ननु याचकानां वाञ्छाऽभ्यपूरि कपिभिश्च विभीषणेन ॥१९

जिसने जो माँगा, उसको विपुलमात्रा में वही वस्तु मिली—सोना, चाँदी रत्न, वस्त्र अथवा भोजन! याचकों के होंठो से याचना-स्वर फूटते ही कपियूथपों तथा लंकापति विभीषण द्वारा उनकी आकांक्षा पूर्ण कर दी गई।

गोवाजिसिन्धुरधराभवनान्नवस्त्रैस्तुष्टा द्विजा निगमपारमिता अवोचन् ।
नो दृष्टपूर्व इह सौम्यमखः पृथिव्यां श्रीराघवेन्द्रसदृशः सततं समृद्धः ।।२०।।

गाय, अश्व, गज, भूमिखण्ड तथा अन्न-वस्त्र (के दान) से परितुष्ट हुए, वेदों के मर्मज्ञ ब्राह्मणों ने कहा—'श्रीराघवेन्द्र के यज्ञ के समान निर्विघ्न एवं समृद्ध श्रेष्ठ यज्ञ हमने इस पृथ्वी पर पहले कभी नहीं देखा !'

संवत्सरं प्रववृते निमिषेऽश्वमेधो वासोधनान्नमणिकाञ्चनरत्नदानैः ।
दत्तोऽपि भूसुरगणाय समृद्धहस्तैर्भूयोऽप्यवर्धत धनं तदहो विचित्रम् ।।२१।।

वस्त्र, धन, अन्न, मणि, काञ्चन एवं रत्नों के दान-सहित वह अश्वमेध, नैमिषवन में, पूरे वर्ष भर चलता रहा । ब्राह्मण-मण्डली को समृद्ध हाथों से (दान) दिये जाने पर भी, धन उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहा—यह, एक विचित्र बात थी !

सौमित्रिमश्वचरणे भरतं ह्यरिघ्नम् आतिथ्यकर्मणि सुकण्ठविभीषणौ च ।
दानार्पणे पवनजं मखविघ्ननाशे सम्यङ् नियोज्य परितोषमगान्नृपेन्द्रः ।।२२।।

सौमित्रि (कुमार लक्ष्मण) को (अश्वमेध यज्ञ के) घोड़े की रक्षा में, कुमार भरत एवं शत्रुघ्न को आतिथ्यकर्म में, सुग्रीव एवं विभीषण को दान-दक्षिणा के अर्पण में तथा पवनपुत्र हनूमान् को यज्ञविघ्नों के अपसारण में, सम्यक् रूप से नियुक्त करके नृपेन्द्र श्रीराम परितुष्ट हुए ।

भ्रान्त्वान्यवर्तत हयो वसुधाधिपेन्द्रैः सम्पूजितो जलधितोयलसत्पृथिव्याम् ।।
दत्वा स्वदेशविभवोचितवस्तुजातं रामं नृपा जगृहिरे स्वकुलाधिराजम् ।।२३।।

श्रेष्ठ भूपतियों द्वारा सम्पूजित यज्ञ का अश्व, सागर-जल तक विस्तीर्ण पृथ्वी-मण्डल में भ्रमण करके (अयोध्या) लौट आया । नरपतियों ने अपने राष्ट्रीय-वैभव के अनुकूल उपहार-सामग्री अर्पित कर, श्रीराम को अपना कुलाधिराज (चक्रवर्ती सम्राट) स्वीकार कर लिया ।

निर्विघ्नमित्थमभिपूर्तिमितेऽश्वमेधे यज्ञावशिष्टसलिलेऽवभृथे पवित्रे ।
रामो विदेहतनयासहितो नु सस्नौ वैतालिकोच्चरितशौर्यविभूतिगीतिः ।।२४।।

इस प्रकार, अश्वमेध यज्ञ के निर्विघ्न पूर्ण हो जाने पर, वैतालिकों द्वारा गाई जाती (अपनी) शौर्यविभूति-गीतियों वाले राघव ने, विदेहनन्दिनी के साथ, यज्ञावशेष पवित्र अवभृथ-संज्ञक जल में स्नान किया ।

उद्गातृहोतृविधियाजिचयं यथेच्छम् अन्यांश्चयज्ञविधिपूर्तिरतान् द्विजाग्र्यान् ।
इच्छाधिकैस्सुविभवैःपरितोष्य रामःसर्वांश्च तान्प्रवयसोऽभ्यनमत् सभार्यः ।।

(यज्ञ के) उद्गाता, होता, ब्रह्मा तथा अध्वर्युवों को, साथ ही साथ, यज्ञ की पूर्ति में निरत अन्यान्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों को भी, उनकी इच्छा से (भी) अधिक श्रेष्ठ वैभवों (दक्षिणाओं) से परितुष्ट करके, भार्यासहित श्रीराम ने उन सब वयोवृद्धों को प्रणाम अर्पित किया ।

रम्यैर्महर्षिनिलयैश्रितपर्णशालैः सामन्तयूथनिलयैश्च दधत्पताकैः ।
शृङ्गाटकापणचतुष्पथवीथिकाभी रम्य वनं पुरमभूत्किल नैमिषाख्यम् ।।२६

पर्णकुटीरों से युक्त महर्षियों के रमणीय आवासों से, फहराती हुई पताकाओं वाले सामन्तों के स्कन्धावारों (खेमों) से तथा शृङ्गाटकों (कटरा) आपणों (दूकानों) चतुष्पथों (चौराहों) एवं वीथिकाओं (गलियों) के कारण वह रमणीय नैमिष-वन, एकदम नगर सा प्रतीत होता था ।

वर्षाजलाऽश्रुविकला घनमुक्तकेशा वात्योत्थधूलिमलिना सरयूतटस्था ।
आवर्षमिद्धविरहा व्रतमङ्गनानां नीराघवा निरवहद् विरहिण्ययोध्या ।।२७।।

वर्षाजलरूपी अश्रुओं से विकल, घनघटारूपी मुक्तकेश वाली, बवण्डर से उठी धूलियों के कारण मलिन, सरयू नदी के तट पर अवस्थित, बढ़े हुए (अपने स्वामी के) वियोग वाली, राघव से विहीन विरहिणी अयोध्या, पूरे वर्ष भर प्रोषितपतिकाओं (वियोगिनियों) के व्रत का निर्वाह करती रही ।

यज्ञक्रियाभिरखिले दिवसे निशायां नानाविधैरभिनयैर्नटनृत्यनृत्तैः ।
पौराणिकाऽमृतकथाभिरथोपदेशैःप्राज्ञर्षिणां न गणितो द्युनिशोःप्रभेदः ।।२८।।

सम्पूर्ण दिवस में यज्ञक्रियाओं से, रात्रिवेला में नाना प्रकार के अभिनयों तथा नटों के नृत्यों एवं नृत्तों से, सूतों की अमृतपगी कथाओं तथा प्रज्ञावान् श्रेष्ठ ऋषियों के प्रवचनों से (उस यज्ञोत्सव में) दिन एवं रात का भेद ही समझ में नहीं आया !

लास्यं क्वचिन्नु सुदृशां करणाङ्गहारमुद्रान्वितं क्वचिदभून्नरताण्डवीयम् ।
नृत्तं क्वचिच्च जनलोकपरम्पराणामाकाशदर्शितमथ क्वचिदिन्द्रजालम् ।।२९

कहीं-कहीं पर सुलोचना नर्तकियों का करण एवं अंगहार की भंगिमाओं से अन्वित लास्य (कोमल नृत्य) होता था तो कहीं नटों का ताण्डव ! कहीं सामान्य लोकपरम्परा का नृत्त (स्वाँग) होता था तो कहीं आकाश में दृष्टिगोचर होने वाला इन्द्रजाल !

इक्ष्वाकुदण्डसगरांशुमतानरण्यशर्यातिमित्रसहचन्द्रभगीरथानाम् ।
मान्धातृसंवरणहस्तिमरुत्सुहोत्रवैन्याजनैषधदिलीपरघुध्रुवाणाम् ॥३०॥

महाराज इक्ष्वाकु, दण्ड, सगर, अंशुमान्, अनरण्य शर्याति, मित्रसह, चन्द्र (हरिश्चन्द्र) भगीरथ, मान्धाता, संवरण, हस्ती, मरुत्, सुहोत्र, वैन्य (पृथु) अज, नैषध (नल) दिलीप, रघु तथा ध्रुव जैसे ।

आश्चर्यविस्मयमयं सरसं सुवृत्तं सूताः क्वचिच्च जगदुर्धरणीपतीनाम् ।
जाता क्वचिन्निगमजा च महर्षिवाटे चर्चा विभिन्नरुचिकाश्रितनव्यबोधा ॥३१

महीपतियों के आश्चर्य एवं विस्मय से भरे सरस उपाख्यानों की प्रस्तुति, कथावाचक सूत, कहीं-कहीं करते थे । और कहीं-कहीं महर्षियों के वाड़े में, विभिन्न रुचियों वाली, नई जानकारी देने वाली निगम-चर्चा चलती रहती थी ।

यज्ञार्थिनो द्विजवरा गृहिणः प्लवङ्गा भूपाः स्त्रियश्च पुरुषा बहुकोटिसंख्याः ।
वर्षावधिन्नु विगतं न मनागबोधन् यज्ञक्रियाहृतहृदो ननु यज्ञवाटे ॥३२॥

यज्ञकार्य में संलग्न श्रेष्ठ ब्राह्मण, गृहस्थ, वानरयूथप, राजे-महराजे, कई करोड़ की संख्या में उपस्थित पुरुष एवं महिलाएँ, उस यज्ञवाट में, अश्वमेध यज्ञ की क्रियाओं में इतने दत्तचित्त हो गये कि व्यतीतप्राय वर्षभर की अवधि का रञ्चमात्र भी बोध नहीं कर सके ।

पूर्णेऽध्वरे कुलगुरुर्मतिमान् वसिष्ठ उत्थाय राघवमवोचदशेषमंत्रम् ।
भो रामभद्र! भुवनाधिपते! नृपेन्द्र! वाचं शृणुष्व मम तावदिमामुदाराम् ॥३३

अश्वमेघ यज्ञ की पूर्णाहुति के अवसर पर, कुलगुरु महाप्राज्ञ ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने उठकर राघव के प्रति जनता-जनार्दन की समवेत शुभाशंसा प्रकट की —'हे रामभद्र ! भुवनाधिपति राजराजेश्वर ! मेरी इस उदार वाणी को भी सुनिये !'

सोऽहं समागतमहर्षिजनानुरोधात् आशीर्वचांसि वितरामि च ते समेषाम् ।
पूर्णोऽश्वमेधसुमखो निरुपद्रवस्ते भूतो न पूर्वमिह नो भविताऽपिनूनम् ॥३४॥

यज्ञवाट में पधारे महर्षि-संघ के अनुरोधवश मैं उन सब का (समवेत) आशीर्वचन आपको वितरित कर रहा हूँ । आपका यह श्रेष्ठ अश्वमेघयज्ञ, बिना किसी उपद्रव के सम्पन्न हुआ । ऐसा यज्ञ, इस भूतल पर न पहले कभी हुआ और निश्चित रूप से न (भविष्य में) होने को है ।

नेन्द्रेण नैव वरुणेन न वा यमेन सम्पादितो रघुपते ! समस्त्वयज्ञः ।
का वा कथा प्रथितभूमिसदां नृपाणां प्राग्वर्तिनां तनुकवैभवशक्तिभाजाम् !!

हे रघुपते ! आपके यज्ञ- जैसा यज्ञ तो न इन्द्र द्वारा, न ही वरुण द्वारा और न यम द्वारा (कभी) सम्पादित किया गया । अल्पमात्र विभुता एवं शक्ति वाले, विख्यात भारतभूमि में समुत्पन्न, प्राचीन नरपतियों की तो बात ही क्या ?

संस्थापितं नु भवता भुवि रामराज्यं लोकानुरञ्जनकरं खलु लोकतन्त्रम् ।
भूपोऽप्यनेहसि भवादृशपूतचर्यो जातो न राघव! वयं प्रचुरं स्मरामः ।।३६

आपने पृथ्वी पर लोकानुरंजनकारी तथा लोकतंत्राश्रित रामराज्य संस्थापित किया है । हे राघव ! हमें भलीभाँति स्मरण है (परन्तु) आप जैसा पवित्र आचरण वाला भूपति भी, इस संसार में आज तक (कोई और) पैदा नहीं हुआ ।

यावद्धरां दधति सप्तकुलाचलेन्द्राः पाथोधयश्च रघुनाथ! भुवि प्रथन्ते ।
तावच्च ते धवलकीर्तिरिहास्ति लोके शोकापहा मनुजसत्पथभावयित्री ।।३७

हे रघुनाथ ! जब तक सातों श्रेष्ठ कुलपर्वत पृथ्वी को धारण किये रहेंगे, चारों समुद्र पृथ्वी पर विद्यमान रहेंगे, तब तक इस लोक में, शोक को विनष्ट करने वाली तथा मानवमात्र के सन्मार्ग की भावयित्री आपकी धवल कीर्ति भी अक्षुण्ण रहेगी ।

वाल्मीकिरत्र सदसि प्रथमः कवीनां सम्प्राप्तधातृवरवन्दितकाव्यशक्तिः ।
सोऽयं रघूत्तम! तवात्मजसूत्रधारो जानाति ते सुचरितं न परेऽनभिज्ञाः ।।३८

हे रघूत्तम ! आपके पुत्रों के विद्यागुरु, चतुर्मुख ब्रह्मा के वरदान से सम्प्राप्त वन्दित काव्यशक्ति वाले (भूलोक के) प्रथम कवीश्वर, इस सभा में विद्यमान श्रद्धेय महर्षि वाल्मीकि ही आपके शोभन चरित के जानकार हैं, उससे अनभिज्ञ अन्य लोग नहीं !

क्रौञ्चं पुरा द्युतटिनीतमसान्तराले व्याधप्रविद्धहृदयं दयितारिरंसुम् ।
क्रौञ्चीममेयकरुणाञ्चितमर्मरावां दृष्ट्वैव शोकनिहतोऽयमभून्नितान्तम् ।।

प्राचीन काल में गंगा एवं तमसा नदियों के मध्यवर्ती वन में—अपनी प्रिया से रमण करने को उत्कण्ठित (परन्तु उसके पूर्व ही) व्याध के शर से बींध दिये गये हृदय वाले क्रौञ्च पक्षी को तथा अपार करुणा से ओतप्रोत मार्मिक क्रन्दन करने वाली (उसकी प्रिया) क्रौञ्ची को देख कर ही वह आमूलचूड शोकसन्तप्त हो उठे थे ।

प्राग्जन्मकर्मनियतः स्थिरभावमेतः श्लोकत्वमस्य रघुनाथ! जगाम शोकः ।
सोऽयं शशाप रभसं खलु तं नृशंसं रुक्षं ह्यभीकवधिकं गलदश्रुनेत्रः ।।४०

हे रघुनाथ ! पूर्वजन्म के संस्कारों से सम्प्राप्त तथा स्थिरभाव को प्राप्त हुआ इनका वह शोक ही, श्लोक बन कर फूट पड़ा। फलतः नेत्रों से झरती अश्रु धारा वाले इन महामहिम ने काममोहित क्रौञ्च के वधिक, उस हृदयहीन नृशंस व्याध को तत्काल शाप दे डाला।

यत्क्रौञ्चमुग्धमिथुनादवधीस्त्वमेकं सम्मोहितं मनसिजेन शरैर्निषाद !
तच्छाश्वतीः किल समा अगमःप्रतिष्ठां मा मैव वागुरिक! पाप! नृशंसकर्मन्!!

हे निषाद ! काम के बाणों से सम्मोहित, क्रौञ्च पक्षियों के जोड़े में से एक (क्रौञ्च) को, जो तूने मार डाला—उस (नृशंस पाप के) कारण निश्चय ही तू अनन्त वर्षों तक प्रतिष्टा (सद्गति) नहीं ही प्राप्त करेगा ! हे बहेलिए ! तू पाप है ! नृशंस-कर्मा है !!

श्लोकं समाक्षरमधीत्य चतुष्पदं तं वाल्मीकिराश्रमगतोऽपि भृशं तताम ।
शोकप्रवृद्धहृदयेन मया किमुक्तं तन्त्रीलयाद्यनुगुणं मुनिरित्यशंसीत् ।।४२।।

समान अक्षरों वाले तथा चार चरणों से युक्त उस श्लोक को गुनते हुए, महर्षि वाल्मीकि अपने आश्रम में पहुँच कर भी अतिशय सन्तत ही रहे। मुनिश्रेष्ठ यही सोचते रहे कि 'शोक से बिंधे हृदय वाले मैने तंत्रीलय आदि के अनुकूल (गेय) यह क्या कह डाला ?'

आलोक्य शोकविधुरं मुनिवर्यमेनं ब्रह्मा स्वयं प्रभुरुपेत्य चतुर्मुखोऽसौ ।
सस्मेरमञ्जुवदनो निजगाद मुग्धो मा गाः शुचं कविवरेण्य! भयं न कार्षीः ।।

मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि को शोकसागर में डूबा देख, प्रभु चतुर्मुख ब्रह्मा स्वयं उनके समक्ष प्रकट हुए तथा मुस्कानयुक्त पवित्र मुख से उन्होंने कहा—'हे कविवरेण्य ! दुख मत मानिये और न ही भयभीत होइये !'

श्लोकस्त्वया समुदितो न परं हि किञ्चिद्वाणी ममैवकृपया ननु ते प्रवृत्ता ।
स त्वं कवे! समुपवर्णय रामगाथां कृत्स्नामुदारचरिताश्रयिणीं प्रपूताम् ।।

आपने (सार्थक) श्लोक (काव्य) का ही उच्चारण किया है, किसी अन्य (निरर्थक) वस्तु (वचनावली) का नहीं ! निश्चित मानिये कि आपकी यह वाणी, मेरी ही कृपा से प्रवृत्त हुई है। इसलिये, हे कविवर्य ! अब आप उदार चरित्र से ओतप्रोत, अतिशय पवित्र रामकथा का साकल्येन वर्णन करें !

सर्वं प्रवक्ष्यति मुने! तव मन्निदेशात् श्वो नारदो रघुपतेश्चरितं पवित्रम् ।
यत्स्यात्तथाऽप्यविदितं विदितंभवेत्ते काव्येभविष्यति न वागनृताऽत्र काचित् ।।

हे मुनिवर्य ! मेरे आदेश से कल (प्रातःकाल) ही देवर्षि नारद, रघुपति के सम्पूर्ण पवित्र चरित्र को, आपके समक्ष वर्णित करेंगे। फिर भी यदि कोई तथ्य अज्ञात छूट गया तो वह आप को (स्वयं मेरी कृपा से) ज्ञात हो जायेगा। इस काव्य में लिखी गई आपकी कोई भी बात झूठी नहीं होगी।

तत् त्वं विधेहि रघुनाथकथामुदारां श्लोकान्वितां हृदयमोदकरीं मनोज्ञाम् ।
स्थास्यन्ति शैलसरितो भुवि यावदूर्ध्वं तावत्कथाऽपिरुचिरा प्रचरिष्यतीयम् ।।

तो फिर आप श्लोकों से अन्वित, हृदयानन्द की सर्जना करने वाली, मनोज्ञ (सुन्दर) एवं उदार रामकथा लिख ही डालें। जब तक इस धराधाम में पर्वत एवं नदियाँ प्रतिष्ठित रहेंगी तब तक यह रोचक रामकथा भी प्रचलित रहेगी।

अन्तर्दधे विधिरिति प्रसभं प्रबोध्य प्रातस्ततो विधिसुतो द्रुतमाजगाम ।
सत्कृत्य तं मुनिरयं रघुनाथ! भक्त्या त्वत्साधुसद्गुणचयं चरितं न्वपृच्छत् ।।

इस प्रकार, महर्षि वाल्मीकि को सान्त्वना देकर भगवान् प्रजापति तत्काल ही अन्तर्धान हो गये। उसके अनन्तर, पौ फूटते ही क्षिप्रगति से, भगवान् प्रजापति के पुत्र (देवर्षि नारद) आ पहुँचे। हे रघुनाथ ! इन मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि ने (तब) भक्तिपूर्वक उनका सत्कार कर, उनसे आपके सौम्य सद्गुण-समूहों तथा चरित (जीवन-क्रम) के विषय में पूछा।

आख्याहि मे त्रिभुवनार्चितपादपद्म ! लोके नु साम्प्रतमिह प्रियदर्शनः कः ?
विद्वान् कृतज्ञ इह चारुचरित्रयुक्तः को वाऽत्मवान्निखिलभूतहिते रतोऽस्ति !!

त्रिभुवन द्वारा समर्चित चरणकमलों वाले हे देवर्षे ! कृपया मुझे बतायें कि इस समय इस पृथ्वीलोक में प्रियदर्शन व्यक्तित्व कौन है ? अथवा कौन पवित्र एवं रमणीय आचरण वाला, विद्वान् कृतज्ञ, आत्मबल-सम्पन्न तथा समस्त प्राणियों के कल्याण में अनुरक्त है ?

सामर्थ्यवीर्यदृढताद्युतियुद्धशौर्यधर्मान्वितश्च विनयी ननु सत्यवाक्यः ।
कस्यामरा अपि च बिभ्यति युद्धरोषात्सुश्रूषुरस्मि भवतो ननु नेतृधुर्यम् ।।

कौन सामर्थ्य, शक्ति दृढ़ता, तेज, युद्धशौर्य तथा धर्म से अन्वित, विनम्र एवं सचमुच सत्यपरायण है ? संघर्ष में जनमे, किसके क्रोध से देवता भी भयभीत हो उठते हैं ? ऐसे श्रेष्ठ लोकनायक के विषय में मैं आपसे सुनने के लिए उत्कण्ठित हूँ !

पृष्टः कवीन्द्रवचनैः रघुनाथ! सर्वान् श्रीनारदस्तव गुणान् स्फुटमाचचक्षे।
पश्चात्स्वयं त्वमभवः पथि चैत्रकूटे वाल्मीकिवन्द्यचरणार्पितभक्तिभावः ॥५०

हे रघुनाथ ! कविपुंगव वाल्मीकि के वचनों से (इस प्रकार) पूछे गये देवर्षि श्रीनारद ने आपके समस्त गुणों की सुस्पष्ट व्याख्या की। कालान्तर में तो चित्रकूट के मार्ग में, आपने स्वयं वाल्मीकि-आश्रम में उपस्थित हो कर उनके वन्दनीय चरणों में अपनी भक्तिभावना समर्पित की।

एवं विबोध्य चरितं तव देवसिद्धात् पश्चात्स्वयं समनुभूय विलोक्य छन्दात्।
ज्ञात्वा परोक्षचरितान्यपि धातृतोषाद्वाल्मीकिरेष कृतवान्स्फुटमादिकाव्यम्॥

इस प्रकार, देवर्षि नारद से आपका जीवनचरित जान-समझ कर तथा बाद में स्वतन्त्र रूप से भी (उसे) देखकर तथा अनुभव कर, ब्रह्मा के वर-प्रभाव से परोक्ष (अनदेखे) चरितों (कार्यों) को भी जानकर, इन महर्षि वाल्मीकि ने प्रत्यक्ष रूप से आदिकाव्य (रामायण) की सर्जना की।

त्वच्चेष्टितानि हसितानि सुचिन्तितानि गूढान्यपि प्रतिभया भवने वने वा।
प्रत्यक्षमेक्ष्य किल मानसचक्षुषैव सोयं लिलेख सुकविःपरिभूःस्वयम्भूः ॥५२

(अयोध्या के) राजभवन में अथवा दण्डकवन में की गई आपकी चेष्टाओं, हास-परिहासों तथा गूढ़ातिगूढ़ चिन्तनों (विचारों) को भी अपनी भावयित्री प्रतिभा तथा मन की आँखों से ही हस्तामलकवत् देखकर, इन स्वयंभू (काव्यसृष्टि के स्रष्टा) परिभू (सर्वसमर्थ) कविवर्य ने (काव्यरूप में) लिख डाला।

काण्डैश्च षड्भिरथ पञ्चशतैश्च सर्गैःश्लोकैश्चतुर्भिरपि विंशतिभिस्सहस्रैः।
कृत्वा रघूत्तम!पुरा त्वदमोघगाथां तद्गायने कुशलवौ प्रयुयोज पश्चात्॥

हे रघुनाथ ! छह काण्डों (बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर एवं युद्ध) पाँच सौ सर्गों तथा चौबीस हजार श्लोकों के प्रमाण से आपकी अमोघ जीवन-कथा को, काव्यरूप में पहले प्रणीत करके, बाद में महर्षि ने कुमार कुश तथा लव को, उसके गायन में नियुक्त किया।

यज्ञान्ते ननु साम्प्रतं कुशलवौ रामायणीं तां कथां
गन्धर्वाविव रूपिणौ स्वरलयस्थानप्रमापारगौ।
तंत्रीवाद्यसमन्वितौ नवरसोद्गाराभिनेये पटू
कूजत्कण्ठमधुस्वरौ तव सुतौ मध्येसभं गास्यतः ॥५४॥

अब इस समय अश्वमेध यज्ञ की पूर्णाहुति के अवसर पर—गन्धर्वकुमारों के समान रूपवान्, संगीतविद्या के स्वर, लय, स्थान (थाट) के मर्मज्ञ, वीणावादन में कुशल, नवरसों की प्रस्तुति से युक्त कथाभिनय में पटु, काकलीभरे कण्ठ के स्वर-माधुर्य वाले—आपके दोनों पुत्र कुश तथा लव, उसी रामायणी कथा को, जनसभा के बीच गायेंगे !

पाठ्ये गेयविधौ च भूरि मधुरं सिद्धं प्रमाणैस्त्रिभिः
मूलं त्रय्युपबृंहणस्य लसितं तंत्रीलयैर्मञ्जुलैः ।
श्रृङ्गारादिरसैर्युतं जनमनोबन्धक्षमं सप्तभि-
र्युक्तं जातिभिरूर्जितं रघुपते ! स्वीयं चरित्रं श्रृणु !!५५।।

हे रघुपते ! अब आप पाठ्य (उच्चारण) एवं गायन-विधि में मधुर, प्रमाण-त्रय (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दप्रमाण) से सिद्ध, वेदत्रयी के मर्मोद्घाटन का स्रोतभूत, वीणा की मञ्जुल लयों से विलसित, श्रृङ्गारादि नवों रसों से युक्त, जनता की मनोवृत्ति को बाँध लेने में समर्थ, सात प्रकार की जातियों (स्वरों) से श्रीमण्डित (गीयमान) अपने चरित्र का श्रवण करें।

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं सीताप्रमाणैः कृतम् ।
सर्गः पूर्तिमितो नु तत्र विमलो विंशोऽश्वमेधाभिधः
काव्ये जानकिजीवने विशदयन् सीतां प्रियार्धाङ्गिनीम् ।।५६।।

नव्य घटनाओं तथा नई कथा-परम्परा वाला, घनीभूत आनन्दरूपी मरन्द-विन्दुओं के कारण रुचिर, जो मधुवर्षी काव्य देवी वैदेही की ही अन्तःप्रेरणा से लिखा गया है उस जानकीजीवन नामक महाकाव्य में, सीता को प्रिय अर्धाङ्गिनी के रूप में निरूपित करने वाला, अश्वमेध-संज्ञक यह बीसवाँ उत्कृष्ट सर्ग पूर्णता को प्राप्त हुआ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलम्
जीव्याद्धन्त ! निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।५७।।

कवीन्द्र कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पर्णसमूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं तथा पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा जिसका पवित्र फल है—अपनी ही नियति से उत्पन्न हुआ, अभिराजराजेन्द्ररूपी वह काव्यवृक्ष चिरंजीवी बने।

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्येऽ
श्वमेधयज्ञसंज्ञको विंशः सर्गः ।

एकविंशः सर्गः

ततः प्रभाते यमजौ कुशीलवौ महर्षिवाल्मीकिपदाम्बुजान्वितौ ।
गुरोर्निदेशाद्रघुनाथगौरवं महासभायां जगतुः सुविश्रुतम् ।।१।।

इसके अनन्तर (अगले) प्रभातकाल में, महर्षि वाल्मीकि के चरणकमलों में समर्पित, जुड़वे गायकों (कुश तथा लव) ने गुरु का आदेश पाकर, महासभा के बीच सुप्रसिद्ध रघुनाथ की यशोगाथा को गाना प्रारम्भ किया ।

रघूत्तमाकारधरौ सुरूपिणौ महार्घबिम्बप्रतिबिम्बसन्निभौ ।
कुवेलनेत्रौ च दधच्छिखण्डकौ विदेहजापुण्यपवित्रसत्फलौ ।।२।।

श्रीराम की आकृति को धारण करने वाले, अतिशय रूप-सम्पन्न, किसी श्रेष्ठ बिम्ब के प्रतिबिम्ब-सदृश, नीलकमल के समान नेत्र वाले, शिखण्डक (जटाजूट) मण्डित देवी सीता के पुण्यों के पवित्र सत्फल जैसे ।

विपञ्चिकादण्डधरौ सुवर्णिनावशेषगान्धर्वरहस्यवेदिनौ ।
लयस्वरस्थानविमूर्च्छनाविदौ मयूरकेकाकलकण्ठनिःस्वनौ ।।३।।

कमनीय वर्ण वाले, सम्पूर्ण गन्धर्वविद्या (संगीतशास्त्र) के मर्मों को समझने वाले, लय (द्रुत-मध्य-मन्द्र) स्वर (षड्ज, ऋषभादि सप्तस्वर) स्थान (थाट) तथा विमूर्च्छना (आरोह-अवरोह) के जानकार, मयूर की केका (पिहक) के समान सुरीले कण्ठवाले तथा वीणादण्ड को हाथ में लिये ।

यशस्विनौ वेदपुराणनिष्ठितौ महर्षिवाल्मीकिकवित्वविग्रहौ ।
विलोक्य तौ चन्द्रमुखौ कुमारकौ स यज्ञवाटो लुलुभेऽतिवत्सलः ।।४।।

वेदों तथा पुराणों (के ज्ञान) में दक्ष, महर्षि वाल्मीकि की कविता के विग्रहभूत उन यशस्वी चन्द्रमुख किशोरों को देखकर अतिशय वात्सल्यभावना से ओतप्रोत, सारा का सारा यज्ञवाट मोहग्रस्त हो उठा ।

प्रणम्य वाल्मीकिमथ स्वगौरवं विदेहजां राघवमात्मसर्जकौ ।
ततो गुरून् पारिषदांश्च तल्लजान् कुमारकौ तौ जगतुः कथामृतम् ।।५।।

तत्पश्चात् (सर्वप्रथम) अपने गौरवभूत महर्षि वाल्मीकि को (तदनन्तर) अपने जन्मदाता—देवी वैदेही एवं राघव को और अन्ततः गुरुजनों (बड़ेबूढ़ों) एवं श्रेष्ठ सभासदों को प्रणाम कर दोनों कुमारों ने (राम) कथामृत का गायन प्रारम्भ किया ।

रामो रामकथाऽमृतमूलम् !
सगरेक्ष्वाकुसुदासभगीरथरघुचरिताम्बुधिकूलम् !!
स्फीतमुदितकोसलजनपदगतनगरी मनोरयोध्या ।
बहुधनधान्यवती सुविशाला नृपदशरथभुजभोग्या ।।६।।

रामकथारूपी अमृत के मूल हैं राम ! वह राम, जो कि (सूर्यवंशी महाराज) सगर, इक्ष्वाकु, सुदास, भगीरथ एवं रघु के (पवित्र) चरित्ररूपी समुद्र के तट-सदृश हैं ! यशस्वी एवं सुखी कोसल साम्राज्य की राजधानी थी—मनु महाराज की अयोध्या ! वह अत्यन्त विशाल थी, प्रभूत धनधान्य से युक्त थी तथा महाराज दशरथ के बाहुबल से सुरक्षित थी ।

द्वादशभिर्योजनैरायता त्रियोजनैर्विस्तीर्णा ।
या सुविभक्तमहापथतोरणवलभीगोपुरकीर्णा ।।७।।

वह पुरी बारह योजन लम्बी तथा तीन योजन चौड़ी थी । सम्यक् रूप से विभक्त किये गये विशाल राजमार्गों, तोरणों, वलभियों (कँगूरों) तथा गोपुरों (प्रवेश-द्वारों) से वह भरी-पुरी थी ।

अतुलप्रभाऽन्तरापणमहिता वरनारीगणरम्या ।
मागधचारणसूतवन्दिता नो कथमपि रिपुगम्या ।।८।।

वह अपार जगमगाहट से भरी, पण्यवीथिकाओं से गौरवान्वित, रूपलावण्य-सम्पन्न महिलाओं के कारण रमणीय, मागधों-चारणों तथा सूतों द्वारा वन्दित और किसी भी प्रकार (आक्रामक) शत्रु के लिये दुष्प्रवेश्य थी ।

वीणापणवमृदङ्गनादिता श्रितविमानगृहशोभा ।
तण्डुलशालिफलेक्षुरसोदकविहितविबुधजनलोभा ।।९।।

वह ऊँची अटारियों से सुशोभित, वीणा-पणव तथा मृदंगों की ध्वनियों से मुखर तथा तण्डुल-शालि-फल-इक्षुरस एवं (स्वादिष्ट मीठे) जल से देवताओं के मन में भी लोभ पैदा करने वाली थी ।

परिखावप्रदुर्गपर्वतगृहकूटागारसुगूढा ।
वारणवाजिवृषभखरकरभकसम्पूर्णाऽतिविरूढा ।।१०।।

वह परिखा (खाई) वप्र (परकोटा) दुर्ग (किला) पर्वतगृह तथा कूटागार (गुप्तगृह) से अत्यन्त रहस्यमय थी। हाथियों, घोड़ों, वृषभों, गधों तथा ऊँटों से भरी-पुरी तथा अत्यन्त समृद्ध थी।

मित्रबलार्जवशौर्यविभवधनधान्ययुतोऽवनिपालः ।
तामतिरथो ररक्ष दशरथो जितेन्द्रियो रिपुकालः ।।११।।

मित्रों, सेनाओं, आर्जव, शौर्य, वैभव तथा धनधान्य से सम्पन्न, शत्रुओं के लिये (साक्षात्) काल के समान, जितेन्द्रिय एवं महारथी राजा दशरथ उसकी रक्षा करते थे।

नो नास्तिको नानृती कामी नाविद्वान्न कदर्यः ।
नाषडङ्गविन्नैव नृशंसो न व्यथितोऽत्र विगर्ह्यः ।।१२।।

उस पुरी में कोई नास्तिक (वेदनिन्दक) नहीं था। कोई असत्यभाषी अथवा लम्पट नहीं था। कोई मूर्ख एवं कायर नहीं था। कोई ऐसा नहीं था जो छहों वेदांगों का मर्मज्ञ न हो। कोई नृशंस, पीड़ित अथवा कलंकित भी नहीं था।

कुण्डलमुकुटसुगन्धमाल्यचयहस्ताभरणविहीनः ।
नायज्वा तस्करो न कृपणो नासंयतो न दीनः ।।१३।।

उस पुरी में कोई कुण्डल, मुकुट, सुगन्धित माल्यसमूह तथा हस्ताभरण (कंकण एवं मुद्रिका आदि) से भी विहीन नहीं था। कोई दरिद्र, उच्छृङ्खल, कृपण (कंजूस) तस्कर अथवा अयज्वा (यज्ञ न करने वाला) नहीं था।

वर्णाश्रमपालिता पुरी सा विविधाध्वरपरिपूता ।
अमरावतीव वैभवमहिता ऋषिमुनितीर्थपरीता ।।१४।।

वर्णाश्रम-धर्म से श्रीमण्डित, नाना प्रकार के (दर्श-पौर्णमास, वाजपेय, सोमयागादि) यज्ञों से पवित्रित तथा ऋषियों-मुनियों एवं तीर्थों (विद्वज्जनों) से भरीपुरी वह पुरी (देवनगरी) अमरावती के समान वैभवमण्डित थी।

धृष्टिसुराष्ट्रराष्ट्रवर्धनका विजयजयन्तसुमन्त्राः ।
अष्टौ धर्मपालकाकोपौ सदमात्या धृतमन्त्राः ॥१५॥

उस पुरी में धृष्टि, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, विजय, जयन्त, धर्मपाल, अकोप तथा सुमंत्र—ये आठ मंत्रिमण्डल के सदस्य (अमात्य) थे जो कि रहस्य-रक्षण में दक्ष थे ।

वामदेवकात्यायनकाश्यपगौतममार्कण्डेयाः ।
तस्य वसिष्ठजबालिसुयज्ञा ननु ऋत्विजो वरेण्याः ॥१६॥

उन अयोध्यानरेश दशरथ के वरेण्य ऋत्विज (यज्ञ कराने वाले) थे—वामदेव, कात्यायन, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, जाबालि, सुयज्ञ तथा ब्रह्मर्षि वसिष्ठ !

शौर्यपराक्रमजितजगतः खलु तिस्रस्तस्य महिष्यः ।
कौसल्याकैकयीसुमित्रा रूपशीलगुणवत्यः ॥१७॥

शौर्य एवं पराक्रम से (समस्त) भूमण्डल को जीत लेने वाले उन राजा दशरथ की—रूप, गुण एवं शील से युक्त—तीन पटरानियाँ थीं—कौसल्या कैकयी तथा सुमित्रा ।

सन्ततिविधुशीतातपविरहितगगनजीवितो दीनः ।
प्राप्ततुरीयवया अवनीशो गुरुपदपङ्कजलीनः ॥१८॥

सन्ततिरूपी चन्द्रमा की शिशिर चन्द्रिका से विरहित आकाशरूपी जीवन वाले, तुरीयावस्था (वार्द्धक्य) को प्राप्त, असहाय अयोध्यानरेश (पुत्र की कामना से) गुरु वसिष्ठ के चरणकमलों में गिर पड़े ।

जातदयोऽभ्युदयाय दयालुस्तस्याऽयतत वसिष्ठः ।
ऋष्यशृङ्गमामन्त्र्य पुत्रमखमयोयजन्नृपनिष्ठः ॥१९॥

(महाराज दशरथ की विवशता देख कर) स्वभावतः दयालु स्वभाव वाले ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने, दया उत्पन्न हो जाने के कारण, उनके अभ्युदय के लिये यत्न किया। राजा दशरथ के प्रति निष्ठावान् गुरु ने महर्षि ऋष्यशृङ्ग को बुला कर, पुत्रेष्टि यज्ञ सम्पन्न कराया ।

उद्दालकगङ्गातटविरचितसुतमखकुण्डसमुत्थः ।
चारुचरुं व्यतरन्महिषीभ्यः स्वयमग्निः परितुष्टः ।।२०।।

औद्दालकी गंगा के (मनोरमा नदी) तट पर निर्मित किये गये पुत्रेष्टि यज्ञकुण्ड से, परितुष्ट हुए अग्निदेव स्वयं प्रकट हुए तथा राजमहिषियों को (सन्तति प्रदान करने में समर्थ) दिव्य चरु (पायस) प्रदान किया ।

मध्याह्ने सुतिथौ च नवम्यां चैत्रमाससितपक्षे ।
चत्वारस्तनयास्सञ्जाताः कोसलभूपतिकक्षे ।।२१।।

(उस चरु के प्रभाव से) चैत्र मास के शुक्लपक्ष की रमणीय नवमी तिथि को, मध्याह्न-वेला में, कोसलनरेश के राज-भवन में चार पुत्र उत्पन्न हुए ।

भरतमसूत कैकयी पश्चात् कौसल्याऽदौ रामम् ।
लक्ष्मणशत्रुघ्नौ च सुमित्रा यमजद्वयमभिरामम् ।।२२।।

सर्वप्रथम रानी कौसल्या ने राम को, तत्पश्चात् कैकयी ने भरत को जन्म दिया । तदनन्तर सुमित्रा ने मनोहर जुड़वे पुत्रों—लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न को उत्पन्न किया ।

तनयजननपुलकिततनुरधिपो हृतसमग्रसन्तापः ।
ननु बभूव शरदम्बरशुभ्रोऽञ्चिततारकोऽवदातः ।।२३।।

पुत्रों के जन्म से पुलकित शरीर वाले तथा समग्र सन्तापों (वेदनाओं) से मुक्त महाराज दशरथ, नक्षत्रमण्डित शरत्कालीन आकाश के समान निर्मल एवं देदीप्यमान हो उठे ।

सखि ! भालय कोसलभूपगृहम् !
नृपसूनुचतुष्टयमोदमयं सततामृतनिर्झरशैत्यवहम् !!
पुरुषार्थचतुष्टयरूपधराः सदुपायचतुष्टयरूपधराः ।
बध्नन्ति दृशं हृदयेन शपे ननु भूपसुता नवकेलिपराः ।।२४।।

अरी सखि ! कोसलनरेश की अँगनाई तो देख, जो कि चार राजपुत्रों के जन्म से मंगलमय हो उठी है तथा अनवरत (बहते) अमृतनिर्झर की शीतलता से ओतप्रोत है ! हृदय की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के साकार विग्रह तथा श्रेष्ठ उपाय-चतुष्टय (साम, दान, दण्ड, भेद) के रूप वाले, नये-नये खेल-खिलवाड़ करने वाले चारों राजपुत्र, सचमुच दृष्टि को बाँध लेते हैं !

नटितं वलितं लपितं स्खलितं हसितं क्वचिदालयगोपितकम् ।
शशिबिम्बकरग्रहणाऽयतितं ह्यपराधभयेन निगूहितकम् ।।२५।।

(उन बच्चों का) नटना, मुड़ना (तोतली वाणी में) बतियाना, लड़खड़ाना, हँसना, कहीं घर में खो जाना, चन्द्रबिम्ब को हाथों से पकड़ने का प्रयत्न करना तथा अपराध के भय से भलीभाँति (कहीं) छिप जाना ।

क्वचिदात्मरुचिध्वनितं निभृतंक्वचिदात्मविनोदसमुच्छलितम् ।
किमहो न मनोहरणं रुचिरं नृपगेहभुवामिदमाचरितम् ।।२६।।

कहीं अपनी रुचि के अनुसार चीखना-चिल्लाना, कहीं अपने मनबहलाव के लिये उछलना-कूदना! आह सखि ! राजा(दशरथ) के घर में जनमे बच्चों का वह कौन सा कार्य है, जो सुन्दर और मन को चुरा लेने वाला न हो ?

नवनीरबलाहकनीलतनुः सखि ! कोऽपि च शारदचन्द्रविभः ।
परिधावति वेश्मनि वातरयो ननु कोऽपि विपश्याति हंसनिभः ।।२७।।

सखि ! (उन चारों में) कोई तो नूतन सजल जलधर के समान श्यामल गात है (अर्थात् राम) और कोई शरच्चन्द्र के समान (गौरवर्ण, अर्थात् लक्ष्मण) राजभवन मे कोई वायु के वेग से दौड़ता है तो कोई राजहंस के समान बस 'टुकुर-टुकुर' देखता भर रहता है !

अतियाति नवो विगताऽनुभवं शिशुवृद्धिविलोकनसाक्ष्यमयम् ।
क्षमते सखि!कोऽतिजवं जगति प्रवरोऽप्यवरोद्धुमिमं समयम् !!२८!!

उन बच्चों की शरीरवृद्धि को देखते हुए तो प्रत्येक नया अनुभव पुराने को पीछे छोड़ देता है । सखि ! अत्यन्त क्षिप्रगति वाले समय को रोक पाने में भला कौन श्रेष्ठ व्यक्ति, इस संसार में समर्थ हुआ है ?

विविधबालकौतुकपरिवर्धितमुदितहृदयपरिवाराः ।
समये याति विकासमुपययुः कोसलभूपकुमाराः ।।२९।।

(अपनी) नानाविध बाललीलाओं से मुदितहृदय कुटुम्बियों को परितोष देने वाले, कोसलनरेश दशरथ के चारों कुमार, समय बीतते, विकास को प्राप्त हो गये !

राक्षसविघ्नविपन्नमखाध्वरखिन्नमना निरुपायः ।
रामपराक्रमकीर्तिकथाश्रुतिसम्भावितसदुपायः ॥३०॥

राक्षसों के विघ्नों से संकटापन्न मखों एवं अध्वरों के कारण खिन्नहृदय निरुपाय तथा राम के पराक्रम की यशोगाथा सुनकर (राक्षसविनाश के) समुचित स्रोत की सम्भावना करने वाले ।

दशरथमेत्य सुतौ प्रययाचे लक्ष्मणसङ्गतरामम् ।
कुशिकनन्दनो विश्वामित्रो रघुनन्दनमभिरामम् ॥३१॥

कुशिकनन्दन महर्षि विश्वामित्र ने (महाराज) दशरथ के पास पहुँच कर दोनों पुत्रों की याचना की—लक्ष्मणसहित श्रीराम, जो कि रमणीय रघुवंशज थे !

मोहपरीतमना नरनाथो विगलदश्रुसम्भिन्नः ।
प्रददे सुतौ तौ नुतौ सुमतौ हृदयाभिमतौ खिन्नः ॥३२॥

पुत्रमोह से संकीर्ण मन वाले (अतएव) बहते आँसुओं से भींगे हुए खिन्न भूपति ने अत्यन्त प्रिय, हृदयाभिमत उन दोनों प्रशंसनीय पुत्रों को (यथाकथंचित्) समर्पित किया ।

पथि गौतमगृहिणीश्रितचरणः शमितकुशिकसुतशल्यः ।
निहतसुबाहुताटको रामश्शुशुभेऽसौ सुततुल्यः ॥३३॥

मार्ग में महर्षि गौतम की भार्या (अहल्या) द्वारा वन्दित चरण वाले तथा सुबाहु-ताटका का बध करके महर्षि विश्वामित्र के शल्य को शान्त कर देने वाले श्रीराम महर्षि के पुत्र के समान ही शोभायमान हुए ।

तदनु विरञ्चिकृशाश्वकुशिकसुतदिव्यायुधविज्ञानम् ।
गुरुकृपयाऽशिक्षतां राघवौ बलाऽबलेत्यभिधानम् ॥३४॥

उसके अनन्तर, राम एवं लक्ष्मण ने गुरु (विश्वामित्र) की कृपा से 'बलाऽबला' नामक उस दिव्य आयुध-विज्ञान को प्राप्त किया जो कि भगवान् ब्रह्मा से महर्षि कृशाश्व को और उनसे विश्वामित्र को प्राप्त हुआ था ।

शाम्भवचापविभञ्जनसङ्गतजनकसुतोऽञ्चितकायः ।
अधिमिथिलं रञ्जितपुरजनपदनरनारीसमवायः ।।३५।।

भगवान् शिव के 'पिनाक' नामक धनुष को तोड़ने के कारण जनकनन्दिनी सीता से जुड़े (विवाहित) तथा मिथिला प्रदेश में, नगर एवं जनपद के नर-नारियों को अनुरंजित कर, राम का व्यक्तित्व उद्दीप्त हो उठा।

जनकनिमंत्रितभूपतिदशरथ आगतवान् सकुटुम्बम् ।
परिणिनाय मिथिलेशसुताभिस्सपदि तनयनिकुरम्बम् ।।३६।।

(मिथिलानरेश) जनक द्वारा निमंत्रित महाराज दशरथ तब कुटुम्बसहित मिथिला पधारे और अपने चारों पुत्रों का, मिथिलेश की कन्याओं के साथ विवाह किया।

श्रुतकीर्ति माण्डवीमूर्मिलां व्यूहुस्ततः क्रमेण ।
शत्रुघ्नः कैकयीनन्दनः सौमित्रिश्च करेण ।।६७।।

तदनन्तर, श्रुतकीर्ति, माण्डवी तथा उर्मिला के साथ क्रमशः शत्रुघ्न, कैकयी नन्दन (भरत) तथा सौमित्रि (लक्ष्मण) ने पाणिग्रहण किया।

रूपशीलगुणविनयविभूतिं स्वयंवृतां कनकाङ्गीम् ।
सीतां तामुदुवाह रघुपतिः श्रीरामोऽपि नताङ्गीम् ।।३८।।

श्रीराम ने भी रूप, गुण, शील एवं विनम्रता की मूर्ति, तपे कञ्चन के समान वर्ण वाली, अवनत अंगों वाली (धनुष तोड़ कर) स्वयंवृता यशस्विनी सीता को (विधिवत्) वरण किया।

विविधभोज्यफलरसभूषणकृतसततनवनवातिथ्यः ।
अधिमिथिलं मासान्तमनैषीन्नृपदशरथोऽथ विज्ञः ।।३९।।

नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों, फलों, रसों, तथा वस्त्राभूषणों से दिन-प्रति-दिन की गई नूतन पहुनाई वाले, विज्ञ महाराज दशरथ ने मिथिला में एक महीने का समय बिता दिया!

तनयैस्तनयवधूभिस्सार्धं ततः पुरीमुपयातः ।
जनकार्पितरथवाजिसमदगजमणिसुवर्णसंघातः ॥४०॥

इसके अनन्तर, पुत्रों तथा पुत्रवधुओं के साथ वह, महाराज जनक द्वारा (दहेज में) दिये गये रथ, अश्व, मदमत्त गज तथा मणि-सुवर्ण की राशि के साथ, अयोध्यापुरी लौटे ।

कौतुकमङ्गलमोदमहोत्सवसिन्धुसन्तरणसौख्या ।
अलभत चिरकांक्षितसौभाग्यं रघुभूभुजामयोध्या ॥४१॥

कौतुक, मंगल, उछाह तथा महोत्सवरूपी सागर में सन्तरण का सुख प्राप्त करने वाली, रघुवंशी नरपतियों की (राजधानी) अयोध्या ने चिरकाँक्षित सौभाग्य प्राप्त किया ।

द्वादशसमा व्यतीयुश्शनकैः सुखसमृद्धिरसतृप्तः ।
कोसलपतिरियेष रघुवीरं ह्यभिषेक्तुं यतचित्तः ॥४२॥

धीरे-धीरे बारह वर्ष बीत गए । सुख एवं समृद्धि के रस से तृप्त हुए, नियन्त्रित मन वाले कोसलेन्द्र (दशरथ) ने श्रीराम को (युवराजपद पर) अभिषिक्त करना चाहा ।

मन्थरया श्रन्थितसुविवेका किन्तु भरतजनयित्री ।
प्रत्यवायभूता ननु भूता दुर्भाग्यप्रसवित्री ॥४३॥

परन्तु दासी मंथरा द्वारा श्रंथित (शिथिलीकृत) विवेक वाली तथा दुर्भाग्य को जन्म देने वाली कुमार भरत की माँ (रानी कैकयी) इस शुभकार्य में बाधक बन गई ।

राज्यं सा भरताय ययाचे कोसलराज्यनिवासम् ।
रघुपतये द्वादशवर्षाणां दूरविजनवनवासम् ॥४४॥

उसने (अपने पुत्र) भरत के लिये तो कोसलराज्य में निवास तथा शासन(का अधिकार) माँगा और राम के लिये, बारह वर्षों का दूरवर्ती, जनशून्य वनवास !

अंगीकृतपितृवचनरघुपतिः सोदरप्रियासमेतः ।
मुदितमनाः काननं प्रतस्थे सोऽवाच्यामनिकेतः ।।४५।।

पिता के वचनों को स्वीकार कर प्रसन्नचित्त राघव प्रिया (सीता) एवं सोदर (लक्ष्मण) सहित, अयोध्यापुरी को छोड़कर, दक्षिणदिशा में वन की ओर चल पड़े !

नय मामपि राम ! सहैव वनम् !
वरमद्य निकृन्त करेण गलं त्यज किन्तु न हीनबलं स्वजनम् !!
इति भूरिवचोऽन्वितनेत्रयुगप्रसरज्जलसन्ततिसिक्ततनुः ।
करुणं विलपन् रघुनाथकृते निपपात पथि प्रविभक्तहनुः ।।४६।।

(श्रीराघव को वन जाता देख अयोध्या की प्रजा कहने लगी) 'हे राघव ! हमें भी, अपने ही साथ वन को ले चलिये ! अच्छा हो कि अपने हाथ से आप हम लोगों का गला काट दें, परन्तु असहाय स्वजनों को त्यागिये नहीं !' इस प्रकार, नाना प्रकार के विलाप-वचनों के साथ ही, दोनों नेत्रों से बहती अश्रुधारा से भीगी शरीर वाला कोई पुरवासी (वनवासी) राम के लिये करुण विलाप करता, मार्ग में ही गिर पड़ा और उसकी चिबुक (दाढ़ी) विथुर गई !

जगृहे रथदण्डममेयबलो भुवि कोऽपि च पौरजनश्शयितः ।
न मुमोच रथाश्वखलीनचयं करबद्धनिवेदनमन्य इतः ।।४७।।

अपरिमेय बल वाले किसी पौरजन ने (राघव के) रथ का डण्डा पकड़ लिया और कोई रथ के मार्ग में ही लेट गया । हाथ जोड़कर अरदास करते हुए किसी अन्य पुरवासी ने रथ के घोड़ों की रासों को ही मुक्त नहीं किया (पकड़े रहा)

नगरी च निरात्मशरीरनिभा सरयू च वहद्रुधिरा सततम् ।
रघुनाथ ! विना भवता भवताद् भवतापविमोचनमद्य कथम् !!४८!!

(कोई कहने लगा—) हे रघुनाथ ! आपके अभाव में तो यह अयोध्यापुरी आत्महीन शरीर के समान है । सरयू नदी भी निरन्तर प्रवहमान रुधिर वाली प्रतीत होती है । अब हमारे भवताप (सांसारिक दुखों) का विमोचन (आपके बिना) कैसे हो ?

फलमूललताद्रुनिपाननदीनदभूधरसिंहमृगाक्तवनम् ।
अभिराम! निवत्स्यति यत्र भवान् भविता नु तदेव सुरायतनम् ।।४९।।

हे अभिराम ! आप जहाँ भी निवास करेंगे वही स्वर्गलोक बन जायेगा । चाहे वह फल, कन्दमूल, लता, वृक्ष, सरोवर, नदी, नद, पर्वत, सिंह एवं मृग से भरापुरा वन ही क्यों न हो !

इति कातरपौरजनाः करुणं विलपन्त उपेत्य सृतिं निहताः ।
रघुनन्दनमन्वयुरार्तिभरप्रविलीनधियोऽर्दितगात्रयुताः ॥५०॥

करुणा-कातर अयोध्यावासी इस प्रकार विलाप करते हुए, यात्रापथ में पहुँच कर, मरे-मरे से राघव का अनुसरण करने लगे । व्यथित शरीर वाले उन पुरवासियों की चिन्तनशक्ति ही वेदना के भार से विनष्ट हो चुकी थी ।

उपतमसं व्यपहाय सनिद्रं व्यथितपौरजनवृन्दम् ।
निभृतं ययौ रथस्थो रामो निरुपायोऽमतनिन्दम् ॥५१॥

तमसा नदी के तटपर, नींद में पड़े व्यथित पुरवासियों के जत्थे को छोड़ कर, विवश राम, चुपचाप रथ पर बैठ कर, बिना निन्दा की परवाह किये, आगे बढ़ गये ।

शृङ्गवेरपुरमेत्य सुरनदीं गुहकृपया स ततार ।
यामुनगाङ्गसमन्वयतीर्थं तीर्थपतिं प्रससार ॥५२॥

शृङ्गवेरपुर पहुँच कर, निषादराज गुह की सहायता से उन्होंने सुरनदी (गङ्गा) को पार किया तथा गंगा-यमुना की संगम तीर्थ-भूमि, तीर्थपति प्रयाग पहुँचे ।

कृतजाह्नव्यभिषेकराघवो भरद्वाजपदलीनः ।
कालिन्दीमवतीर्यं सङ्गतश्चित्रकूटमविलीनः ॥५३॥

जाह्नवी में स्नान कर राघव ने महर्षि भरद्वाज के चरणों में वन्दना प्रस्तुत की और कालिन्दी को पार कर, सोत्साह चित्रकूट जा पहुँचे ।

कृतवाल्मीकिचरणपरिचर्यः श्रितकामदगिरिवासः ।
कोलकिरातपुलिन्दशबरजनमधुरीकृतप्रवासः ॥५४॥

वहाँ महर्षि वाल्मीकि के चरणों का समर्चन कर, निवासार्थ उन्होंने कामद गिरि का आश्रय लिया । कोल, किरात, पुलिन्द, तथा शबरजातीय वनवासियों की संगति ने उनके प्रवास को मधुर बना दिया ।

परिसान्त्वितनिर्यातनकातरसोदरभरतसमाजः।
जनकनिधनहतहृदयराघवः प्रशमितदैन्यविषादः ॥५५॥

(अयोध्या) लौटा ले जाने के लिये कातर भाई भरत एवं अयोध्या के समाज को समझा-बुझा कर, पिताश्री की मृत्यु (के समाचार) से आहत हृदय वाले राघव ने यथाकथंचित् अपने दैन्य एवं विषाद पर विजय पाई।

अत्र्याश्रममुपगम्य सभार्यः ससहोदरः प्रवासी।
दनुजविदलनार्थं प्रतिजज्ञे मुनिजनचरणनिवासी ॥५६॥

पत्नी (सीता) एवं भाई (लक्ष्मण) के साथ महर्षि अत्रि के आश्रम में पहुँच कर, मुनिजनों के चरणों (की सेवा) में निरत, प्रवासी राम ने राक्षसों के विनाशार्थ प्रतिज्ञा की।

आरराध च निहत्य विराधं यतिगणहृदयमुदारः।
सुखमुवास चर्चितनिगमागमशास्त्रधर्मचयसारः ॥५७॥

उदार राघव ने (आततायी) विराध को मार कर तपस्वीजनों के हृदयों को अनुरंजित किया और (उनके साथ) निगम-आगम-शास्त्र एवं धर्मतत्त्व की चर्चा करते हुए, सुखपूर्वक रहने लगे।

अतिपरिचयसञ्जातगृहजनोचितसम्मोहनबन्धः।
दण्डकवने विवेश मनस्वी सहकृततापससंघः ॥५८॥

अत्यन्त (अन्तरङ्ग) परिचयवश, गृहजनोचित मोहबन्धन उत्पन्न हो जाने के कारण, मनस्वी श्रीराम ने, तापस-संघ के साथ, दण्डकारण्य में प्रवेश किया।

दिवसं क्वचित्क्वचित्सप्ताहं पक्षं क्वचिदधिमासम्।
विविधाश्रमे ऋषीणां विदधे रघुपतिरत्र निवासम् ॥५९॥

उस दण्डकवन में ऋषियों के पृथक् आश्रमों में रघुपति ने निवास किया— कहीं दिन भर, कहीं सप्ताह भर, कहीं पखवारे भर और कहीं महीने भर!

रुचिरपुराणकथाऽमृतवर्धितकौतुकमनोऽनुरागः ।
अवधौ दशवर्षाणां विगते नान्वभवद् रघुनाथः ।।६०।।

रोचक पौराणिक कथाओं (के श्रवण) से संवर्धित उत्कण्ठा एवं मनोऽनुराग वाले रघुनाथ ने, दश वर्षों की अवधि बीत जाने पर भी, कालप्रवाह का अनुभव नहीं किया ।

ततस्सुतीक्ष्णाश्रममुपयातः कृतमुनिचरणसपर्यः ।
तन्निर्दिष्टपथेन राघवो द्रुतमुपययौ सुचर्यः ।।६१।।

तदनन्तर महामुनि सुतीक्ष्ण के आश्रम में पहुँच कर, मुनि-चरणों की समर्चना सम्पन्न कर, श्रेष्ठ आचरण वाले राघव, उन्हीं द्वारा निर्दिष्ट किये गये मार्ग से, वेगपूर्वक आगे बढ़े ।

गोदावर्यनुतटघटजाश्रममेत्य विभूतिसमृद्धम् ।
पर्यपूपुजदगस्त्यपदाम्बुजमात्महिताय समृद्धम् ।।६२।।

गोदावरी नदी के तट पर अवस्थित, महर्षि अगस्त्य के वैभव-समृद्ध आश्रम में पहुँच कर, अपने कल्याणार्थ उन्होंने महर्षि के चरण-कमलों की पूजा सम्पन्न की ।

प्राप्य ततः पैतामहास्त्रमपि संकल्पितदनुजान्तः ।
पञ्चवटीमासाद्य मनोज्ञामवसत्तत्र च शान्तः ।।६३।।

तदनन्तर महर्षि अगस्त्य से 'पैतामहास्त्र' प्राप्त कर तथा राक्षसों के विनाश का संकल्प कर, मनोरम पञ्चवटी में पहुँच, वह शान्तभाव से वहीं रहने लगे ।

बकुलनीपकदलीपरिवेष्टितपर्णकुटीरनिवासी ।
कन्दमूलफलगिरिनिर्झरजलवनतृणधान्यचयाशी ।।६४।।

वह बकुल (मौलसिरी) नीप (अशोक) तथा कदली वृक्षों से घिरे पर्णकुटीर में निवास करते थे तथा कन्दमूल, फल, पर्वतीय झरनों का जल, वन में (स्वतः) उगे शाक एवं अन्नसमूह का भक्षण करते थे ।

विनतसहोदरसंवाहितपदपङ्कजयुगलकिशोरः ।
वैदेहीशरदिन्दुकान्तमुखदर्शनचटुलचकोरः ॥६५॥

विनम्र सहोदर (लक्ष्मण) किशोर (युवा) राघव के चरणकमल-युगल का संवाहन करते थे और स्वयं राघव, वैदेही के शरच्चन्द्र सरीखे सुन्दर मुख को, चंचल चकोर की तरह निहारते रहते थे।

ससुखमुवास जनस्थाने खलु रघुनाथोऽक्षतकायः ।
गोदावारिशिशिरमधुमारुतहृतपरितापनिकायः ॥६६॥

गोदावरी (के जल) से शीतल, कोमल पवन द्वारा दूर किये गये समस्त सन्ताप वाले, अक्षत-शरीर श्रीराम, उस जनस्थान में सुखपूर्वक निवास करते रहे।

शिरसि निधाय दशास्यनिदेशं दण्डकवनाधिराज्यम् ।
तत्प्रशशास खरोऽतिनृशंसो मत्वा निजसौभाग्यम् ॥६७॥

दशास्य (लंकापति रावण) के आदेश को शिरोधार्य कर, अत्यन्त नृशंस खर, अपना सौभाग्य मान कर (उस समय) दण्डकवन के भूक्षेत्र का शासन कर रहा था।

तत्र कदाचिद् दशमुखभगिनी शूर्पणखा स्मरकामा ।
दिव्यतनुं रघुपतिमुपयाता रमणीवेषललामा ॥६८॥

कभी, उसी दण्डकारण्य में रावण की बहन शूर्पणखा, काम के वशीभूत हुई, ललाम रमणी-वेष में, दिव्य व्यक्तित्व वाले रघुपति के पास पहुँची !

भुवनविमोहन! मनसिजसुन्दर! कमलनयन! छविसिन्धो!
कोऽसि कुतोऽसि वने कुरुषे किं स्वीकुरु मां रतिबन्धो!!६९!!

(उसने राघव से कहा—) हे भुवनविमोहन ! कमल-नयन ! कामदेव के समान रूपवान् ! हे छविसिन्धो ! आप कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? इस वन में क्या कर रहे हैं ? सुरतव्यापार में सहायक आप मुझे स्वीकार करें !

लङ्कापतिदशवदनसोदरी शूर्पणखाऽहमुदारा ।
त्वां दृष्ट्वैव विद्धहृदयाऽहं त्यक्तनिखिलपरिवारा ॥७०॥

मैं लंकापति दशास्य की उदार भगिनी शूर्पणखा हूँ। आपको देख कर रही मेरा हृदय कामविद्ध हो उठा है। आपके लिये मैंने (मन ही मन) समूचे परिवार को त्याग दिया है।

मायाशक्तिबहलनिपुणाऽहं तव पदपङ्कजदासी ।
त्वां सुखयामि नरोत्तम! विभवैर्भव यौवनसुविलासी ॥७१॥

मैं माया-शक्ति में बहुत निपुण हूँ, आपके चरण-कमलों की दासी हूँ। हे नरोत्तम ! मैं आपको (अनेक) ऐश्वर्यों से आनन्दित करूँगी। आप मेरे यौवन का उपभोग करें।

इत्यनियंत्रितवाचमवोचच्छूर्पणखां रघुनाथः ।
रामोऽहं कोसलनृपतनयः पितृवचनादिह यातः ॥७२॥

इस प्रकार, अनियंत्रित (उच्छृङ्खलताभरी) वाणी वाली शूर्पणखा से रघुनाथ ने कहा—मैं कोसलनरेश दशरथ का पुत्र 'राम' हूँ और पिताश्री का आदेश मान कर यहाँ आया हूँ।

कामिनि! कृतदारोऽहमयोग्यस्तव निजदयिताऽसक्तः ।
गच्छ सहोदरमम्बुजनयनं स भवेन्ननु तव भक्तः ॥७३॥

हे कामिनी ! भार्यायुक्त मैं तुम्हारे (सर्वथा) अयोग्य हूँ क्योंकि मैं अपनी पत्नीमात्र में अनुरक्त हूँ। हाँ, तुम मेरे कमल-नयन भाई (लक्ष्मण) के पास जाओ। सम्भव है कि वह तुमसे प्रेम करे !

तां राक्षसीमवेत्य लक्ष्मणो लज्जाशीलविहीनाम् ।
प्रख्याप्यात्मदास्यमशरण्यः स्वीचक्रे न विलीनाम् ॥७४॥

(नारीसुलभ) लज्जा एवं शील से विहीन उस व्यभिचारिणी को यातुधानी समझ कर, अपनी दासता (राम का सेवकत्व, अकिञ्चनता) का प्रकाश करते हुये, अशरण्य कुमार लक्ष्मण ने भी उसकी याचना स्वीकार नहीं की।

पदकन्दुकसन्निभा निशिचरी मध्येद्वयमुपरुद्धा ।
दुस्सहमनसिजशरहतहृदया विमताऽभूत्संक्रुद्धा ।।७५।।

पैर से खेले जाने वाले गेंद की तरह, दोनों भाइयों के बीच (पर्याय से) उपरुद्ध तथा दुस्सह कामशर से बिंधे हृदय वाली, अपमानित निशाचरी (तब) क्रोध-मूर्छित हो उठी ।

जनकसुतां स्वमनोरथपूरणविघ्नमयीं तत्कालम् ।
भक्षयितुं धृतवती स्वरूपं प्रकृतं सा विकरालम् ।।७६।।

अपने मनोरथ की पूर्ति में साक्षात् विघ्नभूता, जनकनन्दिनी को ही तत्काल निगल जाने के लिए उसने अपना वास्तविक विकराल स्वरूप धारण किया ।

दुश्चेष्टितमवलोक्य तदीयं सौमित्रिर्बहुरूपाम् ।
नासाकर्णविरहितां चक्रे समधिकतरं कुरूपाम् ।।७७।।

उसकी इस दुश्चेष्टा को देख कर तब कुमार लक्ष्मण ने उस मायाविनी को, नाक और कान काट कर, कुछ और ही अधिक कुरूप बना दिया ।

दनुजभक्ष्यतापसाऽमता सा विकृता कुलं शपन्ती ।
खरं प्रेरयामास भर्त्सनैर्गाढतरं विलपन्ती ।।७८।।

राक्षसों का ग्रास बनने वाले एक (क्षुद्र) तपस्वी से अपमानित और विकृत की गई शूर्पणखा, अपने ही खानदान को सरापने लगी और आठ-आठ आँसू रोती फटकार-भरे स्वर में (अपने भाई तथा शासक) खर को उकसाने लगी ।

कृमिसन्निभतापसदुर्विनयं प्रेक्ष्य खरो ह्यभिमानी ।
आत्मनिकृतिमनुभूय निर्ययौ दण्डयितुं भटमानी ।।७९।।

कीड़े-मकोड़ों के समान दो तपस्वियों की उद्दण्डता देखकर तथा स्वयं को महावीर मानने वाला दुरभिमानी खर, अपने (सरासर) अपमान का अनुभव कर (उन्हें) दण्ड देने के लिए चल पड़ा ।

खरदूषणशीर्षत्रयपृतनामेक एव रघुवीरः ।
किन्तु जघान कृशानुसन्निभस्तुमुलसंगरे धीरः ॥८०॥

परन्तु खर-दूषण तथा त्रिशिरा (तीनों) की सेनाओं को, अग्नि के समान (दाहक) धीर रघुवीर श्रीराम ने अकेले ही भयावह संग्राम में विनष्ट कर डाला ।

वीक्ष्य विलक्षणशौर्यविक्रमं रघुनाथं विदहन्ती ।
व्योमचारिणी साऽससाद लंकाधिपतिं विलपन्ती ॥८१॥

रघुनाथ को विलक्षण शौर्य-पराक्रम वाला देख कर, जलती-भुनती तथा विलाप करती शूर्पणखा, आकामार्ग से लंकापति रावण के पास पहुँची !

तामवलोक्य विरूपितदेहां दशवदनो लङ्केशः ।
वैरिपराक्रमकथाऽसहिष्णुर्निमितयतिवरवेषः ॥८२॥

लंकापति रावण ने शूर्पणखा को विरूपितदेह वाली देखकर, वैरी की पराक्रम-कथा को न सह सकने के कारण, श्रेष्ठ संन्यासी-वेष धारण कर लिया ।

मारीचं धृतकनकमृगतनुं कृत्वा दुरितसहायम् ।
द्रुतमाययौ जनस्थानं तच्छ्रुत्वा बलमुरुगायम् ॥८३॥

सुवर्णमृग का शरीर धारण करने वाले (अपने मामा) मारीच को, पाप-कर्म में सहायक बनाकर, वह श्रीराम के प्रख्यात बल-पौरुष को सुनकर, वेगपूर्वक उस दण्डकारण्य में आ पहुँचा ।

पर्णगृहादुत्सार्य राघवौ कूटोपायविधानैः ।
क्रोशन्तीं स जहार जानकीं मायाव्योमविमानैः ॥८४॥

षड्यन्त्र-भरे उपायों की रचना से राम और लक्ष्मण को पर्णशाला से दूर हटाकर, उसने चीखती-चिल्लाती जानकी को, मायानिर्मित आकाशीय-विमान से अपहृत कर लिया ।

अहृतखड्गविनिपातितपक्षं जटायुषञ्च युयुत्सुम् ।
वायुजवोऽतिजगाम रावणस्तं प्रविहाय मुमूर्षुम् ॥८५॥

प्रहार किये गये खड्ग से काट डाले गये पंखों वाले तथा युद्ध करने वाले (पक्षिराज) जटायु को, मृत्यु की घड़ियाँ गिनता छोड़, रावण वायु के वेग से आगे निकल गया ।

कृतयतिवेषकदर्थितपौरुषखलदशवदनगृहीता ।
स्थलशफरी कुररीव विहायसि ताम्यति विलपति सीता ॥८६॥

संन्यासी-वेष धारण किये हुए तथा कलङ्कित पौरुष वाले, दुष्ट रावण के द्वारा अपहृत की गई देवी सीता जमीन पर पड़ी मछली की तरह तड़पने लगीं और कुररी के समान आकाश में विलाप करने लगीं ।

क्वासि राम! रघुनाथ! दयित हे! क्वासि दीनजनबन्धो !
क्वासि जनकजाहृदयातपघनचन्दन! हे छविसिन्धो !!८७!!

हे राम ! हे रघुनाथ ! हे प्रियतम ! आप कहाँ है ? हे दीन जनों के रक्षक ! आप कहाँ है ? जनकजा के हृदय-सन्ताप को दूर करने के लिए सघनचन्दनलेप के समान हे छविधाम राम ! आप कहाँ हैं ?

नयबलविक्रमशौर्यपराक्रमभूरिनिहतरिपुलोकः ।
क्वासि ससायक! भो रघुनायक! दनुजकदम्बकशोकः ॥८८॥

अपनी नीति, बल-विक्रम तथा शौर्य-पराक्रम से अनेकशः शत्रुदलों का उच्छेद करने वाले, राक्षस-मण्डली के लिए शोकसदृश, कराल शर से युक्त हे रघुनायक ! आप कहाँ हैं ?

स्पृशति देव! पञ्चाननदयितां सति केसरिणि शृगालः ।
वरटां तुदति वायसो मलिनो दूरे वसति मरालः ॥८९॥

हे स्वामी ! केसरी के विद्यमान रहते, शृगाल सिंहिनी का स्पर्श कर रहा है ! मलिन काक राजहंसी को पीड़ित कर रहा है (क्योंकि राजहंस कहीं दूर पड़ा हुआ है ।)

क्वासि सुलक्षण लक्ष्मण! देवर! पश्यसि किन्न विपन्नाम् ।
त्वामपमन्य विमानमाश्रितां वारय मामवसन्नाम् ।।९०।।

श्रेष्ठ गुणों से युक्त देवर लक्ष्मण ! कहाँ हो तुम? विपत्तिग्रस्त सीता को क्यों नहीं देख रहे हो ? तुम्हारा अपमान कर, जो स्वयं अवमानना का पात्र बन गई है, ऐसी अवसन्न मुझ सीता की रक्षा तो करो !

विलपन्तीति भृशं गिरिशिखरे शाखामृगसमुदायम् ।
प्रेक्ष्य ववर्ष विदेहनन्दिनी भूषणवसननिकायम् ।।९१।।

इस प्रकार प्रभूत विलाप करती हुई विदेहनन्दिनी ने ऋष्यमूक पर्वत के शिखर पर बैठे वानर-समुदाय को देख कर (अपने) भूषण और वस्त्रसमूह नीचे गिरा दिये ।

परिवर्तितमृगदेहमाहतं मारीचं समवेक्ष्य ।
रघुनाथो विव्यथे सोदरं मध्येमार्गमुपेत्य ।।९२।।

मृग के शरीर को परिवर्तित कर देने वाले, मरे हुए मारीच को देखकर तथा बीच मार्ग में ही आते हुए भाई लक्ष्मण को पाकर, रघुनाथ व्यथित हो उठे ।

पर्णकुटीरमवाप्य राघवः प्रियारहितमतिदीनः ।
उन्मद इव विललाप स करुणं सलिलविरहितो मीनः ।।९३।।

प्रियतमा सीता से रहित पर्णशाला को प्राप्त कर, अतिशय दीन राघव जल से विरहित मीन के समान (छटपटाते हुए) उन्मत्तों की भाँति करुण विलाप करने लगे ।

क्वास्ति देवि गोदावरि ! सीता ?
अपि दृष्टा मम हृदयवल्लभा केन कथं क्व च नीता !
हे खग-मृग! हे पुलिनवरटगण! रुचिरपञ्चवटि धन्ये !
हे दण्डकवनमहितदेवते ! शिशिरजले गिरिकन्ये !!९४!!

हे देवि गोदावरि ! मेरी सीता कहाँ है ? क्या तुमने हृदयवल्लभा को देखा ? वह किसके द्वारा कैसे और कहाँ ले जायी गई ? हे पक्षियों ! हे मृगों ! तटवर्ती राजहंसों ! दण्डकवन की पूज्य देवियों ! सौभाग्यशालिनी हे रम्यपञ्चवटिके ! शीतल जल वाली हे गिरिकन्ये !

मदिरमृगवधूसविनयनयना स्मितवचनाऽप्यभिरामा ।
श्रावणसजलजलदशितिकेशाऽवामा क्व नु मम वामा !!९५!!

मदमत्त मृगवधू के समान विनत नेत्रोंवाली, मुस्कान भरे वचनों वाली श्रावण-मास के सजल जलधरों के समान कजरारे केशों वाली, सदैव मेरे अनुकूल रहने वाली मेरी अभिरामा वामा (प्रिया) कहाँ है ?

ख्यातम्मुदा जनस्थानं त्वं प्रभवसि विजनस्थानम् ।
सन्तापयसि सुलभविपदं किं मां शरणागतरामम् !!९६!!

हे दण्डकारण्य!तुम्हें तो लोग प्रसन्नतापूर्वक 'जनस्थान' (मनुष्यों से भरा-पुरा) कहते हैं । परन्तु मेरे लिए तो तुम'विजनस्थान' ही सिद्ध हो रहे हो ! अपनी शरण में आये हुए, प्रारम्भ से ही विपत्तिग्रस्त मुझ राम को क्यों सन्तप्त कर रहे हो ?

वैदेहीं वै देहि पञ्चवटि!नो चेद्धन्मि शरीरम् ।
मम दयितां प्रजघास घस्मरं मन्ये हतककुटीरम् ।।९७।।

हे पञ्चवटि ! मेरी वैदेही को तुम लौटा दो । अन्यथा मैं अपना ही विनाश कर डालूँगा । निश्चय ही इस भयावह हत्यारे पर्णकुटीर ने ही मेरी प्राणप्रिया को निगल लिया है ।

कृतसोदरपरितोषराघवः पथि जटायुषं दीनम् ।
वीक्ष्य निशम्य ततोऽखिलवृत्तं तं प्रददाह विलीनम् ।।९८।।

अपने सहोदर (लक्ष्मण) द्वारा शान्त किये गये राघव ने मार्ग में दीन जटायु को देखा और उससे सम्पूर्ण समाचार सुनकर, पञ्चत्व को प्राप्त पक्षिराज का दाह-संस्कार किया ।

निहतकबन्धनिदेशधारिणौ पम्पाभिमुखौ धीरौ ।
शरभङ्गं शबरीञ्च ददृशतुः स्नेहमयीं रघुवीरौ ।।९९।।

मारे गये कबन्ध के निर्देशानुसार पम्पा-सरोवर की ओर आगे बढ़ते हुए उन दोनों धैर्यशाली रघुवीरों ने (महामुनि) शरभङ्ग और स्नेहमयी शबरी से भेंट की ।

ऋष्यमूकशिखरे पवनात्मजयोजितकपिपतिसख्यः ।
वालिवधाय ततः प्रतिजज्ञे रामः शक्तिपरीक्ष्यः ।।१००।।

ऋष्यमूक पर्वत के शिखर पर, पवनपुत्र हनुमान् द्वारा करायी गई वानरराज सुग्रीव की मित्रता से युक्त तथा सप्तताल के भेदन से अपना शक्ति-परिचय देने वाले राम ने (अत्याचारी) वाली के बध की प्रतिज्ञा की।

ददौ शरैकनिकृत्ततालतरुनिवहो भुजबलमानम् ।
द्वन्द्वरतं निजघान वालिनं दुरितचयप्रतिमानम् ।।१०१।।

एक ही बाण से तालवृक्ष के समूहों को काटकर राम ने अपने बाहुबल का प्रमाण दिया तथा (सुग्रीव के साथ) द्वन्द्व-युद्ध में भिड़े, पाप-समूह के प्रतिमानभूत वाली को मार डाला।

हृतवनितासाम्राज्यसङ्गतः कपिपतिरतनुकृतज्ञः ।
आजुहाव राघवसमुद्धृतः प्लवगबलं नयविज्ञः ।।१०२।।

(अन्यायी वाली द्वारा) छीन ली गई पत्नी और साम्राज्य को पुनः प्राप्तकर राघव द्वारा समुद्धृत किये गये, नीति-वेत्ता तथा अपार कृतज्ञता से बोझिल कपिपति सुग्रीव ने (सीतान्वेषण के लिए) वानर-सेना को बुलाया।

लक्षकोटिमितऋक्षविटपिमृगमर्कटगोलाङ्गूलाः ।
दिशि-दिशि ययुर्निदेशनिबद्धा भयरहिता गतशूलाः ।।१०३।।

लाखों-करोड़ों की संख्या में भालू, शाखामृग, मर्कट और गोलांगूल जाति के वानर, सुग्रीव का आदेश प्राप्त कर निर्भय और निश्चिन्त होकर, विभिन्न दिशाओं में चल पड़े।

सिन्धुसलिलमुल्लङ्घ्य सलीलं पवननन्दनो धीरः ।
अधिसन्ध्यं प्रविवेश दशाननगरेऽलक्ष्यशरीरः ।।१०४।।

धैर्यशाली पवनपुत्र हनुमान् ने खेल-खेल ही में सागर की जलराशि को लाँघकर, सन्ध्यावेला में अलक्षित-मुद्रा में, रावण की नगरी लङ्का में प्रवेश किया।

गृहवलभीतोरणपथवाटीरावणयुवतिनिवेशान् ।
निपुर्णानिपुणमवलोक्य विव्यथे देशान् महितविशेषान् ।।१०५।।

गृह-वलभी, प्रवेशद्वार, राजमार्ग, उद्यान तथा रावण के अन्तःपुर को, साथ ही साथ विशेष महत्त्व के स्थलों को भी देखकर (वैदेही को न पाने के कारण) हनुमान् व्यथित हो उठे ।

दिष्ट्या सोऽनुजगाम निशीथेऽशोकवनं रमणीयम् ।
तत्र ददर्श जानकीं दधतीं क्षामवपुर्दयनीयम् ।।१०६।।

अन्ततः सौभाग्यवश वह अर्द्धरात्रि में रमणीय अशोकवन में पहुँचे । वहाँ उन्होंने दयनीय, निष्प्रभ शरीर धारण करने वाली जानकी को देखा ।

आश्रितसघनशिंशपादलचयनिलयो ज्वलनसमानम् ।
साश्रु ददर्श विदेहसुताया रावणकृताऽवमानम् ।।१०७।।

शीशम वृक्ष के सघन पर्णसमूहों में छिपे हुए मारुति ने अग्नि के समान (असह्य) वैदेही का रावण द्वारा किया गया अपमान, अश्रुपात के साथ देखा ।

दशवदने विगते विदेहजां कांक्षितमरणोपायाम् ।
निभृतमुपेत्य निवेद्य मुद्रिकामतूतुषत्प्रभुजायाम् ।।१०८।।

रावण के चले जाने पर मृत्यु का उपाय-खोजने वाली वैदेही के पास, चुपके से पहुँचकर हनूमान् ने उन्हें राघव की मुद्रिका प्रदान की और अपने स्वामी की प्रिया को प्रभूत सान्त्वना प्रदान की ।

याहि मा शुचमम्ब ! सीते !
विरहरजनीयं व्यतीता भाग्यरविरधुनाऽभ्युदीते !!
त्वद्विरहसन्तापघस्मरवेदनाऽहतकान्तकायः ।
नो दिवारजनीप्रभेदमवैति ते दयितोऽसहायः ।।१०९।।

हे अम्ब वैदेहि ! शोक मत करें ! (आपकी) यह विछोह की रात समाप्त हुई और अब आपका भाग्य-रवि उदित हो रहा है । आपके विरहजन्य सन्ताप की भयावह वेदना से आहत, कोमल काया वाले आपके असहाय स्वामी (राघव) भी दिन और रात का विशेष भेद नहीं अनुभव कर पा रहे हैं ।

सजलजलधरवर्षणं न भयं तथाऽस्माकं ससर्ज ।
किन्तु राघवलोचनाश्रुजलेऽखिला पृतना ममज्ज ॥११०॥

सजल जलधरों की वर्षा ने भी, हमारे लिए उस प्रकार का भय नहीं उत्पन्न किया। परन्तु राघव के नयनाश्रुजल में (तो) सारी की सारी वानर-सेना ही डूब गई ।

निमिषकं प्रहरायते प्रहरञ्च देवि ! दिनायतेऽलम् ।
दिवसमपि सत्रायते सत्रञ्च तस्य युगायतेऽलम् ॥१११॥

हे देवि ! राघव के लिए तो एक क्षण प्रहर के समान, एक प्रहर पर्याप्त रूप से दिन के समान, दिन भी वर्ष के समान और वर्ष पूर्णतः युग के समान प्रतीत हो रहा है ।

मुञ्च मा धैर्यं जननि ! राघवमवेहि समागतं त्वम् ।
विश्वसिहि पतिदेवते ! सकुलं दशाननमाहतं तम् ॥११२॥

हे जननि ! धैर्य मत छोड़ो । अब तुम राघव को (लङ्का में) आया हुआ ही समझो ! हे पतिदेवते ! अब उस अत्याचारी रावण को, कुल-परिवार-सहित मारा हुआ ही विश्वास करो ।

देहि मेऽभिज्ञानमम्ब ! तवाङ्घ्रिदर्शनसम्बलम् ।
आशिषा भावय सुतम्मां सेवकं रघुपतिबलम् ॥११३॥

हे अम्ब ! अपने चरणों के दर्शन का प्रतीकस्वरूप कोई आभूषण मुझे दो और रघुपति के शक्तिप्रतीक, उनके सेवकभूत, मुझ सरीखे अपने पुत्र को आशीष देकर कृतार्थ करो ।

सीतार्पितचूडामणिमोदितपवनसुतो रिपुनाशी ।
वनमवगाह्य फलानि जघास बभञ्ज तरून् प्रविलासी ॥११४॥

सीता द्वारा अर्पित की गई चूड़ामणि से आह्लादित हुए, वैरियों का विनाश करने वाले पवनसुत ने (रावण के) अशोक-वन में घुसकर फलों को खाया और मारे शरारत के वृक्षों को तहस-नहस कर डाला ।

कन्दाङ्कुरं चखान निपानं सुखं ततार विशालम् ।
वनपालान् प्रजहार बबन्ध शशाद निनाय च कालम् ॥११५॥

उन्होंने कन्दमूलों के अङ्कुरों को खोद डाला, विशाल सरोवर में जी भरकर, सन्तरण किया और वनपालों को मारा, बाँधा, पीड़ित किया और कुछ को मार भी डाला ।

सचिवसुतांश्चतुरोऽथ दशाननतनयं ह्यक्षकुमारम् ।
प्राभञ्जनिर्जघान मुष्टिकाघातैः कल्मषभारम् ॥११६॥

उसके अनन्तर, पापभार के समान चार मन्त्रि-पुत्रों को तथा रावण के पुत्र अक्षयकुमार को हनुमान् ने घूँसों के प्रहार से मार डाला ।

दशमुखबलाभिमाननिनंक्षुर्घननादेन निबद्धः ।
प्रज्ज्वालितलाङ्गूलशिखाभिर्महाकालसंक्रुद्धः ॥११७॥

(तदनन्तर) दशानन के बलाभिमान को विनष्ट कर देने के लिए इच्छुक, महाकाल के समान क्रोधयुक्त तथा (रावण के पुत्र) मेघनाद द्वारा नागपाश में बाँधे गये हनुमान् ने (राक्षसों द्वारा) जलाये गये लांगूल की लपटों से ।

लङ्कापुरीं ददाह दारुणं स्वर्णमयीमतिकामम् ।
सिन्धुसलिलशिशिरीकृतकायः पुनरागतश्च रामम् ॥११८॥

स्वर्णमयी लङ्कापुरी को भयावह रूप से, जी भरकर दग्ध किया तथा सागर के जल में शरीर को शीतल बनाकर पुनः श्रीराम के पास लौट आये ।

आद्यन्तं विनिवेद्य च वृत्तं जनकसुतापरितापम् ।
चूडामणिं ददौ रघुपतये पवनसुतोऽवनिजाऽप्तम् ॥११९॥

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक समाचार को तथा जनकसुता के परिताप को (राघव के समक्ष) भलीभाँति निवेदित कर पवनपुत्र ने, वैदेही से प्राप्त चूड़ामणि रघुपति को समर्पित कर दी ।

चूडामणिमवाप्य रघुनाथो विगलदश्रुसुस्नातः ।
वैदेहीविपदं निशम्य जज्वाल महारोषार्तः ।।१२०।।

चूड़ामणि को प्राप्त कर रघुनाथ बहती अश्रुधारा से पूर्णतः भींग गये । वैदेही की विपत्ति को सुनकर, महान् रोष से विकल होकर वह दहक उठे ।

अथ दाशरथिसङ्केतमाप्य चचाल वानरवाहिनी ।
जयजयतिवाचमुदीर्य मध्यन्दिन अनन्तपताकिनी ।।१२१।।

इसके अनन्तर, दशरथनन्दन राम का संकेत पाते ही, अनन्त पताकाओं वाली वानरवाहिनी, जयजयकार-भरी वाणी का उच्चारण करके, दोपहर के समय चल पड़ी ।

गजगवयधूम्रगवाक्षजम्भसुषेणकुमुददरीमुखाः ।
नलनीलमैन्दबृहद्बलार्कप्रजंघरुमणोल्कामुखाः ।।१२२।।

गज, गवय, धूम्र, गवाक्ष, जम्भ, सुषेण, कुमुद, दरीमुख, नल, नील, मैन्द, बृहद्बल, अर्क, प्रजङ्घ, रुमग, उल्कामुख ।

द्विविददुर्मुखशरभकेसरिपनसवृषगन्धोत्कटाः ।
गन्धमादनवह्निसौरभतारकाङ्गदरणभटाः ।।१२३।।

द्विविद, दुर्मुख, शरभ, केसरी, पनस, वृष, गन्धोत्कट, गन्धमादन, वह्नि, सौरभ, तारक, तथा अङ्गदादि रणयोद्धा (चल पड़े ।)

प्लवगपतिऋक्षेशमारुतिरामलक्ष्मणमण्डिता ।
वाहिनी प्रससार वात्यारयमयी रणपण्डिता ।।१२४।।

प्लवगपति (सुग्रीव) ऋक्षेश (जाम्बवान्) मारुति तथा राम-लक्ष्मण से मण्डित, रणविद्या में कुशल वानर-सेना आँधी के वेग से आगे बढ़ी ।

विकटपर्वतकूटकठिनकठोरकाननभेदिनी ।
नदनदीगिरिसेतुकूपतडागजनपदलंघिनी ।।१२५।।

विकट पर्वत-शिखरों, दुर्गम एवं भयावह काननों को पार करती हुई तथा नदों, नदियों, पर्वतीय निर्झरों, कूपों, तडागों तथा जनपदों को लाँघती हुई ।

जलधिपुलिनमवाप्य विश्रममाप वानरवाहिनी ।
कन्दमूलफलाढ्यमेरुमहेन्द्रशिखरविलासिनी ।।१२६।।

वानरसेना (दक्षिणी) सागर के तट पर पहुँच कर, विश्राम प्राप्त कर, कन्द-मूलों और फलों से समृद्ध महेन्द्र पर्वत के शिखरों पर पहुँच कर विलास करने लगी ।

शरणमत्र विभीषणो दशकन्धरानुज आगतः ।
अभिषिच्य सिन्धुजलेन सः रघुनायकैस्सचिवीकृतः ।।१२७।।

यहीं पर दशानन का अनुज विभीपण, राघव की शरण में आया और सागर-जल से (लङ्कापति के पद पर) अभिषिक्त करके, वह रघुनायक द्वारा अपना सचिव बना लिया गया ।

नलनीलनिर्मितसेतुपथपारंगता ननु वानराः ।
लंकामुपेत्य सुवेलशिखरमुपाश्रिता अतिदुर्धराः ।।१२८।।

तदनन्तर नल-नील बन्धुओं द्वारा निर्मित किये गये सेतुपथ से वानर योद्धा समुद्र के पार पहुँच गये तथा लङ्कापुरी में पहुँच कर वे सब सुवेल पर्वत के शिखरों पर जम गये ।

अथ तुमुलसङ्गरभुवि कपिध्वजिनीनिपातितनिशिचराः ।
क्षतविक्षता निहता निकृत्ताः प्लाविताश्छलनापराः ।।१२९।।

इसके अनन्तर, घमासान लड़ाई के मैदान में माया और छल करने वाले राक्षस-गण, वानरसेना द्वारा क्षत-विक्षत कर दिये गये, मार डाले गये अथवा काट डाले गये ।

इन्द्रजितमहनत्सुमित्रानन्दनो मायामयम् ।
रावणञ्च जघान रामः सानुजं जगतीभयम् ॥१३०॥

मायावी इन्द्रजित् को (मेघनाद को) सुमित्रानन्दन लक्ष्मण ने मार डाला और संसार के भयस्वरूप रावण को, उसके भाई कुम्भकर्ण-सहित, राम ने स्वयं मारा ।

लोकरावणरावणे निहते लसितनीलाम्बराः ।
सिद्धसुरगन्धर्वकिन्नरयक्षपितृविद्याधराः ॥१३१॥

त्रिलोकी को रुलाने वाले रावण के मारे जाते ही, नीले आकाश-मण्डल में अवतरित सिद्ध, सुर, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, पितर और विद्याधरों ने ।

कुसुमलाजाक्षतसुरभिनिचयं ववृषुरानन्दिताः ।
जय राम ! राघव ! रघुपते ! जय लक्ष्मणेति वचोऽन्विताः ॥१३२॥

"हे राम ! हे राघव ! हे रघुपते ! आपकी जय हो ! हे लक्ष्मण ! आपकी जय हो ।" इन वचनों से अन्वित होकर, आनन्द-पूर्वक पुष्पों, अक्षतों, खील तथा इत्रों की वर्षा की ।

कुन्दतुहिनहिमहासहारघनसारशुभ्रशुभचरिताम् ।
जानन्नपि मनसा रघुतनयो नाऽभिननन्द स दयिताम् ॥१३३॥

(लङ्का-विजय के अनन्तर) देवी सीता को, मन ही मन कुन्द-पुष्प, तुषार, हिम, अट्टहास, मुक्ताहार, तथा कर्पूर के समान धवल एवं पवित्र आचरण वाली जानते हुए भी, श्रीराघव ने पत्नी का अभिनन्दन नहीं किया ।

लोकभयात्स उवाच जानकीं कृतम्मया कर्तव्यम् ।
त्वमसि मोचिता रिपुहस्तादिह याहि निजं गन्तव्यम् ॥१३४॥

समाज के भयवश उन्होंने जानकी से कहा—'मैंने (अपना) कर्त्तव्य कर दिया है । इस लङ्कापुरी में शत्रु के बन्धन से तुम मुक्त करा दी गई हो । अब तुम जहाँ भी जाना चाहो, चली जाओ ।'

मध्येसभमनुभूय वल्लभाद् दुस्सहमिदमपमानम् ।
हतहृदया मैथिली लक्ष्मणं सदयमुवाच विधानम् ।।१३५।।

जनसभा के बीच में ही प्राणवल्लभ से यह दुःसह अपमान प्राप्त एवं अनुभव कर, टूटे हुए हृदय वाली मैथिली ने, बड़ी करुणा के साथ लक्ष्मण से उपाय बताया।

आनय काष्ठचयं प्रिय लक्ष्मण ! रचय चितां सुस्फीताम् ।
दयितकदर्थितकलुषशरीरामिह धक्ष्याम्यथ सीताम् !!
रामो यदि न स्नेही !
श्वसिति मुधा वैदेही !!१३६।।

प्रिय लक्ष्मण ! काष्ठ-समूह ले आओ और एक विशाल चिता बना दो। अब इस लङ्का में ही, पति के द्वारा कलङ्कित, पापमय शरीर वाली 'सीता' को भस्म कर दूँगी। यदि राम अनुरक्त नहीं हैं तो वैदेही का जीवित रहना ही व्यर्थ है।

दशमुखदुरितसहस्रगुणाधिकशूलदचरितकलङ्कः ।
हतभाग्यां मां व्यथयति वल्लभपरिकल्पितमलपङ्कः ।।
देहे ताम्यति देही !
श्वसिति मुधा वैदेही !!१३७।।

मेरे चरित्र पर लगाया गया यह कलङ्क रावण के पापों से भी हजार गुना अधिक शूल देने वाला है। अपने ही प्राणवल्लभ द्वारा परिकल्पित (दुश्चरित्रतारूपी) यह कलङ्क-पङ्क मुझ अभागिन को व्यथित कर रहा है। आत्मा शरीर में छटपटा रही है। अब वैदेही का जीवित रहना व्यर्थ है।

अतसीसूनसमप्रभवल्लभपुनरीक्षणसुखलुब्धा ।
यन्न मया प्राणाः सन्त्यक्तास्तत्फलितैरिह विद्धा ।।
गृहमनुसरति न गेही !
श्वसिति मुधा वैदेही !!१३८।।

अतसी पुष्प के समान कान्ति वाले प्राणवल्लभ को पुनः देख पाने के सुख की लालच में जो मैंने (अब तक) प्राणों को विसर्जित नहीं किया, आज उसी के परिणाम-स्वरूप (इस कलङ्क से) विंध रही हूँ। गृहस्थ होते हुए भी राघव गृह (पत्नी) का अनुसरण नहीं करते तो फिर वैदेही का जीवित रहना ही व्यर्थ है।

यद्यपि परिमेयो न चतुर्दशभुवनबहलविस्तारः ।
तदपि दयितहृदयानुरागसीमितदयितासंसारः ।।
लोको मय्यस्नेही !
श्वसिति मुधा वैदेही !!१३६।।

यद्यपि चौदहों भुवनों का प्रभूत विस्तार मापने योग्य नहीं है । फिर भी एक पत्नी का संसार तो अपने पति के हृदयानुराग में ही सीमित (छोटा) होता है । यदि यह लोक मुझमें स्नेह नहीं रखता (मुझे दुश्चरित्र समझता है) तो वैदेही का जीवित रहना ही व्यर्थ है ।

रोषकृशानुपरीतलोचनो रघुपतिचरणविनीतः ।
सोदरदृढनिश्चयातङ्कितः सौमित्रिः प्रविभीतः ।।१४०।।

क्रोधाग्नि से ओतप्रोत नेत्रों वाले, भाई के कठोर निश्चय से आतङ्कित, अतिशय भयभीत तथा रघुपति के श्रीचरणों में समर्पित कुमार लक्ष्मण ने ।

मलयजदारुचितां संविदधे कृतशपथा तां सीता ।
सत्वरमधिरुरोह शोकार्जवशीलचरित्रपरीता ।।१४१।।

चन्दन की लकड़ी से चिता का निर्माण कर दिया और शोक, ऋजुता, शील एवं चरित्र की साकार मूर्ति सीता (राम के प्रति अपनी एकान्त निष्ठा की) शपथ लेकर, वेगपूर्वक चिता पर आरूढ़ हो गईं ।

प्लवगदनुजरोदनपरिदेवनचीत्कृतहाहाकारैः ।
व्योम बभूव निचितममरोरगकिन्नरपितृपरिवारैः ।।१४२।।

वानरों और राक्षसों के रोने-कलपने, क्रन्दनों चीत्कारों और हाहाकारों से आकाश व्याप्त हो उठा । देवता, नाग, किन्नर और पितर आदि, दल-बल के साथ (सीता की अग्नि-परीक्षा देखने) आकाश में उपस्थित हुए ।

स्वयमुदियाय ततो हुताशनः सीतामक्षतदेहाम् ।
शीलचरित्रमयीं रघुपतये तामददात्सुस्नेहाम् ।।१४३।।

इसके अनन्तर अग्निदेव स्वयं चिताग्नि से प्रकट हुए और उन्होंने अक्षत देह वाली, शील एवं चरित्र से श्रीमण्डित तथा (कान्त के प्रति) उत्कृष्ट अनुराग वाली यशस्विनी सीता को राम के हाथों में अर्पित किया ।

वियति विरञ्चिशिवेन्द्रदशरथा वैदेहीं दयमानाः ।
अजिग्रहन् सुरसिन्धुपवित्रां रघुनाथं श्रितयानाः ।।१४४।।

आकाश में, विमानों पर बैठे ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा दशरथ आदि ने भी सहानुभूतिपूर्वक, गङ्गा के समान पवित्र वैदेही को रघुनाथ द्वारा ग्रहण करवाया ।

वृन्दारकवन्दितां वल्लभामग्निपवित्रितकायाम् ।
जगदनुरञ्जनरतो राघवो ततो ननन्द स जायाम् ।।१४५।।

तदनन्तर लोकानुरञ्जन में निरत राघव ने देवताओं द्वारा वन्दित तथा अग्निदेव द्वारा पवित्रित शरीर वाली प्रियतमा भार्या का अभिनन्दन किया ।

संस्मृतभरतविरहरघुवीरः सविभीषणकपिसैन्यः ।
प्रस्थानं पुष्पकाधिरूढो विदधे प्रशमितदैन्यः ।।१४६।।

प्रशमित दैन्य वाले तथा कुमार भरत के विछोह का संस्मरण करने वाले रघुवीर ने (तब) लङ्कापति विभीषण तथा वानर-सेना के साथ, पुष्पक विमान में (अयोध्या की ओर) प्रस्थान किया ।

समरभूमिसागरभूधरवनविविधजनपदव्रातम् ।
सन्दर्शयन् मुदा वैदेहीं समुपययौ यात्रान्तम् ।।१४७।।

प्रसन्नतापूर्वक वैदेही को रणभूमि, समुद्र पर्वत, वन और विभिन्न जनपद-समूह का दर्शन कराते हुए राघव ने यात्रा सम्पन्न की ।

यामुनगाङ्गसङ्गभूराजितभरद्वाजपदलीनः ।
रजनिमनैषीन्मुनिवराश्रमे भरतचिन्तया दीनः ।।१४८।।

यमुना और गङ्गा की सङ्गम-भूमि में विराजमान महर्षि भरद्वाज के चरणों में समर्पित तथा कुमार भरत की चिन्ता में विकल श्रीराम ने मुनिवर के आश्रम में वह रात बिताई ।

अपरेद्युः प्रस्थितो रघुपतिः कोसलभूमिमुदाराम् ।
घृतगोमतीस्यन्दिकातमसासरयूमतनुविहाराम् ॥१४६॥

दूसरे ही दिन रघुपति कोसल-जनपद की उदार (शस्य-श्यामल) भूमि की ओर प्रस्थित हुये जिसमें कि गोमती, स्यन्दिका (सई) तमसा और सरयू नामक नदियाँ बहती थीं और जो विपुल विहारभूमियों से युक्त थी ।

पवनतनयमुखविदितरघूत्तमपुनरागमनसुवृत्तः ।
स्वजनसचिवगुरुपौरसमन्वितभरतोऽभूच्चलचित्तः ॥१५०॥

पवनतनय के मुख से रघूत्तम श्रीराम के पुनः अयोध्या लौटने के सुखद समाचार को जानकर, स्वजनों, अमात्यों, गुरुओं तथा नागरिकों से समन्वित कुमार भरत विकल-मन वाले हो उठे ।

सोदरचरणपतितनतकायो विगलदश्रुपरिमग्नः ।
रघुपतिभुजपरिरम्भशीतलो भरतोऽभूद्धृदि लग्नः ॥१५१॥

(राघव से मिलने पर) भाई के चरणों में समर्पित, विनत शरीर वाले, झरती हुई अश्रुधारा से भीगे हुये तथा श्रीराघव की गलबाँही से शीतलता प्राप्त करने वाले कुमार भरत, उनकी छाती से चिपक गए ।

स्वजनकुशलशिशिरीकृतहृदयं प्रकृतिसदयजननाथम् ।
अभिसिषेच रघुपतिं वसिष्ठः सिंहासने महार्धम् ॥१५२॥

तदनन्तर, गुरु वसिष्ठ ने स्वजनों का कुशल-क्षेम देखकर शीतलता को प्राप्त हृदय वाले, प्रजाओं तथा विनम्र जनों के स्वामी, महाप्रभावशाली रघुपति को राज-सिंहासन पर अभिषिक्त किया ।

लंकापतिकपिभटविहारसुखसंक्रीडनैरयोध्या ।
मासं यावदभून्मनोरमा नवकौतुका विशोध्या ॥१५३॥

लंकापति विभीषण तथा वानर-योद्धाओं के विहार-सुखों एवं उन्मुक्त क्रीड़ाओं से अयोध्या नगरी भी एक महीने तक मनोरमा, नये-नये कौतुकों वाली तथा अन्वेषण-योग्य बनी रही ।

रामे शासति महीं स्थापितं स्वयमभूदृतं सत्यम् ।
ईतिभीतिरहितं महीतलं ननु जगाम सौहित्यम् ।।१५४।।

श्रीराम के पृथ्वी का शासन करते समय ऋत और सत्य स्वतः स्थापित हो उठे। ईति (दैवी भय) तथा भीति (मनुष्यकृत भय) से रहित धरा-धाम परोपकार की भावना से ओत-प्रोत हो उठा।

अनृतदुरितकल्मषपरपीडनपरधनवस्त्वपहाराः ।
ईर्ष्यामर्षभेदछललाञ्छनकपटविकटकुविचाराः ।।१५५।।

ईर्ष्या, अमर्ष, षड्यन्त्र, प्रवञ्चना, कलङ्क, कपट, भयावह दुर्विचार, असत्य, पाप, कल्मष, परपीड़न तथा पराई सम्पत्ति का अपहरण।

नो जजागरू रघुपतिराज्ये धरा बभूव सुशस्या ।
सुजला सुफला देवमातृका यथोचितं नृपवश्या ।।१५६।।

रघुपति के राज्य में प्रचलित नहीं हो सके। सुन्दर शस्य वाली सुजला-सुफला यथापेक्षित मेघवर्षा वाली पृथ्वी यथोचित रूप से राजा के अनुकूल बन गई।

सीताशीलचरितगुणलक्षणदिव्यजननमहिमानम् ।
परमेश्वरगुणविग्रहमण्डितदशरथनन्दनरामम् ।।१५७।।

देवी सीता के शील, चरित्र, सद्गुण, सुलक्षणों तथा दिव्य उत्पत्ति की महिमा को साथ ही साथ परमेश्वर के गुण एवं व्यक्तित्व से मण्डित दशरथनन्दन श्रीराम (की महिमा) को।

पौरजनानां संसदि विशदं विदधे राघवनिष्ठः ।
महातपाः सर्वज्ञसत्तमः स्वयमाराध्यवसिष्ठः ।।१५८।।

नागरिकों की सभा में आराध्य कुलगुरु वसिष्ठ स्वयं विशद (सुस्पष्ट) किया करते थे जो कि महातपस्वी, सर्वज्ञों में श्रेष्ठतम और राघवनिष्ठ थे।

विष्णुनिभो रघुनाथ इदानीं लक्ष्मीनिभा च सीता ।
वैकुण्ठप्रतिमा साऽयोध्या पौरा विबुधस्फीताः ।।१५९।।

(महर्षि वसिष्ठ प्रजाओं को समझाते थे कि) सम्प्रति रघुनाथ श्रीराम विष्णु के समान हैं, देवी सीता लक्ष्मी के समान हैं, यह अयोध्यापुरी वैकुण्ठ के समान है और यहाँ के नागरिक भी देवताओं के समान प्रकाशमान हैं।

स्वर्गायते रत्नगर्भेयं रामराज्यमहनीया ।
अमरावत्यपि सम्प्रतीयते कृपणा ननु दयनीया ।।१६०।।

रामराज्य से महिमान्वित यह रत्नगर्भा पृथ्वी स्वर्ग के समान प्रतीत हो रही है। (इसके समक्ष) तो अमरावती पुरी भी निश्चित रूप से दयनीय और कृपण सिद्ध हो उठी है।

यमजौ सुतावविन्दत रामो रामायणगातारौ ।
प्राचेतसवाल्मीकिदीक्षितौ ननु लवकुशौ कुमारौ ।।१६१।।

श्रीराम ने रामायण-कथा का गान करने वाले, प्राचेतस महर्षि वाल्मीकि द्वारा दीक्षित, जुड़वे पुत्रों—कुमार लव एवं कुश को प्राप्त किया।

चन्द्रकेतुमङ्गदं लक्ष्मणस्तक्षपुष्कलौ भरतः ।
शत्रुघ्नश्च सुबाहुमविन्दत शत्रुघातिनं प्रणतः ।।१६२।।

लक्ष्मण ने अङ्गद एवं चन्द्रकेतु को, भरत ने तक्ष और पुष्कल को तथा विनम्र शत्रुघ्न ने सुबाहु एवं शत्रुघाती को (पुत्ररूप में) प्राप्त किया।

ब्रह्माण्डे विलसति वसुधेयं वसुधायां रघुवंशः ।
रघुवंशे विलसति रघुनाथो रघुनाथे विष्ण्वंशः ।।१६३।।

ब्रह्मांड में विराजमान है यह पृथ्वी, पृथ्वी में विराजमान है यह रघुवंश ! रघुवंश में सुशोभित हैं रघुनाथ और रघुनाथ में सुशोभित है भगवान विष्णु का अंश !

महितविरञ्चिनिदेशपुरस्कृतवाल्मीकिरतिविज्ञः ।
हस्तामलकीकृतपरोक्षघटितः संस्फुरत्प्रतिज्ञः ॥१६४॥

महामहिम प्रजापति के निर्देश से उत्साहित अत्यन्त विज्ञ, परोक्ष घटनाओं को भी हाथ पर रखे आँवले की तरह देखने वाले तथा देदीप्यमान (काव्यरचना के) सङ्कल्प वाले ।

आदिकविस्तस्यामृतचरितं मुदा जगौ परिपूतम् ।
चतुर्विंशतिश्लोकसहस्रैः परलोकोदयदूतम् ॥१६५॥

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने उन्हीं श्रीरघुनाथ के पवित्र एवं अमृतमय चरित्र का गायन प्रसन्नतापूर्वक, चौबीस हजार श्लोकों में किया । वह काव्य पारलौकिक अभ्युदय का परिचायक है ।

यावद् भुवि विलसन्ति सागराः गिरयो गङ्गाधारा ।
प्रचरतु सदा स्वैरमिह तावद्रामकथेयमुदारा ॥१६६॥

जब तक इस पृथ्वी पर सागर-पर्वत एवं गङ्गा की पवित्र धारा विद्यमान है तब तक यह उदार रामकथा स्वच्छन्दता-पूर्वक सदैव बिहार करती रहे ।

इति नवरससिद्धां कण्ठमाधुर्यनद्धां क्वणनमृदुविपञ्चीसप्तनादानुबद्धाम् ।
चतुरभिनययोगस्वैरबुद्धां कुमारौ जगतुरमितशक्ती विस्मृतक्षुत्पिपासौ ॥

इस प्रकार अपरिमेय शक्ति वाले तथा भूख और प्यास को भी भूल जाने वाले दोनों कुमारो ने शृङ्गारादि नवों रसों से ओत-प्रोत, गायकों के कंठ-माधुर्य से लसी, मधुर झङ्कार वाली वीणा के सप्तस्वरों में बंधी तथा चार प्रकार के अभिनयों के योग से अनायास ही समझ में आ जाने वाली रामकथा का गायन किया ।

ऋषिमुनिसमवायो राजवर्गोऽवरोधः कपिबलमथ लोकोऽसंख्यनार्यो नराश्च ।
रघुपतिगुणगीतं जानकीशीलवृत्तं नयनसलिलमग्नास्तस्थिरे सन्निपीय ॥१६८

ऋषियों-मुनियों का समवाय, राजवर्ग, अन्तःपुर, वानरवाहिनी, समाज तथा असंख्य नर-नारियों का वर्ग, रघुपति के गुणगीत को तथा देवी जानकी के शीलवृत्त को सम्यक् रूप से पीकर, आँसुओं में डूबा हुआ बैठा रहा ।

यत्काव्यं मधुवर्षि नव्यघटनं प्रस्थानभूतं नवं
सान्द्रानन्दमरन्दविन्दुरुचिरं सीताप्रमाणैः कृतम् ।
सर्गः पूर्तिमगादयं नु चरमस्तत्रै कविंशोऽधुना
वैदेहीमनुकीर्तयन्नघुपतिं श्रीजानकीजीवने ।।१६९।।

घनीभूत आनन्दरूपी मरन्द-विन्दुओं से रमणीय, नव्य घटनाओं वाला तथा नूतन कथा-परम्परा वाला जो मधुवर्षी काव्य देवी सीता की अन्तःप्रेरणा से ही लिखा गया है, उस जानकीजीवन नामक महाकाव्य में राम एवं सीता के यशोगान से संयुक्त यह अन्तिम इक्कीसवाँ सर्ग अब पूर्णता को प्राप्त हुआ ।

मूलं श्रीकविकालिदासकविता श्रीहर्षवाणी तनुः
पत्रं श्रीजयदेवदेववचनं श्रीविल्हणोक्तं सुमम् ।
श्रीमत्पण्डितराजकाव्यगरिमा यस्य प्रपूतं फलं
जीव्याद्धन्त ! निसर्गजोऽयमभिराड्राजेन्द्रकाव्यद्रुमः ।।१७०।।

महाकवि कालिदास की कविता जिसकी जड़ है, श्रीहर्ष की वाणी जिसका तना है, जयदेव की कविता जिसका पत्र-समूह है, विल्हण की सदुक्तियाँ जिसका पुष्प हैं, और पंडितराज जगन्नाथ के काव्य की गरिमा ही जिसका पवित्र-फल है — अपनी ही नियति से उत्पन्न हुआ अभिराजराजेन्द्ररूपी वह काव्यद्रुम चिरजीवी बने ।

इति श्रीमद्दुर्गाप्रसादाभिराजीसूनोर्गौतमगोत्रीयभभयाख्य-
मिश्रवंशावतंसस्य त्रिवेणीकवेरभिराजराजेन्द्रस्य
कृतौ जानकीजीवनाभिधे महाकाव्ये
रामायणगानसंज्ञको विंशः सर्गः ।

पुस्तकालय
परिग्रहण सं. 23434
दि० 23.08.07
नई दिल्ली